भाट्टचिन्तामणि-तर्कपाद-विमर्श

डॉ० सोमनाथ नेने
आचार्य
स्नातकोत्तर-संस्कृत-अध्ययनशाला
विक्रमविश्वविद्यालय
उज्जैन (म० प्र०)

प्रतिभा प्रकाशन
दिल्ली

प्रथम संस्करण 2001 ई०

ISBN : 81-7702-030-7

मूल्य : रु० 600/-

प्रकाशक :

डॉ० राधेश्याम शुक्ल

एम.ए., एम.फ़िल., पी-एच.डी.

प्रतिभा प्रकाशन

(प्राच्यविद्या-प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता)

29/5, शक्तिनगर, दिल्ली-110007

दूरभाष : 7451485

अक्षर संयोजन :

क्रियेटिव ग्राफिक्स

फोन : 2195643

मुद्रक :

तरुण ऑफसेट, दिल्ली

पितृभ्यां नमः

स्मृतिशेष स्नेहमयी माता

श्रीमती मनोरमा नेने

तथा

सकल शास्त्ररत्नाकर, सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, कैलासवासी-पिता

पं० गोपालशास्त्री नेने

की

स्मृति में समर्पित

शुभाशीर्वचांसि

यो विश्रुतानपि गभीरतमान् प्रशस्यान्
विद्वज्जनाऽऽदृततमानपि वन्दनीयान्।
षड्दर्शनेषु सकलानपि सुप्रसिद्धान्
ग्रन्थान् प्रपाठयति दुर्गमबोधसारान्॥१॥

सर्वागमेषु निगमागमतत्त्वबोधे-
ष्वह्नाय बोधयति दुस्तरतर्कवादान्।
सर्वानतीव जटिलानपि शास्त्रतत्त्वा-
लोकान् प्रकाशयति सत्प्रतिपत्तिरूपान्॥२॥

यो लेखने प्रवचने पटुता-प्रगल्भ-
प्रस्तारणे विबुधधुर्यपथे प्रशस्ये।
सद्ग्रन्थगौरव-विभूषितभूतिभव्ये
यत्नं विनैव विशदीकुरुते रहस्यम्॥३॥

यो 'भाट्टचिन्तामणि'- तर्कपाद-
विमर्शमाविष्कुरुते वचोभिः
'नेने'-कुलोद्भूतमहो! तमार्यं
ध्यायेन्न कः श्रीयुतसोमनाथम्?॥४॥

गागाभट्टकृतं नितान्तजटिलं श्रीभाट्टचिन्तामणिं
दुर्बोधं विबुधावबोधनिकषं सद्ग्रन्थरत्नोत्तमम्।
श्रीमद्विज्ञवराद् गजाननगुरोः सम्यक् प्रपठ्यादरात्
सोऽयं शोधनिबन्धमद्भुततमं श्रीसोमनाथो व्यधात्॥५॥

यस्तर्कशास्त्र विशदीकृतदर्शनानां
ग्रन्थान् प्रबोधयति निस्तुषमात्मशक्त्या।
'नेने' प्रकृष्टधिषणः स च सोमनाथो
मीमांसया विकसितो जयतादुदारः॥६॥

आस्तिक्यदर्शनदुरूहतमप्रबन्धान्
योऽध्यापयञ् जयति साम्प्रतमुज्जयिन्याम्।
सच्छास्त्रदुर्गमवनेष्वथ केलिशीलो
नन्दत्वमन्दमुदितो मृगराजसोमः॥७॥

धर्मप्रबोधनविधावपसार्य लोक-
ख्यातप्रमाणमखिलं स्थिरयँश्च सद्यः।
सर्वश्रुति-स्मृतिसदाचरणात्मरागं
सन्धापयत्यतितरां सुकृतौ प्रमाणम्॥८॥

खण्डान् विभज्य चतुरो निजशोधबोध-
ग्रन्थे सुचारुतमतत्त्वरहस्य बुद्धिम्।
सम्यङ्निभालयति योऽभिमतप्रणत्तिं
प्रस्तौति सद्गुरुनिदेशविशेषलाभात्॥९॥

यः पाणिनीय-निगमस्य रहस्यभूतं
काणादगौतमनयार्चितशब्दतत्त्वम्।
श्रीजैमिनीयनयसंस्तुत-शाब्दबोधं
सम्यक् विवेचयति साधुतमप्रबन्धे॥१०॥

यो मेधयाऽनुपमया मनसोऽवधाने-
नात्यन्तकौशलमुरीकृतवान् प्रबन्धे।
सर्वांश्च दार्शनिकपण्डितधुर्यवर्यान्
आमोदयन् विजयतामिह सोमनाथः॥११॥

यं तूज्जयिन्यामपि जागरूकं वन्द्यं सुधीन्द्रैरपि चाशुतोषम्।
विद्यार्थिवृन्दैश्च सभाजनीयं श्रीसोमनाथं तमहं स्मरामि॥१२॥

विद्याप्रभाप्रमुदितामुदितां सुकीर्तिं सौभाग्यभव्यकमलाममलां कलां च।
विद्वज्जनेप्रपठतां निवहे च शश्वत् श्रद्धां तनोतु भगवान् स गजाननो वः॥१३॥

एतत्पण्डितमण्डलेऽतिमहितं सद्यः कृतं पुस्तकं,
सम्मानप्रतिपादनेन सततं प्राप्नोतु कीर्तिं पराम्।
भव्याद्भव्यतमो भवानपिजगत्यासाद्य विद्वज्जने
श्लाघ्यं संलभतामनारतमुपादेयं यशोनिर्मलम्॥१४॥

कीर्तिर्नृत्यतु दिक्षु भातु विशदा वाणी विदां संसदि,
लक्ष्मीःकण्ठमलङ्करोतु रुचिरं रत्नावलीमालया।
वाग्देवी महिमानमेधयतु ते विद्वद्भिरभ्यर्हितं।
वैदुष्यं नितरामदूष्यमनिशं नैरुज्यमुज्जृम्भताम्॥१५॥

इत्याशीः सम्मुल्लसतुतमाम्॥

राष्ट्रपति-सम्मानित
महामहोपाध्याय पं॰ गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर
पूर्व अध्यक्ष-धर्मशास्त्र एवं मीमांसा-विभाग,
संस्कृत-विद्या एवं धर्म-विज्ञान-संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

भाट्ट-चिन्तामणि शास्त्रीय-परम्परा का शिखर ग्रन्थ

व्यावहारिक दृष्टि से शब्दार्थ-सम्बन्ध के दार्शनिक पक्ष एवं प्रामाणिक अर्थावबोध में प्राचीनतम दार्शनिक प्रस्थान के रूप में पूर्व मीमांसा का असाधारण योगदान है। अर्थ-ग्रहण की तार्किक संगतियों की दृष्टि से यह एक असाधारण उपलब्धि, भारतीय चिन्तन-परम्परा की मानी जा सकती है। तर्कसङ्गति क्रमशः परवर्तीकाल में स्थापित एवं प्रयुक्त न्याय-शैली में सन्निविष्ट हो गई। अनुमान और उसकी मूल अभिप्रेरणा तार्किक प्रतिपादन-शैली के सूक्ष्म पूर्वोत्तरपक्ष-प्रयुक्त पद्धति के सामान्य रूप में पर्यवसित हो गई।

गागाभट्ट के भाट्टचिन्तामणि को इसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए। पूर्वमीमांसा के प्रसिद्ध और मान्य ग्रन्थ के रूप में भाट्टचिन्तामणि की भारतीय-दर्शन-जगत् में महत्त्वपूर्ण प्रतिष्ठा है। भाट्टचिन्तामणि का प्रतिपाद्य विषय, तार्किक प्रतिपादन-शैली, व्याकरण तथा अन्य शास्त्रों का प्रभाव, उसकी अन्यतम विशेषताएँ है। न्यायशैली के प्रयोग के प्रति जागरूकता एवं अभिरुचि इस सीमा तक भी पहुँच गई जहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि भाट्टचिन्तामणि न्याय-दर्शन के साथ पूर्वमीमांसा का क्वाचित्क सामञ्जस्य भी स्थापित कर रहा है।

डॉ० सोमनाथ नेने संस्कृत जगत् के विशेषरूप से भारतीय दर्शन-प्रस्थानों के मनीषी चिन्तक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। वे विक्रम-विश्वविद्यालय के आचार्य के रूप में कार्यरत रहते हुए अपने शोध-कार्य और शोध-दृष्टि को वर्धिष्णु बनाए हुए हैं। भाट्टचिन्तामणि के तर्कपाद के विमर्श के रूप में प्रस्तुत ग्रन्थ उनकी पी-एच्० डी० की शोधोपाधि हेतु प्रस्तुत किया गया है।

इस अध्ययन को विषय-वैशद्य की दृष्टि से डॉ० नेने ने चार खण्डों में विभाजित किया है। प्रथम खण्ड में लौकिक प्रमाणों का धर्म में अप्रामाण्य तथा

वेद, स्मृति एवं शिष्टाचार का प्रामाण्य निरूपित किया गया है। द्वितीय खण्ड में शाब्द-बोध में उपयोगी आख्यातार्थ, लिङर्थ, आदि की समालोचना की गई है। तृतीय खण्ड में पदार्थों के सम्बन्ध में गागा-भट्ट के दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। ग्रन्थ का अन्तिम चतुर्थ खण्ड, अध्ययन-विधि, ख्याति-विचार एवं वेदाऽपौरुषेयत्व, आदि प्रकीर्ण विषयों पर गागाभट्ट के दृष्टिकोण को प्रकाशित करता है।

भाट्ट-चिन्तामणि के तर्कपाद पर आधारित यह ग्रन्थ पूर्वमीमांसा शास्त्र के साथ न्याय तथा व्याकरण-शास्त्र के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों के आकलन के लिए अत्यन्त उपादेय सिद्ध होगा। इसे शास्त्रीय अध्ययन के क्षेत्र में एक मानक ग्रन्थ भी माना जा सकता है।

डॉ॰ सोमनाथ नेने इस श्रेष्ठ एवं प्रशंसनीय कार्य के लिए साधुवाद के पात्र हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि विद्वत्-समाज एवं शोधार्थियों के लिए यह अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

राष्ट्रपतिसम्मानित
डॉ॰ कृष्णकान्त चतुर्वेदी
निदेशक
कालिदास अकादेमी
उज्जैन

विस्तृत आयामों के अनुसन्धाता : आचार्य सोमनाथ नेने

दर्शन शास्त्र की विविध व्याप्तियों , विरक्तियों एवं मीमांसा-पद्धतियों के परिनिष्ठत अनुसन्धित्सा के प्रखर अधिष्ठान तथा सौम्य एवं सुशील युवा पण्डित के रूप में डॉ० सोमनाथ नेने को मैं प्रायः पञ्चदश वर्षों से जानता-पहचानता रहा हूँ। मीमांसा-दर्शन के विशेषज्ञ होते हुए वे सभी भारतीय दर्शनों में तुलनात्मक दृष्टि रखते हैं। अनेक बार उनसे मैने भी कुछ सीखा है। एक बार मैंने उनसे कुमारिलभट्ट के श्लोकवार्तिक पर चर्चा की तो पाया कि डॉ० नेने में विषय की गहराई में प्रवेश की अद्भुत क्षमता है। उन्होंने स्पष्ट किया कि न्याय में चैतन्य (ज्ञान) को क्षणिक तथा मीमांसा में (नित्य ज्ञानात्मिक शक्ति की दृष्टि से) नित्य माना जाता है परन्तु दोनों ही दर्शन चैतन्य (ज्ञान) को गुण मानते हैं, जो आत्मा में रहता है। निश्चय ही दोनों की दृष्टि में गुणी द्रव्यरूप आत्मा स्वरूपतः जड़ है अन्यथा चैतन्य को आत्मगुण और आत्मा को उसका समवायी कैसे कहा जाएगा? सुनकर मैं चकित रह गया। उत्तरमीमांसा (वेदान्त) से पूर्वमीमांसा में तत्त्वचिन्तनगत अन्तर उन के मुँह से सुना जो तब ३८ वर्ष के रहे होंगे जो अब ४५ के प्रौढ युवा हैं।

देश में, विशेषतः मध्यप्रदेश में दार्शनिक एवं शास्त्रीय जिज्ञासा न्यून होती गई है। ऐसी स्थिति में एक विद्वान् शास्त्रज्ञ का प्रत्यभिज्ञान लुप्त सा जान पड़ता है। अतएव आश्चर्य होना स्वाभाविक है कि आचार्य नेने में उस जिज्ञासा का नवोदय कैसे हुआ, सामान्य एम० ए०, पी-एच० डी० आख्याताओं से भिन्न एवं परिष्कार-निपुण अध्ययन-रुचि के जागरण का मूल कहाँ और क्या हो सकता है? मेरी दृष्टि में महाराष्ट्र-पाण्डित्य-परम्परा के साथ काशी का महनीय विपश्चित्सम्प्रदाय ही इस अभिजात अभ्युदय का कारण है। डॉ० सोमनाथ नेने के पिता आचार्य गोपाल शास्त्री नेने प्रवीण वैयाकरण थे। वे गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज (जो अब सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय है) के सुविख्यात व्याकरणाध्यापक थे। यह पैतृक विभूति, आनुवंशिक संस्कारों के साथ, सोमनाथ को प्राप्त हुई और साथ आधुनिक शिक्षापद्धति पर चलने, चलाने का सुयोग मिलता गया। यही पुरातन तथा अधुनातन ज्ञान-विज्ञान का मणिकाञ्चन योग यहाँ देखा जा रहा है।

मध्यप्रदेश और वाराणसी के बाहर उत्तर प्रदेश में भी दार्शनिक प्रख्याओं

की नितान्त कमी है; यदि कहीं है भी तो किसी एक दर्शनशास्त्र या शास्त्रशाखा में किसी की गति पायी जा सकती है। डॉ॰ सोमनाथ नेने की प्रवृत्ति सभी भारतीय दर्शनों की प्रज्ञा प्राप्त करने में प्रमोद पाती है। इसकी प्रवर्तना का उत्स उन्हीं में कहीं निगूढ है। वे मीमांसा की चर्चा में अन्य दर्शनों का सौरभ मिलाते चलते हैं; यों वे मीमांसा-मनीषी हैं ही। मैंने कहते सुना है कि डॉ॰ नेने को जब लिखने-बोलने के लिए विषय दिया जाता है तब वे शास्त्रीय वैविध्य की गवेषणा में अविश्रम श्रम करने लगते हैं। मेरा अनुभव भी है—मैंने उन्हें कालिदासीय काव्य में मीमांसा-दर्शन के परिशीलन हेतु निवेदन किया था। मैं चकित रह गया जब पाया कि नेने जी ने कवि की भाषा-शैली एवं शब्दयोजना में मीमांसा के तत्त्व खोजे और प्रस्तुत किये।

मीमांसा-दर्शन में कुमारिल भट्ट का नाम प्रथम स्थान पर है। उसी प्रस्थान में विश्वेश्वर भट्ट (गागाभट्ट) प्रायः अन्तिम विचारक के रूप में प्रख्यात हैं। उन की कृति 'भाट्टचिन्तामणि' नाम से प्रसिद्ध है। गागाभट्ट ने अपने ग्रन्थ में स्वकीयता एवं नव्य उपस्थापना का परिचय देते हुए मीमांसा-दर्शन पर अपनी अधिकारशीलता का परिचय देना चाहा है, अतएव उन्हें अनुसन्धेय बनाना कठिन कार्य था जिसे अपनाकर डॉ॰ नेने ने अपनी निश्चयशीलता तथा प्रखर अनुसन्धित्सा का परिचय दिया है। 'भारतीय-दर्शन-बृहत्कोश' का संकलन एवं समाकलन करते हुए मैंने गागाभट्ट की प्रवीणता का परिचय पाया था, अतः कह सकता हूँ कि डॉ॰ नेने ने इस युग में उन के ग्रन्थ का अनुशीलन करके अपनी श्रमवती प्रतिभा का परिचय दिया है। यह कार्य उत्साहपूर्ण सौम्य साहस का ही था जिसे 'सोम न उठा पाता, अत एव 'सोमनाथ' की प्रतिभा का इस में उपयोग हुआ।

मीमांसा-सम्मत प्रमाण-प्रमेय-विचारणा के साथ सभी दर्शनों की शाब्दबोध प्रक्रिया को पुरस्कृत करना बड़ा कार्य था। इसे हिन्दी माध्यम से उपस्थापित करके डॉ॰ नेने को अपेक्षित रहा है कि हिन्दी को भारतीय दर्शनों की भाषा का रूप दिया जाए। हिन्दी अंग्रेजी की सहेली बन चुकी है, फिर भी उसे संस्कृत-निष्ठा के अङ्क से बाह्य न होना चाहिए, यह सन्देश भी इस ग्रन्थ से मिलता है। संस्कृत की पारिभाषिक शब्दावली का हिन्दी में समावेश आवश्यक है जिसे ग्रन्थ द्वारा पूरा किया गया है।

''भाट्टचिन्तामणि-तर्कपाद-विमर्श'' शीर्षक ही बताता है कि शास्त्रचिन्तन को आगे बढ़ाना ग्रन्थकर्ता का लक्ष्य रहा है और इसमें पूर्ण सफलता मिली है। डॉ॰ नेने से आशा की जाती है कि प्रबुद्ध शास्त्रों को इस ओर प्रेरित कर शास्त्रचिन्तन की भूमि को उर्वर करें। समस्त शुभाशंसाओं के साथ—

नदास अकादेमी
उज्जैन)

डॉ॰ बच्चूलाल अवस्थी 'ज्ञान'
राष्ट्रपति-सम्मान से सम्मानित
साहित्य अकादमी-सम्मान से सम्मानित

पुरोवाक्

भारतीय चिन्तन की परिधि में वैदिक कर्मकाण्ड की वैज्ञानिक व्याख्या के साथ वाक्यार्थ-विज्ञान के रूप प्रसिद्ध मीमांसाशास्त्र का अपना अन्यतम महत्त्व है। जिस प्रकार व्याकरणशास्त्र ने पद-विज्ञान की महत्ता को स्थापित किया है तथा न्यायशास्त्र ने प्रमाणों द्वारा अर्थ-परीक्षण की विधा प्रकाशित कर अपनी सार्वभौम योग्यता प्रकाशित की है, उसी प्रकार वैदिक वाक्यों के कर्मपरक विश्लेषण में मीमांसाशास्त्र का भी अभूतपूर्व योगदान रहा है। इसीलिए इन तीनों शास्त्रों के तलस्पर्शी विद्वान् को पदवाक्यप्रमाणज्ञ कहने की परम्परा रही है। इन तीनों शास्त्रों ने अपनी स्वतन्त्र महत्ता को तो प्रकाशित किया ही है, साथ ही प्रतिपादन के क्षेत्र में एक दूसरे की विधा में समन्वयात्मक दृष्टि भी प्रदान की है। न्यायशास्त्र में आचार्य गङ्गेश उपाध्याय के तत्त्वचिन्तामणि की रचना के पश्चात् १८वीं शताब्दी तक प्रतिपादन के क्षेत्र में सर्वत्र नव्य-न्याय की शैली का ही प्रामुख्य दृष्टिगोचर हो रहा है। सत्रहवीं शताब्दी के मध्यकाल में प्रतिष्ठित विश्वेश्वर भट्ट) द्वारा विरचित भाट्टचिन्तामणि के तर्कपाद में इन तीनों शास्त्रों के वैशिष्ट्य की अलौकिक त्रिवेणी प्रवाहित हुई है।

मीमांसा की वाक्यार्थनिष्पादन-प्रणाली की विशेषता तथा नव्यन्याय की परिष्कृत भाषाशैली के साथ व्याकरणशास्त्र की शाब्दबोध-प्रणाली के वैशिष्ट्य के प्रति समान रूप से विद्यमान अभिरुचि तथा आदरभाव ही इन शास्त्रों की विशेषताओं से समन्वित इस भाट्टचिन्तामणि के तर्कपाद के अनुसन्धान में मेरी प्रवृत्ति की उत्पादिका प्रेरणा या प्रवर्तना है।

इस समालोचनात्मक ग्रन्थ के आधारभूत ग्रन्थ भाट्टचिन्तामणि के तर्कपाद की भाषा-सम्बन्धी दुरूहता एवं प्रमेयों की गुत्थियों को सुलझाने में मुझे काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय, वाराणसी के मीमांसा एवं धर्मशास्त्र-विभाग के पूर्व अध्यक्ष, राष्ट्रपति-सम्मान से प्रतिष्ठित, निखिलशास्त्रवारिधि, गुरुवर्य महामहोपाध्याय डॉ० गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर (वैद्य) महोदय की विशेष कृपा प्राप्त हुई है। आपकी कृपा के कारण ही इस ग्रन्थ की दुर्गम पङ्क्तियों के अर्थावबोधान में मुझे सफलता मिल पाई है। आज इस ग्रन्थ के प्रकाशन के

अवसर पर मैं उनके प्रति सश्रद्ध अन्तःकरण से कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। इसी प्रकार जिनके कुशल निर्देशन में मैं इस ग्रन्थ के आधारभूत शोधप्रबन्ध का निर्माण कर सका, उन स्मृतिशेष, आदरणीय डॉ॰ कृष्णनाथ चट्टोपाध्याय, महोदय के प्रति भी मैं अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

महामना मालवीय जी के पुरुषार्थ की पुण्यभूमि–काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के श्रेष्ठ गुरुजनों से अध्ययन के अवसर को मैं अपने जीवन का सर्वश्रेष्ठ सौभाग्य मानता हूँ। न केवल मेरे शोधकार्य में अपितु आज तक जिनकी कृपादृष्टि मेरे प्रति बनी हुई है उन श्रेष्ठ गुरुजनों–डॉ॰ वीरेन्द्रकुमार वर्मा, डॉ॰ विश्वनाथ भट्टाचार्य, डॉ॰ श्रीनारायण मिश्र, डॉ॰ कमलाप्रसाद सिंह, डॉ॰ जयशङ्कर-लाल त्रिपाठी, डॉ॰ रामायणप्रसाद द्विवेदी, डॉ॰ सुदर्शनलाल जैन, डॉ॰ सुधाकर मालवीय तथा अन्य समस्त गुरुजनों का स्मरण आज भी मेरे उत्साह को द्विगुणित कर रहा है।

ग्रन्थ-प्रकाशन की इस वेला में मैं भगवान् आशुतोष महाकाल की नगरी उज्जयिनी में स्थित विक्रम विश्वविद्यालय की संस्कृत अध्ययनशाला के तत्कालीन आचार्य एवं अध्यक्ष, पद्मश्री आचार्य वेङ्कटाचलम् महोदय, राष्ट्रपतिसम्मान-विभूषित आचार्य कृष्णशास्त्री कानिटकर, राष्ट्रपतिसम्मान-विभूषित आचार्य श्रीनिवास रथ, हिन्दी अध्ययनशाला के पूर्व आचार्य, राष्ट्रीय शिक्षक, डॉ॰ राममूर्ति त्रिपाठी जी तथा राष्ट्रपति सम्मान से विभूषित कालिदास अकादमी के आचार्यकुल के आचार्य, प्रण्डितप्रवर डॉ॰ बच्चूलाल अवस्थी जी का भी कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करता हूँ। इन महानुभावों का मुझे सतत मार्गदर्शन तथा प्रोत्साहन मिलता रहा है। कालिदास अकादमी के वर्तमान निदेशक तथा रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर के संस्कृत-विभाग के पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष डॉ॰ कृष्णकान्त चतुर्वेदी जी तथा डॉ॰ हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष डॉ॰ राधावल्लभ त्रिपाठी जी का भी कृतज्ञतापूर्वक मैं नामोल्लेख करना चाहता हूँ। मेरे कार्यस्थल से अत्यन्त दूर रहते हुए भी सन् १९८२ से ही आप दोनों शिक्षा के क्षेत्र में मेरा उत्साहवर्धन करते रहे हैं। मेरे कार्यस्थल उज्जयिनी के विक्रम विश्वविद्यालय की संस्कृत अध्ययनशाला में मेरे सहयेगी तथा अभिन्न मित्र उपाचार्य डॉ॰ विन्ध्येश्वरीप्रसाद मिश्र तथा प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग मे उपाचार्य डॉ॰ श्री सीताराम दुबे जी के प्रयासों से ही यह ग्रन्थ प्रकाशोन्मुख हो सका है। इनके साथ अपने अनुजकल्प मित्र रिष्ठ प्राध्यापक डॉ॰ मुरलीमनोहर पाठक का नाम भी उल्लेखनीय समझता हूँ। न महानुभावों के साथ संस्कृत अध्ययनशाला के अन्य सभी आदरणीय

शिक्षक-मित्रों का मुझे उत्साहवर्द्धक सहयोग मिलता रहा है। इस ग्रन्थ के आधारभूत ग्रन्थ– भाट्टचिन्तामणि–तर्कपाद का अनुसन्धान मैं अपने आदरणीय अग्रजों–श्री मधुकर नेने, श्री शङ्कर नेने तथा स्मृतिशेष श्री प्रभाकर नेने के साथ मेरी दीदी श्रीमती अचला कान्हेरे (व्याकरणाचार्य) के उत्साहवर्धक सहयोग से ही कर सका हूँ। इसी प्रकार मेरे जीजाजी, भारतीय तथा पाश्चात्य उभयविध-विज्ञान–शास्त्र–विशारद डॉ० नारायण गोपाल डोंगरे जी का परामर्श भी मिलता रहा है। प्रकाश्य ग्रन्थ के प्रकाशन में आवश्यक अनेक कार्यों में सहधर्मिणी श्रीमती श्रद्धा नेने तथा आत्मज चि० सुबोध नेने का भी सहयोग मिला है। अपने पारिवारिक सम्बन्धियों-सहित जिनका भी मुझे इस ग्रन्थ के अनुसन्धान से लेकर प्रकाशन कार्य तक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहाय्य प्राप्त हुआ है उन सभी के अभ्युदय तथा निःश्रेयस् के लिए भगवान् महाकाल के चरणों में प्रार्थना करता हूँ। इस ग्रन्थ की प्रकाशन-वेला में जिनके नाम एवं यश ने मुझे निरन्तर उत्साहवर्धक प्रेरणा प्रदान की है, उन निखिल-शास्त्र-रत्नाकर, पण्डित **गोपाल शास्त्री नेने** इस नाम से विख्यात, पुण्यशेष, प्रातः स्मरणीय पितृचरणों के साथ ही स्वर्गीया स्नेहमयी माता **श्रीमती मनोरमा नेने** का मैं श्रद्धापूर्वक स्मरण करता हूँ।

किसी भी ग्रन्थ के प्रकाशन में अपरिहार्य कारणों में प्रकाशक का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हुआ करता है। यह ग्रन्थ भी भारत की राजधानी दिल्ली में स्थित प्रतिभा-प्रकाशन के प्रतिभाशाली सञ्चालक डॉ० राधेश्याम शुक्ल जी की तत्परता से ही प्रकाशित हो रहा है। इसके प्रकाशन में श्री शुक्लजी ने जो कष्ट उठाएँ हैं, इसके लिए मैं इन्हें साधुवाद देता हूँ तथा इनके अभ्युदय की कामना करता हूँ।

पारिवारिक जनों, मित्रों तथा सभी महानुभावों के माध्यम से जिनकी अहेतुकी कृपा ही समस्त प्राणियों के अभ्युदय का एकमात्र कारण है, उन करुणावरुणालय, भूतभावन, महेश्वर के श्रीचरणों की वन्दना के साथ इस आत्मनिवेदन को पूर्ण मानता हूँ।

निवेदक

सोमनाथ नेने

आचार्य
संस्कृत-अध्ययनशाला,
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जयिनी
विक्रम संवत् २०५७

विषयानुक्रमणिका

तृतीय खण्ड

पदार्थ-विचार २२०-२६९

चतुर्थ खण्ड

उपक्रम

भारतीय चिन्तन की आस्तिक शाखाओं ने अपने समग्र चिन्तन का प्रामाण्य वेद में खोजकर नितान्त गौरव का अनुभव किया है। इन आस्तिक विचार धाराओं में भी मीमांसा तथा वेदान्त का समग्र चिन्तन साक्षाद् रूप से वेद की अर्थनिष्पत्ति पर अवलम्बित है। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद[1] के समग्र अर्थ का ज्ञान मात्र में समावेश जहाँ वेदान्त का लक्ष्य है वहीं जैमिनि का स्पष्ट कथन है कि "समग्र वेद क्रिया (कर्म काण्ड) का उपदेश देता है अत एव यदि वेद में ऐसे अंश, जिनका कर्म के साथ सम्बन्ध नहीं है वे अर्थहीन हैं अतः अनित्य हैं।[2] वेद के समग्र वाक्यों का किसी न किसी कर्म में समन्वय तथा उनकी अर्थनिष्पत्ति में प्रतीत होने वाली असङ्गति का परिहार ही सम्पूर्ण मीमांसा का प्रयोजन है। समग्र वेदार्थ को कर्म के रूप में स्थापित करने के उद्देश्य से ही वेद को विधि, अर्थवाद, मन्त्र तथा नामधेय, इन चार प्रमुख भागों में विभक्त कर उनका विस्तृत विवेचन किया गया है।

महार्षि जैमिनि ने धर्म के रूप में प्रतिपादित कर्मात्मक वेदार्थ की पूर्ण निष्पत्ति के उद्देश्य से अपने सूत्र ग्रन्थ को बारह अध्यायों में विभक्त कर उनमें से प्रथम में धर्म, द्वितीय में धर्मभेद, तृतीय में अङ्गाङ्गि-भाव, चतुर्थ में यागकर्ता के गुण, पञ्चम में क्रम, षष्ठ में अधिकार, सप्तम तथा अष्टम में क्रमशः सामान्य तथा विशेषातिदेश, नवम में ऊह, दशम में बाध, एकादश में तन्त्र तथा द्वादश अध्याय में प्रसङ्ग का निरूपण कर 'कर्म के रूप में समग्र वेदार्थ को प्रतिपादित किया है।

मीमांसा शब्दार्थ-विचार

वार्तिककार कात्यायन के अनुसार 'जिज्ञासार्थक 'मान' धातु[3] से

---

१. 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' आप० परि० १,३३

२. आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् तस्मादनित्यमुच्यते जैमिनि सूत्र १, २, १

३. मानेर्जिज्ञासायाम् वार्त्तिक ३, १, ६

'मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य'[१] इस सूत्र से सन् प्रत्यय करने के पश्चात् अभ्यास-विकरण इकार का दीर्घत्व होने पर 'सनाद्यन्ता धातवः'[२] इस सूत्र से पुनः धातु संज्ञा करने के अनन्तर 'अप्रत्ययात्'[३] इस सूत्र से स्त्रीत्व की विवक्षा में स्त्रीलिङ्गबोधक 'अ' प्रत्यय तथा 'टाप्' प्रत्यय करने पर मीमांसा-शब्द निष्पन्न होता है।

उक्त जिज्ञासा अर्थ में 'मान' धातु से यद्यपि 'सन्' प्रत्यय का विधान किया गया है, तथापि अर्थनिर्णय में सन्देह होने पर ही जिज्ञासा की प्रवृत्ति होती है, इसलिए यह अर्थनिर्णय बिना विचार किए नहीं हो सकता अतः लक्षणा-वृत्ति के आश्रय से जिज्ञासार्थक 'मान्' धातु का विचार रूप अर्थ निष्पन्न होता है। इस प्रकार शब्द की निर्वचन-पद्धति के अुनसार मीमांसा शब्द का विचार अर्थ परम्परा में पहले से ही स्वीकृत रहा है। इस मान धातु का भ्वादि में पूजा तथा चुरादि में जिज्ञासा रूप विचार, इन दोनों अर्थों में प्रयोग हुआ है अतः पूजार्थक 'मान्' धातु से विचारार्थक 'सन्' प्रत्यय द्वारा मीमांसा-शब्द की निष्पति मानने वाले आचार्यों के मतानुसार मीमांसा-शब्द का अर्थ केवल विचार न होकर पूजित विचार है।[४] वही विचार पूजित समझा जाता है जिसके द्वारा परम पुरुषार्थ[५] स्वर्गनिष्पति में कारण-स्वरूप अर्थ (धर्म) का निर्णयरूप फल प्राप्त हो अतः मीमांसा-दर्शन धर्म-प्रधान विचार-शास्त्र है। यह तथ्य फलित होता है।

मीमांसा-दर्शन के प्रधान प्रतिपाद्य विषय धर्म का केवल वैदिक वाक्यों द्वारा साक्षात् प्रतिपादन होता है। इन वैदिक वाक्यों का सम्पूर्ण रूप से विश्लेषण करने पर ही धर्म का निर्णय हो पाता है अतः विश्लेषणात्मक पद्धति से वैदिक वाक्यों के धर्मरूप अर्थ के निर्णायक इस शास्त्र को 'वाक्यशास्त्र' की भी संज्ञा

---

१. पा० सू० ३,१,६

२. वही ३, १, ३२

३. वही ३, ३, १०३

४. पूजित- विचार-वचनोऽहि मीमांसा शब्दः। —उम्बेकविरचित तात्पर्य-टीका १।१।१

५. अर्वाचीन मीमांसक परमपुरुषार्थ मोक्ष-प्राप्ति को मानते है। "तस्मात्सिद्धं नित्यसुखाभिव्यक्ति मुक्तिरिति।" श्री कमलाकर भट्ट-विरचित मीमांसाकुतूहल पृ० ३७, मीमांसक शिरोमणि श्री पट्टाभिरामशास्त्री द्वारा श्लोकवार्त्तिक की भूमिका में उद्धृत, श्लोकवार्तिक-भूमिका, पृ० ९। भारतीय विद्या प्रकाशन १९७९

दी गई है साथ ही अनके युक्तियों एवं तर्कों द्वारा इस शास्त्र से वैदिक वाक्यों का अर्थ-निर्णय होने के कारण इसे 'न्याय' एवं 'तर्क' शब्द से भी अभिहित किया गया है, परन्तु अर्थ-निर्णय करना ही इस शास्त्र का प्रधान कार्य होने के कारण प्रधानत: इसे वाक्यार्थ-शास्त्र या विचार-शास्त्र ही माना गया है।

मीमांसा-दर्शन का प्रतिपाद्य-विषय

सूत्रकार जैमिनि ने अपने बारह अध्यायों में विभक्त मीमांसा-दर्शन में अथाऽतोधर्मजिज्ञासा'[1] इस प्रथम सूत्र द्वारा धर्मविषयक-जिज्ञासा (विचार) को उपस्थापित कर सर्वत्र प्रधानरूप से धर्म-तत्व पर विचार किया है अत: इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म ही मीमांसा-दर्शन का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। इस धर्मके लक्षण तथा प्रमाण आदि के विशद विवेचन द्वारा यागादि क्रियारूप धर्म का परिज्ञान कराना ही मीमांसा-दर्शन का प्रधान लक्ष्य है।

इस धर्म का ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि तथा शब्द, इन छह प्रमाणों में साक्षात् रूप से केवल वेदरूप अलौकिक शब्द प्रमाण द्वारा ही मान्य है। इस वेदरूप प्रमाण को सर्वविध दोषों से मुक्त सिद्ध करने के उद्देश्य से ही मीमांसा-दर्शन में वेद को अपौरुषेय माना गया है। वेद शब्द रूप है, अत: धर्म-प्रमाण के रूप में इसका त्रिकालाबाधित अस्तित्व अक्षुण्ण रखने के लिए ही मीमांसकों ने नैयायिकों के विपरीत शब्द को नित्य द्रव्य माना है। इस प्रकार मीमांसा-दर्शन के सभी सिद्धान्त धर्म एवं उसके बोधक वेदरूप धर्म-प्रमाण के प्रामाण्य-सिद्धि में ही पर्यवसित होते हैं इसीलिए धर्म-निरूपण ही इस दर्शन का प्रयोजन है "धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसाया: प्रयोजनम्"[2] कुमारिल भट्ट की यह उक्ति भी इसी तथ्य को प्रमाणित करती है।

मीमांसा-दर्शन का संक्षिप्त इतिहास

१. सूत्रकार जैमिनि

जैमिनि-सूत्रों में आत्रेय,[3] ऐतिशायन,[4] कार्ष्णाजिनि[5] आदि अनेक नामों के उल्लेख से यद्यपि इन ऋषि-महर्षियों की विचार-धारा के रूप में जैमिनि के

---

१. जैमिनि सूत्र १।१।१

२. 'श्लोकवार्तिक प्रतिज्ञा सूत्र १।१।१ प्रथम वार्त्तिक

३. फलमात्रेयो निदेशात् ४।३।१८।

४. लिङ्गविशेषेण निदेशात् पुंयुक्तमैतिशायन: ६।१।६

५. व्रतौ फलार्थवादभङ्गवत् कार्ष्णाजिनि: ४।३।१७

पूर्ववर्ती काल में भी मीमांसा-दर्शन का अस्तित्व निर्विवाद रूप में सिद्ध हो जाता है, तथापि यत्र तत्र विशृङ्खलित इस विचारधारा को सूत्र-शैली में बारह अध्यायों में सङ्कलित कर एक दर्शन के रूप में उपस्थापित करने का श्रेय आचार्य जैमिनि को ही प्राप्त होता है अतः जैमिनि को हम मीमांसा-दर्शन के आद्य आचार्य के रूप में भी स्वीकार कर सकते हैं। सूत्र-शैली में निबद्ध जैमिनि का मीमांसा-दर्शन बारह अध्यायों में तथा प्रत्येक अध्याय चार पादों में विभक्त है। इसके अतिरिक्त सङ्कर्षण-काण्ड के चार अध्याय भी जैमिनि-द्वारा विरचित हैं, तथापि इन चारों अध्यायों का अध्ययन-अध्यापन में प्रचलन न होने के कारण मीमांसा को द्वादशलक्षणी ही माना जाता है।

सूत्रकार जैमिनि के काल-निर्धारण के सन्दर्भ में विद्वानों में परस्पर अत्यधिक मतभेद है। विभिन्न विद्वानों के मत-मतान्तरों के आधार पर इनका काल ४०० ई॰पू॰ से २०० ई॰ पू॰ के मध्य परिव्याप्त होता है अतः इनके विषय में इदमित्थं रूप में कुछ भी कह पाना नितान्त असम्भव है।

२. शबरस्वामी

शबर स्वामी के पूर्व, सूत्रकार जैमिनि ने मीमांसा-दर्शन को एक सुव्यवस्थित स्थिर रूप प्रदान कर दिया था, लेकिन शबर स्वामी के उदय-काल तक अनेक सम्प्रदायों ने वैदिक कर्मकाण्ड एवं उससे सम्बद्ध विचारधारा पर आक्षेप करने प्रारम्भ कर दिये, जिनके निराकरणार्थ शबर स्वामी को प्रस्तुत होना पड़ा। फलतः शबर स्वामी के पूर्वकाल तक याज्ञिक विधि-विधानों के निर्णय तक सीमित मीमांसा को इनके द्वारा एक दार्शनिक विचार शैली प्राप्त हुई। कर्मानुष्ठान में जन-सामान्य की प्रवृत्ति होसके इस हेतु 'फल', 'साधन' तथा 'इतिकर्त्तव्यता' रूप भावना का सर्वप्रथम इन्होंने ही मीमांसा-दर्शन में समावेश किया, जिसे कुमारिल तथा उनके मतानुयायियों ने शताब्दियों तक अपने विचार एवं युक्तियों से विकसति एवं परिमार्जित किया है।

मीमांसा-सूत्रों पर आज प्राप्य समस्त व्याख्याओं में मौलिक शबरस्वामी का 'शाबर-भाष्य' है। यह भाष्य बहुत ही सुन्दर, सरल तथा स्वाभाविक भाषा-शैली में निबद्ध है। जैमिनि-सूत्रों के गम्भीर भावों को इन्होंने अपनी ाडम्बरहीन, व्यावहारिक, मुहावरेदार, सरस तथा प्रवाहपूर्ण भाषा के माध्यम से पादित किया है।

भाष्याकार शबर स्वामी के काल तथा इनके वैयक्तिक जीवन के विषय में इदमित्थं रूप से कुछ भी कह पाना नितान्त कठिन है। एक किंवदन्ती के अनुसार इनका वास्तविक नाम आदित्यदेव है। जैन उपद्रवोंके भय से बचने के लिए इन्होंने शबरों जैसा आरण्यक वेष धारण कर लिया था सम्भवतः इसीलिए इनका नाम 'शबर-स्वामी' पड़ गया।

३. मतत्रयी

शबर स्वामी के पश्चात् मीमांसा-दर्शन की विचारधारा तीन परस्पर भिन्न भागों में विभक्त होकर विकसित होती गई। इन तीन विचार-धाराओं में कुमारिल भट्ट के नाम पर प्रसिद्ध 'भाट्ट-परम्परा' तथा गुरु प्रभाकर के नाम से प्रसिद्ध 'गुरु-परम्परा', ये दोनों विचारधाराएं अनेक अनुयायी आचार्यों के वैदुष्य से परिमार्जित होती हुई अत्यधिक विकास को प्राप्त हुईं, परन्तु मुरारि मिश्र के नाम पर प्रसिद्ध तृतीय विचारधारा का केवल नाम ही उपलब्ध होता है। इन तीनों विचार-सरिताओं के प्रवर्तक, कुमारिल भट्ट, गुरु प्रभाकर तथा मुरारि मिश्र, ये तीनों मीमांसा-दर्शन के तीन दृढ़ आधार-स्तम्भ माने जाते हैं।

४. कुमारिल भट्ट

शबर स्वामी के पश्चात् होने वाले मीमांसकों में कुमारिल भट्ट का एक विशिष्ट स्थान है। शबर स्वामीके भाष्य को अपने साहित्य का आधारभूत ग्रन्थ बनाकर इसके मूल सिद्धान्तों को कुमारिल भट्ट ने अपने दृष्टिकोण से व्यापक रूप में प्रकाशित किया है। कुमारिल भट्ट के समय तक प्रायः पूरे भारतवर्ष पर बौद्ध दार्शनिकों ने आधिपत्य कर लिया था। इस भीषण धार्मिक-विप्लव के समय भारतवर्ष से बौद्धों को परास्त करने का दुस्साध्य कार्य आचार्य कुमारिल को ही करना पड़ा। बौद्धों की प्रबल युक्तियों का प्रामाणिक खण्डन कर वैदिक धर्म की सुदृढ़ स्थापना का श्रेय आचार्य कुमारिल को ही है। कुमारिल भट्ट की दार्शनिक विवेचनात्मक पद्धति मीमांसा-दर्शन की भाट्ट-परम्परा के नाम से एक स्वतंत्र विचारधारा के रूप में प्रकट हुई, जिसे अनेक धुरन्धर विद्वानों ने शताब्दियों तक अपने विचारों से परिमार्जित किया।

आचार्य कुमारिल भट्ट ने **शाबर-भाष्य** की **'श्लोकवार्त्तिक'**, **'तंत्र-वार्त्तिक'** तथा **'टुप्टीका'** इन तीन भागों में मौलिक व्याख्या की है। इनमें श्लोकवार्त्तिक शाबर भाष्य के प्रथम अध्याय के प्रथम (तर्क) पाद की व्याख्या है। ३०९९ अनुष्टुप्-छन्दों का यह विशाल ग्रन्थ श्लोकों द्वारा निर्मित होने के कारण ही श्लोकवार्तिक कहा जाता है। प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद से लेकर तृतीय

अध्याय के तृतीय पाद के अन्त तक गद्य-पद्यमिश्रित व्याख्या तंत्र-वार्त्तिक है। चतुर्थ अध्याय से बारहवें अध्याय की समाप्ति तक की शाबर-भाष्य की संक्षिप्त गद्यात्मिका व्याख्या टुप्टीका के नाम से प्रसिद्ध है। इन तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त 'बृहट्टीका' एवं 'मध्यटीका' ये दोनों ग्रन्थ भी इन्हीं के द्वारा विरचित माने जाते हैं।

५. गुरु प्रभाकर

कुमारिल भट्ट के ही समान गुरु प्रभाकर का नाम भी मीमांसा-दर्शन के विकासक्रम में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने शाबर-भाष्य पर व्याख्या करते हुए अपने स्वतंत्र मौलिक सिद्धान्त स्थापित किए। फलतः इनके नाम पर 'प्रभाकर' या 'गुरु परम्परा' नाम से एक स्वतंत्र सम्प्रदाय ही प्रचलित हो गया। इनके सिद्धान्त अनेक स्थानों पर कुमारिल भट्ट के सिद्धान्तों के विपरीत है। म. म. डा० गंगानाथ झा ने इन्हें कुमारिल के पूर्व माना है। इसके विपरीत म० म० कुप्पुस्वामी शास्त्री इन्हें कुमारिल के समकालीन मानते हैं। श्रुति-परम्परा के अनुसार इन्हें कुमारिल का शिष्य भी माना जाता है, परन्तु इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कह पाना कठिन है।

प्रभाकर की रचनाएँ

प्रभाकर ने शाबर भाष्य पर '**लघ्वी**' तथा '**बृहती**' नामक दो टीकाएं लिखी हैं। इनमें **लघ्वी** टीका '**विवरण**' नाम से तथा **बृहती** टीका '**निबन्धन**' नाम से भी प्रसिद्ध है। लघ्वी टीका में प्रभाकर ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। बृहती अपने नाम के अनुरूप अत्यन्त विस्तृत है। इसमें प्रभाकर ने वार्त्तिकार कुमारिल भट्ट के सिद्धान्तों का यत्र तत्र खण्डन किया है। प्रभाकर-परम्परा के मीमांसक शालिकनाथ मिश्र ने इन दोनों टीकाओं पर क्रमशः 'दीपशिखा' एवं 'ऋजुविमला' नाम की प्रामाणिक व्याख्याएं उपन्यस्त की हैं।

६. कुमारिल एवं प्रभाकर के मौलिक सैद्धान्तिक भेद

यद्यपि कुमारिल तथा प्रभाकर दोनों ने वेद-प्रामाण्य को ही प्रमुख सिद्धान्त माना है, तथापि दोनों के सिद्धान्तों में अनेक स्थलों में मौलिक अन्तर परिलक्षित होता है।

प्रभाकर के मत में केवल वैदिक शब्द ही प्रमाण माने गए हैं, परन्तु कुमारिल भट्ट ने वैदिक शब्दों के साथ ही शास्त्रीय लौकिक शब्दों को भी माण कोटि में स्थान दिया है।

वाक्य द्वारा अर्थबोध होने की प्रक्रिया में भी दोनों में अन्तर है। प्रभाकर के मतानुसार वाक्यनिष्ठ पद अपने उद्देश्य तथा सम्बन्ध से अन्वित होते हुए क्रियान्वित होकर ही वाक्यार्थ को प्रकट करते हैं। प्रभाकर का यह सिद्धान्त 'अन्विताभिधानवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। प्रभाकर के विपरीत कुमारिल का कहना है कि पद केवल अपने अर्थ का ही अभिधान करते हैं। पश्चात् इन पदार्थों से लक्षणा द्वारा वाक्यार्थ का बोध होता है। कुमारिल का यह सिद्धान्त 'अभिहितान्वयवाद' है।

'अभाव' पदार्थ के विषय में भी दोनों में मतभेद है। कुमारिल 'अभाव' को पृथक् पदार्थ मानकर अनुपलब्धि-प्रमाण से इसका ग्रहण करते हैं, जबकि प्रभाकर इसे पृथक् पदार्थ न मानकर अधिकरण-स्वरूप मानते हैं अत: इसके निमित्त उन्हें अनुपलब्धि नामक प्रमाण मानने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। इसलिए प्रभाकर को प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द तथा अर्थापति, ये पाँच ही प्रमाण मान्य हैं। कुमारिल भट्ट ने अनुपलब्धि-प्रमाण भी माना है। इनके मत में प्रमाण छह हैं। इस प्रकार प्रमाणों की संख्या को लेकर भी दोनों में मतभेद हो जाता है।

इसी प्रकार जहाँ कुमारिल पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन, शब्द तथा तमस्, ग्यारह द्रव्य मानते हैं, वहाँ प्रभाकर ने श[illegible] को आकाश का गुण तथा अन्धकार को तेज का अभाव मानते हुए पृथिवी [illegible] लेकर मन तक केवल नौ द्रव्य माने हैं।

इसी तरह 'ख्याति' के विषय में भी दोनों के विचारों में परस्पर अन्तर है। कुमारिल तथा उनके अनुयायी नैयायिकों द्वारा सम्मत 'अन्यथाख्याति' को ही 'विपरीत ख्याति' के रूप में मानते हैं, परन्तु इस सन्दर्भ में प्रभाकर का अपना एक मौलिक सिद्धान्त है, जो दार्शनिक जगत् में 'अख्यातिवाद' नाम से प्रसिद्ध है।

आत्मा के स्वरूप-निर्धारण में भी दोनों के विचार परस्पर भिन्न हैं। कुमारिल भट्ट आत्मा को चेतनाऽचेतन मानते हैं। इसके विपरीत प्रभाकर ने इसे नैयायिकों के अनुरूप अचेतन माना है।

इसी तरह कुमारिल अध्ययन को 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य:'[१] इस अध्ययन

---

१. शतपथ ब्राह्मण १५।५।७।२ + ११।५।७।२

विधि से प्रयुक्त मानते हैं, परन्तु प्रभाकर के मतानुसार अध्ययन यह अध्ययन-विधि के समीप पठित 'तमध्यापयीत' इस अध्यापन-विधि से प्रयुक्त है।

इस प्रकार अनेक स्थलों में प्रभाकर तथा कुमारिल भट्ट के सिद्धान्तों में परस्पर पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है।

७. मुरारि मिश्र

मीमांसा-दर्शन में पूर्वोक्त दो संप्रदायों के अतिरिक्त एक नये अर्थात् तीसरे मुरारि-सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रूप में मुरारि मिश्र का नाम प्रसिद्ध है। (मुरारेस्तृतीयः पन्थाः)। इस तृतीय सम्प्रदाय के प्रवर्तक मुरारि मिश्र ने मीमांसा-सूत्रों के प्रथम अध्याय के द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ पाद के अधिकरणों के आधार पर '**त्रिपादनीतिनयन**' तथा ग्यारहवें अध्याय पर '**एकादशाध्यायाधिकरण**' नामक दो ग्रंथों की रचना की है। इन दोनों ग्रन्थों में मुरारि मिश्र ने विवरण, विवेक, पञ्जिका तथा परिभाषा, इन प्राचीन रचनाओं के उल्लेख के साथ चन्द्र, भङ्ग, विन्ध्यवासिन्, नन्दन तथा श्रीकर, इन प्राचीन आचार्यों का भी नामोल्लेख किया है अतः ये चन्द्र से परवर्ती हैं, यह तथ्य निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है। गंगेश उपाध्याय के पुत्र वर्द्धमान ने अपने अनेक ग्रन्थों में इनका नामोल्लेख किया है। वर्द्धमान का समय १३वीं शताब्दी निश्चित किया गया है। अतः इस आधार पर डा० उमेश मिश्र ने मुरारि मिश्र का काल ग्याहरवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी के मध्य माना है।[१]

भाट्टचिन्तामणिकार ने ज्ञप्तिगत स्वतः प्रामाण्य-विचार स्थल में इनके सिद्धान्त को उद्धृत किया है। मीमांसक होने के साथ ही साथ एक महान् नैयायिक होने के कारण इनके ज्ञप्तिगत स्वतः प्रमाण्य के सिद्धान्त पर न्याय का प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है। नैयायिक प्रथम व्यवसायात्मक ज्ञान का द्वितीय अनुव्यवसायात्मक ज्ञान से ग्रहण मानते हैं, परन्तु ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण प्रवृत्ति-साफल्यादि हेतुक अनुमानों द्वारा निश्चित करते हैं अतः वे परतः

---

१. "As he refers to the Pānjikā and Candra, he must have lived after Shalikanatha and Candra. Again, he himself is referred to by Vardhamāna, Son of Gangesh Upādhyāya, in several of his works, and as Vardhamāna is placed in the 13 th century, Murari must be placed before him. So I have placed him between the 11th and the 12 th centuries." Bibliography on Pūrva Mīmāṃsā in its Sources by Dr. Umesh Mishra, P. 43.

प्रामाण्यवादी हैं। मुरारि मिश्र भी नैयायिकों के ही अनुरूप अनुव्यवसायात्मक ज्ञान से ही प्रथम ज्ञान का ग्रहण मानते हैं, परन्तु ये नैयायिकों के विपरीत ज्ञान के प्रमाण्य का ग्रहण भी इस अनुव्यवसायात्मक ज्ञान से ही मानते हैं अतः इनके मत में ज्ञान तथा उसके प्रामाण्य, इन दोनों का एक ही कारण-सामग्री द्वारा ग्रहण होने से ज्ञप्तिगत स्वतः प्रामाण्य अक्षुण्ण रहता है।

८. भाट्टचिन्तामणिकार-गागाभट्टाऽपरनामधेय श्री विश्वेश्वर भट्ट

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के आधारभूत मूल ग्रन्थ 'भाट्टचिन्तामणि' के रचयिता श्री विश्वेश्वर भट्ट विद्वत्समाज में गागाभट्ट के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका सम्बन्ध दक्षिण-देश में गोदावरी नदी के तट पर स्थित विद्याविलास-विलसित पैठण नगरी के प्रसिद्ध भट्ट वंश से है। इनके प्रपितामह नारायण भट्ट के पिता श्री रामेश्वर भट्ट ने दक्षिण पर उत्तर भारत से होने वाले मुगल-आक्रमणों से आक्रान्त पैठण नगरी का परित्याग कर विजय-नगर में कृष्णदेवराय की छत्रछाया में आश्रय ग्रहण किया, परन्तु वहाँ उनका मन अधिक समय तक न लग सका। फलतः वहाँ से काशी में आकर वे पुनः भगवती सरस्वती की उपासना में संलग्न हो गये। ये मीमांसा, व्याकरण, तर्कशास्त्र तथा वेदान्त, इन शास्त्रों के विशेषज्ञ विद्वान् थे। इन्होंने 'राम-कुतूहल' नामक ग्रन्थ की रचना की है। नारायण भट्ट, श्रीधर एवं माधव नामक इनके तीन पुत्र इन्हीं के अनुरूप सर्वविद्या-पारंगत थे। इनमें नारायण भट्ट अपनी विद्धता के लिए विशेष रूप प्रसिद्ध हुए। इन्होंने 'त्रिस्थली सेतु' नामक ग्रन्थ की रचना की। भाट्टचिन्तामणिक. ने इनका अपने वंश विश्वामित्र-कुल के ध्वज के रूप में उल्लेख कर इनके प्रति विशेष सम्मान प्रदर्शित किया है।[1] इनके पुत्र श्री रामकृष्ण भट्ट थे जिनके श्री दिनकर (दिवाकर) भट्ट, कमलाकर भट्ट तथा लक्ष्मण भट्ट नाम के तीन विद्वान पुत्र हुए। इनमें भाट्टचिन्तामणिकार दिनकर भट्ट के पुत्र थे। इनका नाम विश्वेश्वर भट्ट रखा गया, परन्तु इनके पिता श्री दिनकर भट्ट स्नेहवश इन्हें 'गागा' के नाम से सम्बोधित करते थे। फलतः कालान्तर में अपने मूल नाम 'विश्वेश्वर भट्ट' के स्थान पर 'गागा भट्ट' नाम से ही इनकी प्रसिद्धि हो गई। भाट्टचिन्तामणि के मङ्गलाचरण में इन्होंने स्वयं इस तथ्य का उल्लेख किया है।[2]

---

१. विश्वामित्रकुलध्वजः समभवद्योभट्टनारायणः।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० १, पङ्क्ति ५

२. गागा-भट्ट इति प्रथां दिनकरात्प्राप्तः पितुर्लालनाद्।

-वही, पृ० १, पङ्क्ति ७

ये महाराष्ट्र-केशरी छत्रपति शिवाजी के राजगुरु थे। सन् १६७४ ई० में छत्रपति शिवाजी के राज्यारोहण के समस्त धार्मिक क्रियाकलाप इन्हीं के निर्देशन में सम्पन्न हुए थे। इस प्रकार शिवाजी के समकालीन होने से इनका स्थिति काल १७वीं शताब्दी का मध्य भाग निश्चित किया गया है।[१]

गागा भट्ट की रचनाएं

मीमांसा-सूत्रों पर इन्होंने १२ अध्यायों का **'भाट्ट-चिन्तामणि'** नामक स्वतंत्र ग्रन्थ लिखा है, जिसका तर्कपाद प्रकृत ग्रन्थ का मौलिक आधार है। इस तर्कपाद में ग्रन्थकार ने कुमारिल भट्ट के दृष्टिकोण से दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन करते हुए यथासम्भव अपने मौलिक सिद्धान्त भी स्थापित किए हैं। नव्य-न्याय की भाषा में तार्किक पद्धति से ग्रन्थकार ने इसमें न्याय एवं व्याकरण के सिद्धान्तों का भी यथास्थान सूक्ष्मतापूर्वक विवेचन किया है। इस तर्कपाद में ग्रन्थकार ने षट्प्रमाण, धर्मप्रमाण, ज्ञान-प्रामाण्य, शक्तिवाद, सृष्टि-प्रलय-खण्डन, विधिभेद, धात्वर्थ, आख्यातार्थ, लकारार्थ, समासार्थ, ईश्वर, आदि दुरूह विषयों का गम्भीरता पूर्वक विवेचन किया है। स्थान-स्थान पर इन्होंने अपने पिता श्री दिनकर भट्ट के साथ सोमेश्वर, मुरारि मिश्र, पक्षधर मिश्र, शिरोमणि, आदि विद्वानों के मत भी उद्धृत किए हैं। जैमिनि-सूत्रों पर इन्होंने कुसुमाञ्जलि नामक वृत्ति की भी रचना की है। भाट्टचिन्तामणि के तर्कपाद में प्रवर्त्तकज्ञान-विचार-स्थल में "**इदं गुरुमतं तु मद्विहितसूत्रवृत्तौ मया विचार्य कुसुमाञ्जलौ बहु च दूषितं भूषितम्**[२]" इस पङ्क्ति द्वारा ग्रन्थकार ने स्वयं इस तथ्य का प्रतिपादन किया है।

'शिवार्कोदय' इनकी तीसरी रचना है। स्वयं भाट्टचिन्तामणिकार के कथानुसार कुमारिल भट्ट के द्वारा अपूर्ण छोड़े गए विषयों का छत्रपति शिवाजी के आदेश पर इस ग्रंन्थ में उन्होंने विवेचन किया है।[३]

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने **राकागम, दिनकरोद्योत,**

---

१. द्रष्टव्य-'गागा भट्ट' मराठी लेख-लेखक श्री शं० रा० देवले, कुमार मासिक, मार्च १९६६, पृ० ५० से ५८ तक।

२. द्रष्टव्य-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६७, पङ्क्ति १८-१९

३. यत्तर्कपादे बहुनाग्रहेण, श्लोकैः कृतं वार्तिकमार्यवर्यैः।
गागाभिधेनायमपूरि शेषस्तस्याज्ञया छत्रपतेः शिवस्य।।
- संस्कृत मैनिस्कृष्ट नम्बर ३६३, अलवर-स्टेट, उद्धृत-परिशिष्ट, पूर्वमीमांसा इन इट्स सोर्सेस, पृ० ५४।

पशुबन्ध-प्रयोग, सुज्ञान-दुर्गोदय,[1] **कायस्थ-प्रदीप,**[2] आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की, जिन्हें विद्वसमाज में अत्यधिक सम्मान प्राप्त हुआ।

इस ग्रन्थ के आधार ग्रन्थ भाट्टचिन्तामाणि में धर्म में मात्र वेद तथा वेद-मूलक स्मृति तथा शिष्टाचाररूप प्रमाणों के प्रामाण्य की सिद्धि प्रदर्शित की गई है। इसी उद्देश्य से प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणों की उपस्थापना कर धर्म में उनके अप्रामाण्य को प्रदर्शित किया गया है। भाट्टचिन्तामणिकार के इस मूल लक्ष्य को स्पष्टता तथा सरलता के साथ उपस्थापित करना ही प्रस्तुत ग्रन्थ का लक्ष्य है। ग्रन्थ में प्रसङ्गतः प्राप्त अनेक दार्शनिक विषयों, व्याकारण एवं न्याय-शास्त्र के सिद्धान्तों के विवेचन में अन्तर्लीन इस प्रधान लक्ष्य को पृथक्तापूर्वक प्रतिपादित करने के उद्देश्य से प्रमाण-विचार, शब्दार्थ-विचार, पदार्थ-विचार तथा प्रकीर्ण विषय-विचार, इन खण्डों में प्रबन्ध को विभाजित किया गया है।

उपर्युक्त चारों खण्डों का संक्षिप्त विवेचन क्रमशः इस प्रकार है :

प्रथम खण्ड : प्रमाण-विचार

इस प्रथम खण्ड के प्रथम क्रम में प्रत्यक्ष-प्रमाण का विचार किया गया है। ग्रन्थकार-सम्मत प्रत्यक्ष-लक्षण के साथ ही सूत्रकार गौतम तथ तत्त्व-चिन्तामाणिकार-सम्मत लक्षणों पर भी विचार किया गया है। नैयायि को मान्य इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के छह भेदों में से भाट्टचिन्तामणिकार मतानुसार समवाय, समवेत-समवाय तथा विशेषण-विशेष्यभाव, इन तीन सन्निक का निराकरण करते हुए संयोग, संयुक्त-समवाय तथा संयुक्त-समवेत-समवाय इन तीन भेदों का ही प्रतिपादन किया गया है।

प्रत्यक्ष के लौकिक तथा अलौकिक ये दो भेद करके भाट्टचिन्तामणिक के मतानुरूप अलौकिक सन्निकर्ष के सामान्य-लक्षणा तथा ज्ञान-लक्षणा, दो भेदों का विवेचन करते हुए नैयायिकों को मान्य योगराज-धर्म सन्निकर्ष निराकरण भी किया गया है।

द्वितीय क्रम में अनुमान-प्रमाण पर विचार करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार द्वारा उपस्थापित शाबर-भाष्योक्त लक्षण की उपस्थापना कर अनुमिति-ज्ञान में

---

१. द्रष्टव्य-'गागा भट्ट' मराठी लेख-लेखक श्री शं॰ रा॰ देवले, कुमार मासिक, मार्च १९६६, पृ॰ ५२.

२. वही, पृ॰ ५८।

प्रकृष्टोपकारक व्याप्ति, परामर्श तथा पक्षता, इन तीनों का तार्किक शैली में विशद विवेचन किया गया है। यहीं पर अनुमिति के प्रतिवन्धक हेत्वाभासों की न्याय एवं मीमांसा, दोनों दर्शनों के साथ समालोचनात्मक, पद्धति से उपस्थिति की गई है। अनुमान के स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान, ये दो भेद प्रदर्शित कर परार्थानुमान में नैयायिकों के अनुसार पञ्चावयवों की उपस्थापना करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार के मतानुरूप प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण अथवा उदाहरण, उपनय एवं निगमन, इन दोनों पक्षों में से किन्हीं तीन ही अवयवों की आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है।

तृतीय क्रम में नैयायिकों के सम्मत उपमान का लक्षण उपस्थापित कर भाट्टचिन्तामणिकार के मतानुसार उसका निराकरण करते हुए मीमांसा-सम्मत उपमान का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है। इसी प्रकार वैशैषिकों द्वारा उपमान को अनुमान के अन्तर्गत मानने के सिद्धान्त का निराकरण करते हुए इसके पृथक् प्रामाण्य की सिद्धि की गई है।

चतुर्थ क्रम में अर्थापत्ति-प्रमाण की उपस्थापना करते हुए नैयायिकों द्वारा इसे अनुमानान्तर्गत मानने के सिद्धान्त का भाट्टचिन्तामणिकार के मतानुसार निराकरण कर इसके पृथक् प्रामाण्य की सिद्धि में भाट्टचिन्तामणिकार की युक्तियों के साथ ही मीमांसा-दर्शन की अन्य प्रसिद्ध युक्तियाँ भी प्रदर्शित की गई हैं।

पञ्चम क्रम में अभाव को अधिकरण-स्वरूप मानने के प्रभाकर के सिद्धान्त का ग्रन्थकार-सम्मत निराकरण करते हुए अभाव-ग्राहक प्रमाण के रूप में अनुपलब्धि-प्रमाण की स्थापना की गई है।

षष्ठ क्रम में शब्द-प्रमाण का विवेचन किया गया है। प्रस्तुत शब्द-प्रमाण की महत्ता तथा व्यापकता को ध्यान में रखते हुए स्पष्टीकरण की सुविधा के लिए इसे तीन भागों में विभक्त किया गया है।

प्रथम भाग में भाष्याकारोक्त शब्दलक्षण की उपस्थापना कर इसका लक्षण-समन्वय प्रदर्शित करने के उपरान्त भाट्टचिन्तामणिकार-सम्मत वाक्य के स्वरूप का निर्वचन किया गया है। इस वाक्यार्थबोधजनक शब्द-प्रमाण को अनुमानन्तर्गत मानने के वैशैषिकों के सिद्धान्त का निराकरण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार के मतानुसार इसके स्वतंत्र प्रामाण्य की सिद्धि प्रदर्शित की गई है।

द्वितीय भाग में शाब्दबोध-सामग्री के रूप में शक्ति, लक्षणा तथा गौणी-वृत्ति के साथ लक्षणा के भेद एवं लक्षणा-बीज के विषय में नैयायिक एवं मीमांसक दोनों के सिद्धान्त समीक्षात्मक पद्धति से निरूपति किए गए हैं। इसी भाग में शक्ति, लक्षणा एवं गौणी से युक्त पदों के रूढ, यौगिक, योगरूढ, यौगिक रूढ पदों का भाट्टचिन्तामणिकार के मतानुरूप विशद विवेचन किया गया है।

तृतीय भाग में वाक्यार्थ-बोध के सहकारि-कारण-रूप में आकाङ्क्षा, योग्यता तथा आसत्ति का विवेचन करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार-सम्मत तात्पर्य की कारणता का निराकरण प्रदर्शित किया गया है। उपर्युक्त प्रकार से विवेचित वाक्यार्थ का विचार करते हुए वैयाकरण, प्रभाकर, वेदान्ती, नैयायिक एवं मीमांसकों को अभिमत वाक्यार्थ-बोध की प्रक्रिया का भी निरूपण किया गया है।

सप्तम क्रम में धर्म के रूप में यागदि की उपस्थापना कर विधि, अर्थवाद, मन्त्र, नामधेय, स्मृति एवं शिष्टाचार, इन छह प्रमाणों का धर्मप्रमाण के रूप में प्रतिपादन करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार के मतानुसार प्रधान धर्म-प्रमाण के रूप में विधि का प्रतिपादन किया गया है।

अष्टम क्रम में ज्ञान के "स्वतः प्रामाण्य" एवं "परतः प्रामाण्य" पर विचार करते हुए उत्पत्तिगत-प्रामाण्य एवं ज्ञप्तिगत-प्रामाण्य, दोनों पक्षों में वेदज्ञान के उभयविध स्वतः प्रामाण्य तथा तदितर ज्ञान में परतः प्रामाण्य के भाट्टचिन्तामणिकार के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

द्वितीय खण्ड : शब्दार्थ-विचार

इस खण्ड में वाक्यार्थ-बोध में आवश्यक प्रातिपदिकार्थ, सुबर्थ, समासार्थ, नञर्थ, धात्वर्थ तथा आख्यातार्थ, इन महत्त्वपूर्ण विषयों का वैयाकरण-पक्ष की समालोचना करते हुए क्रमशः विचार किया गया है।

तृतीय खण्ड : पदार्थ-विचार

इस खण्ड को विवेचन की सुविधा के लिए दो भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम भाग में भाट्टचिन्तामणिकार के मतानुरूप द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय (तादात्म्य), शक्ति तथा अभाव, इन सप्त पदार्थों का निरूपण करते हुए द्रव्य-निरूपण के ही स्थल में शब्द के द्रव्यतत्व की सिद्धि भी प्रदर्शित की गई है।

द्वितीय भाग में इन्हीं पदार्थों से सम्बद्ध अवयवि, आत्मा, मुक्ति, सृष्टि, प्रलय तथा ईश्वर, इन महत्त्वपूर्ण विषयों का तार्किक आधार पर विवेचन किया गया है।

चतुर्थखण्ड : प्रकीर्ण-विषय-विचार

उपर्युक्त तीनों ख़ण्डों में समाविष्ट न हो पाने के कारण अध्ययन विधि-विचार, ख्याति-विचार एवं वेदाऽपौरुषेयत्व-विचार, इन तीन महत्त्वपूर्ण विषयों का इस चतुर्थ खण्ड में विशद विवेचन किया गया है।

उक्त चारों खण्डों में सम्पूर्ण विषय के प्रतिपादन के पश्चात् उपसंहार में ग्रन्थ के वैशिष्ट्य को संक्षेप में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया है।

ग्रन्थ के अन्त में परिभाषिक शब्दों के संग्रह के साथ सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची की भी योजना की गई है।

प्रथम खण्ड

प्रमाण-विचार

अलौकिक श्रेय-साधन-रूप याग से उत्पन्न होने वाले अपूर्व से उपलभ्य-मान् स्वर्गादि फल के साधन-रूप में विहित यागादि-रूप धर्म का प्रतिपादन करना ही मीमांसा-दर्शन का प्रधान लक्ष्य है। धर्म ही मीमांसा-दर्शन का प्रधान प्रमेय है।[१] इस धर्म का ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि एवं लौकिक शब्द, इन लौकिक-प्रमाणों से न होकर एकमात्र अलौकिक-शब्द-प्रमाण वेद ही सम्भव है।[२] इसी तथ्य का प्रतिपादन करने के लिए भाट्टचिन्तामणिकार ने अलौकिक शब्द-रूप वेद-प्रमाण का निरूपण करने के पूर्व क्रमशः इन छहों लौकिक-प्रमाणों[३] का निरूपण किया है।

१. प्रत्यक्ष-प्रमाण-निरूपण

इन्द्रिय तथा अर्थ क संयोग से होने वाले ययार्थ अनुभव को प्रत्यक्षज्ञान तथा इस प्रत्यक्षज्ञान के कारणभूत इन्द्रिय एवं इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है।

न्याय-सम्मत प्रत्यक्ष-लक्षण का खण्डन

नैयायिकों का कहना है कि इन्द्रिय से उत्पन्न होने वाला जो ज्ञान है, वही प्रत्यक्षज्ञान है।[४] लेकिन प्रत्यक्ष का यह लक्षण मीमांसकों को स्वीकृत नहीं है

---

१. धर्माख्यं विषयवक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्।

–श्लो० वा० प्रतिज्ञा० सूत्र १।१।०१

२. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।

– जैमिनि सूत्र १।१।२

३. तानि च प्रमाणानि प्रत्यक्षानुपमानोपमानशब्दार्थापत्यनुलब्ध्याख्यानि षड् लौकिकानि।

– भाट्टचिन्तामणि पृ० ११ पङ्क्ति २० से २१।

४. इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। –न्या० सि० मु० पृष्ठ १८२, पङ्क्ति ७।

अतः इस लक्षण का खण्डन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि प्रत्यक्ष-ज्ञान इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से ही उत्पन्न नहीं होता, अपितु इसकी उत्पत्ति में मन भी कारण होता है। विमनस्क स्थिति में इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष होने पर भी ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, अपितु मन-संयुक्तेन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष होने पर ही ज्ञानोत्पति होती है अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्यक्षज्ञान में इन्द्रिय के साथ मन की भी कारणता है।

प्रत्यक्ष के ही समान अनुमान, उपमान आदि अन्य ज्ञानों में भी मनोजन्यता होती है तथा मन को भी नैयायिकों ने इन्द्रिय ही माना है[१] अतः 'इन्द्रिय-जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। इस न्याय-सम्मत प्रत्यक्ष-लक्षण की अनुमिति, उपमिति आदि प्रत्यक्षेतर ज्ञानों में भी अति-व्यप्ति हो जाती है, अतः यह लक्षण दूषित है।

न्याय-सूत्रकारोक्त लक्षण

न्यायसूत्रकार गौतम का कहना है कि 'इन्द्रिय एवं अर्थ (विषय), इन दोनों के सम्बन्ध से जन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष ज्ञान है।[२]

यहाँ पूर्वपक्ष का कहना है कि ईश्वर के प्रत्यक्ष में अव्याप्ति होने से उक्त लक्षण दोषयुक्त है। ईश्वर को यच्चयावत् समस्त त्रैकालिक पदार्थों का नित्य प्रत्यक्ष होता है, लेकिन ईश्वर के निरीन्द्रिय होने के कारण उसे होने वाला प्रत्यक्ष-ज्ञान इन्द्रियार्थ-सम्बन्ध से जन्य ज्ञान नहीं है। ईश्वर-प्रत्यक्ष में इस लक्षण की अव्याप्ति है।

सिद्धान्ती प्राचीन-नैयायिक पूर्वपक्षकृत इस आपत्ति का निराकरण करते हुए कहते हैं कि ईश्वर को होने वाला प्रत्यक्ष-ज्ञान सर्वसाधारण प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं है, अपितु एक विलक्षण ज्ञान है। जिस प्रकार अनुमितिज्ञान से ईश्वर का ज्ञान विलक्षण है, वैसे ही सर्वसाधारण को होने वाले इन्द्रियार्थ-सम्बन्धजन्य प्रत्यक्ष-ज्ञान से भी वह विलक्षण है। सर्वसाधारण को होने वाले जन्य-ज्ञान के लक्षण की नित्य विलक्षण ईश्वरीय प्रत्यक्षज्ञान में अव्याप्ति नहीं होती।[३]

---

१. तानि चेन्द्रियाणि षट्-घ्राणरसनचक्षुत्वक्श्रोत्रमनांसि।
– तर्कभाषा, पृ० २२४ पङ्क्ति ४-५

२. इन्द्रियार्थसम्बन्धजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।
– भाट्टचिन्तामणि, पृ० १५, पङ्क्ति १४

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यदेशमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।
–न्या० सू० १।१।४

३. इन्द्रियार्थसम्बन्धजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति सूत्रकारः। न चेश्वरप्रत्यक्षेऽव्याप्तिः। ईश्वर-ज्ञानस्यानुमिति-विलक्षणत्ववत् प्रत्यक्ष-विलक्षण-त्वादिति जीर्णाः।
– भाट्टचिन्तामणि पृ० १५, पङ्क्ति १४ से १६

तत्त्वचिन्तामणिकारोक्त लक्षण की उपस्थापना

तत्त्वचिन्तामणिकार गंगेश उपाध्याय का कहना है कि ज्ञान जिसका करण नहीं है, ऐसा जो ज्ञान है, वही प्रत्यक्ष है।[१] इस प्रत्यक्ष ज्ञान से भिन्न अनुमिति आदि सभी ज्ञान सकरणक ज्ञान होते हैं। अनुमिति में व्याप्तिज्ञान, उपमिति में सादृश्यज्ञान, शाब्दबोध में पदज्ञान, अर्थापत्ति में उपपादक ज्ञान तथा स्मृति-ज्ञान में पूर्वानुभव-ज्ञान करण हैं अतः इनमें प्रत्यक्ष-लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

इस पर पूर्व पक्षी का कथन है कि चिन्तामणिकार के इस लक्षण में अति- व्याप्ति दोष भले ही न हो तथापि 'अयं घटः' एतादृश स्थल में घट, घट-व्यक्ति एवं घट-शब्द से युक्त साविकल्पक ज्ञान तथा 'नीलघटवत् भूतलम्' इत्यादि स्थलों में होने वाले नीलादि विशेषण से विशिष्ट घटादि से विशिष्ट भूतलादि के विशिष्ट-वैशिष्ट्य-प्रत्यक्षज्ञान में लक्षण की अव्याप्ति हो जाती है। सविकल्पक-ज्ञान उसी वस्तु का होता है जिसका पहले निर्विकल्पकज्ञान हो चुका हो। सविकल्पक ज्ञान में निर्विकल्पज्ञान कारण होता है।

इसी प्रकार विशिष्ट-वैशिष्ट्य ज्ञान भी विशेषण ज्ञान होने के अनन्तर ही होता है, इसलिए इसमें भी विशेषण-ज्ञान कारण है अतः सविकल्पक-प्रत्यक्षज्ञान में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-ज्ञान तथा विशिष्ट-वैशिष्टय-प्रत्यक्ष-ज्ञान में विशेषण-ज्ञान कारण होने से इन दोनों की सकरणक प्रत्यक्ष में सङ्गति न हो पाने से लक्षण अव्याप्ति-दोष ग्रस्त है।

उक्त अव्याप्ति-दोष का परिहार करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं। कि सविकल्पक प्रत्यक्ष तथा विशिष्ट-वैशिष्टय-प्रत्यक्ष में निर्विकल्पकज्ञान तथा विशेषण-ज्ञान यद्यपि कारण होते हैं, तथापि करण नहीं होते। करण तथा कारण, इन दोनों में परस्पर भेद है।

जो व्यापारवान् तथा असाधारण कारण होता है उसे करण तथा करण से उत्पन्न होकर जो इस करण से उत्पन्न होने वाले कार्य का उत्पादक होता है, उसे व्यापार कहते हैं।[२]

---

१. ज्ञानाकरणकं ज्ञानमिति तु वयम्। -गंगेश उपाध्याय, तत्त्वचिन्तामणि, प्रत्यक्ष खण्ड, पृ० ५९५
द्रष्टव्य-उद्धृत दत्त एवं चट्टोपाध्याय विरचित दर्शन, पृ० ११७ टिप्पणी।

२. व्यापारवद् असाधारणकारणस्य करणतया तज्जन्यत्वे सति तज्जन्य-जनकस्य व्यापारतया च निर्विल्पकादेः कारणत्वेऽप्यकरणत्वात्।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० १५, पङ्क्ति १९ से २०

प्रकृत स्थल में सविकल्पक प्रत्यक्षज्ञान में निर्विकल्पज्ञान तथा विशिष्ट-वैशिष्ट्य-प्रत्यक्ष-ज्ञान में विशेषण-ज्ञान असाधारण कारण तो हैं, तथापि इन दोनों में ऐसा कोई व्यापार नहीं है जो स्वयं इनसे उत्पन्न होकर इनके सविकल्पक प्रत्यक्षज्ञान तथा विशिष्टवैशिष्ट्य-प्रत्यक्ष-ज्ञान-रूप कार्य को उत्पन्न करे, अतः निर्विकल्पकज्ञान एवं विशेषणज्ञान में असाधारण कारणता होने पर भी उनमें व्यापार न होने से करणता नहीं है अतः सविकल्पक-प्रत्यक्ष ज्ञान तथा विशिष्टवैशिष्ट्य-प्रत्यक्षज्ञान, ये दोनों ज्ञान भी अकरणक ज्ञान ही हैं। इसलिए इनमें भी प्रत्यक्ष-लक्षण की सङ्गति हो जाती है।

ग्रन्थकारकृत प्रत्यक्ष-लक्षण-निरूपण

ग्रन्थकार का कहना है कि (व्याप्ति सादृश्यादि) जन्य दोनों से जन्य (अनुमिति उपमिति आदि) मात्र में वृत्ति (अनुमितित्व उपमितित्वादि) जातियों से शून्य ज्ञान ही प्रत्यक्षज्ञान है।[१]

इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष-विचार

प्रत्यक्षज्ञान में इन्द्रियाँ अर्थ (विषय) के साथ होने वाले अपने (इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष-रूप) व्यापार के द्वारा ही करण होती हैं। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियों के अवान्तर व्यापार रूप में इन्द्रियों के अर्थ के साथ होने वाले संन्निकर्षों की भी कारणता होती है। अर्थ के साथ होने वाले इन्द्रियों के इन सन्निकर्षों की संख्या के विषय में मीमांसा तथा न्याय में परस्पर मतभेद है।

ग्रन्थकारकृत सन्निकर्ष-निरूपण

प्रकृत ग्रन्थकार ने इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के संयोग, संयुक्त समवाय[२] तथा संयुक्त समवेत समवाय, ये तीन भेद माने हैं।

---

१. जन्यज्ञानजन्यमात्रवृत्तिजातिशून्यज्ञानत्वम्।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ १५, पङ्क्ति २१ से २२

२. कुमारिल भट्ट समवाय नहीं मानते अपितु तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं। भाट्टमतावलम्बी ग्रन्थकार ने भी भेदाऽभेदसम्बन्धरूप तादात्म्य के अर्थ में ही समवाय का ग्रहण किया है। द्रष्टव्य-तृतीय खण्ड पदार्थ-विचार-५, समवाय एवं तादात्म्य निरूपण, पृ॰ २३८-२४०

सन्निकर्षश्च संयोगः संयुक्तसमवायः संयुक्तसमवेतसमवायश्चेति।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ १६, पङ्क्ति १०

(१) संयोग

चक्षु से घटादि द्रव्यों का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान उत्पन्न होते समय चक्षु इन्द्रियों का घटादि द्रव्यरूप अर्थों के साथ होने वाला सन्निकर्ष संयोग सन्निकर्ष कहलाता है। इसी प्रकार मनरूप इन्द्रिय से आत्मारूपी द्रव्य के प्रत्यक्ष होने में मन का आत्मा के साथ होने वाला सन्निकर्ष भी संयोग-सन्निकर्ष है।

(२) संयुक्त-समवाय

जिस समय चक्षु आदि इन्द्रियों से घटादि द्रव्यों के रूपादि गुण, कर्म तथा जाति का प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है, उस समय इन्द्रियों का गुण, कर्म तथा जाति के साथ होने वाला सम्बन्ध ही संयुक्त-समवाय-सन्निकर्ष होता है।

'घटे श्यामं रूपम् अस्ति' (घड़े में श्याम रूप है) यहाँ पर चक्षु का प्रथम घट से संयोग हो जाने के पश्चात् ही घट में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले रूपादि का प्रत्यक्ष होता है अतः इन्द्रिय एवं द्रव्यगत गुणरूप अर्थ के बीच संयुक्त समवाय-सन्निकर्ष है।

इसी प्रकार 'घटः कम्पते' (घट हिलता है।) यहाँ पर कम्पन-क्रिया घट-रूपी द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहने के कारण उसके साथ भी चक्षु इन्द्रिय का संयुक्त समवाय सन्निकर्ष ही होता है।

गुण तथा कर्म के समान जाति भी द्रव्य में समवाय-सम्बन्ध से ही विद्यमान रहती है अत: 'घटो द्रव्यम्' (घड़ा द्रव्य है) अर्थात् घट घटत्व जाति का आश्रय है, इस ज्ञान में घटत्व-जाति के घट में समवाय-सम्बन्ध से रहने के कारण उसके प्रत्यक्ष में भी इन्द्रिय का उसके साथ संयुक्त-समवाय-सन्निकर्ष ही होता है।

(३) संयुक्त-समवेत-समवाय

जिस समय चक्षु इन्द्रिय से घट में समवाय-सम्बन्ध से रहने वाले गुण तथा कर्म में समवाय-सम्बन्ध से विद्यमान गुणत्व एवं कर्मत्व जाति का प्रत्यक्ष होता है, उस समय चक्षु का इन रूपत्व, कर्मत्वादि जातियों के साथ संयुक्त-समवेत-समवाय-सन्निकर्ष होता है।

नैयायिक-मत के साथ सिद्धान्त-मत का तुलनात्मक अध्ययन

न्याय-शास्त्र में मीमांसा-सम्प्रदाय में स्वीकृत उपर्युक्त संयोग, संयुक्त-समवाय

एवं संयुक्त-समवेत-समवाय, इन तीन सन्निकर्षों के अतिरिक्त समवाय, समवेत-समवाय तथा विशेषण-विशेष्यभाव, ये तीन अधिक सन्निकर्ष माने गये हैं अतः न्यायशास्त्र में सन्निकर्ष के छह भेद हैं।[१]

समवाय

श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा इस समवाय-सन्निकर्ष से ही शब्द का ग्रहण होता है। कर्ण-शष्कुली से अवच्छिन्न कर्ण के मध्य-भाग में स्थित आकाश ही श्रोत्र है तथा शब्द उसका गुण है अतः गुण एवं गुणी में समवाय-सम्बन्ध होने के कारण श्रोत्रेन्द्रिय रूप आकाशात्मक गुणी द्रव्य में उसके गुण शब्द का समवाय-सन्निकर्ष द्वारा ही ग्रहण होता है।

समवेत-समवाय

शब्द में समवाय-सम्बन्ध से रहने वाली शब्दत्व-जाति के प्रत्यक्ष में श्रोत्रेन्द्रिय का उसके साथ समवेत-समवाय-सन्निकर्ष होता है।

विशेषण-विशेष्यभाव-सन्निकर्ष

जिस समय चक्षु से भूतल में 'भूतले घटो नास्ति' (भूतल में घट नहीं है') इस प्रतीति के आधार पर घटाभाव का प्रत्यक्ष होता है, उस समय घटाभाव, चक्षु से संयुक्त भूतल का विशेषण तथा भूतल उसका विशेष्य होने के कारण घटाभाव तथा चक्षु-इन्द्रिय में होने वाला सन्निकर्ष विशेषण-विशेष्य-भाव-सन्निकर्ष है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त तीनों सन्निकर्ष भी नितान्त आवश्यक हैं। यदि इन्हें न मानकर मीमांसा सम्मत तीन ही सन्निकर्ष मानें तो शब्द, उसमें वृत्ति शब्दत्व-जाति तथा भूतल-वृत्ति घटाभावादि का प्रत्यक्ष कदापि नहीं होगा।

विमर्श

पूर्वपक्षी नैयायिकों द्वारा समवाय, समवेत-समवाय एवं विशेषण-

---

१. विषयेन्द्रियसम्बन्धो व्यापारः, सोऽपि षड्विधः। - न्या॰ सि॰ मु॰ कारिका ५९ इन्द्रियार्थयोस्तु यः सन्निकर्षः साक्षात्कारि प्रमाहेतुः स षड्विध एव।
तद्यथा संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्त-समवेत-समवायः, समवायः, समवेत समवायः विशेषण- विशेष्यभावश्चेति।
-तर्कभाषा, पृ॰ ७९, पङ्क्ति १ से ३, मोतीतलाल बनारसीदास प्रकाशन।

विशेष्यभाव-रूप तीन अन्य सन्निकर्ष मानने के सिद्धान्त का मीमांसा-सिद्धान्तों पर आधारित निम्नलिखित तर्कों द्वारा निराकरण किया जा सकता है।

(१) शब्द यह नैयायिकों की मान्यता के अनुरूप वस्तुतः आकाश का गुण नहीं है अपितु द्रव्य है[1] अतः श्रोत्रेन्द्रिय-रूप द्रव्य-द्वारा द्रव्य, शब्द का संयोग-सन्निकर्ष से ही ग्रहण हो जाता है। इसलिए शब्द के ग्रहणार्थ समवाय-सन्निकर्ष मानने की आवश्यकता नहीं है।

(२) इसी प्रकार शब्द-रूप द्रव्य में स्थित शब्दत्व-जाति का प्रत्यक्ष भी संयुक्त-समवाय-सन्निकर्ष से हो जाता है अतः शब्दत्व जाति के ग्रहणार्थ समवेत-समवाय-सन्निकर्ष अनावश्यक है।

(३) भूतलादि में रहने वाले घटाभावादि का ज्ञान प्रत्यक्ष-प्रमाण से होता ही नहीं है अतः अभाव-प्रत्यक्ष के लिए विशेषण-विशेष्य-भाव-सन्निकर्ष मानने का सिद्धान्त भी स्वतः निरस्त हो जाता है। अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष-प्रमाण से न मानकर अनुपलब्धि नामक एक पृथक् प्रमाण से माना गया है।[2]

इस विवेचन द्वारा समवाय, समवेत समवाय तथा विशेषण विशेष्य-भाव, इन तीनों सन्निकर्षों के निरस्त हो जाने से यह सिद्धि हो जाता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में संयोग, संयुक्त-समवाय तथा संयुक्त-समवेत-समवाय, ये तीन ही सन्निकर्ष आवश्यक हैं।

प्रत्यक्ष-भेद-निरूपण

भाट्टचिन्तामणिकार ने प्रत्यक्ष-प्रमा के निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष तथा सविकल्पक-प्रत्यक्ष, ये दो भेद माने हैं।[3] सविकल्पक-प्रत्यक्ष के भी लौकिक-सविकल्पक-प्रत्यक्ष तथा अलौकिक-सविकल्पक-प्रत्यक्ष ये दो भेद है।[4]

---

१. द्रष्टव्य-शब्द में द्रव्यत्व की सिद्धि, पृ० २२२,

२. द्रष्टव्य-अनुपलब्धि-प्रमाण-निरूपण, पृ० ८७,

३. तच्च प्रत्यक्षं निर्विकल्पकं सविकल्पकञ्चेति द्विधा।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० १६, पङ्क्ति २७

४. तच्च सविकल्पकं द्विविधं लौकिकमलौकिकञ्च।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २१, पङ्क्ति २५

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-ज्ञान-निरूपण

उपर्युक्त दोनों ज्ञानों में प्रकारता (विशेषणता) विशेष्यता, नाम, जाति, गुण, क्रिया, आदि कल्पित पदार्थों से रहित निर्विशेषण तथा निर्विशेष्य रूप ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान है। यह निर्विकल्पक-ज्ञान इन्द्रिय-संयोग होने पर विशेषण तथा विशेष्य के सम्बन्ध से रहित व्यक्तिमात्र गोचर-ज्ञान है। इसमें व्यक्ति तथा उसमें रहने वाली जाति के वैशिष्ट्य का भान नहीं होता अपितु 'सामने कुछ है' मात्र इतनी ही प्रतीति होती है। यद्यपि इसमें घटादि व्यक्ति तथा उसमें रहने वाली जाति का भी भान होता है, तथापि दोनों में जो विशेषण-विशेष्य-भाव है, उसका भान नहीं होता, अपितु दोनों विशुद्ध रूप में ही भासित होते हैं। इसीलिए ग्रन्थकार ने इसे विशेषण तथा विशेष्यभाव से रहित 'घट तथा घटत्व-विषयक ज्ञान' भी कहा है।[१]

लौकिक सविकल्पक प्रत्यक्ष-निरूपण

पूर्वोक्त संयोग, संयुक्त-समवाय (तादात्म्य), संयुक्त-समवेत-समवाय-(संयुक्त तादात्म्य-तादात्म्य), इन तीनों लौकिक सन्निकर्षों द्वारा इन्द्रियों से जो विशेषण-विशेष्य-ग्राहक सविशेष्यक तथा घटत्वादि प्रकारों से विशिष्ट घटादि का सप्रकारक ज्ञान उत्पन्न होता है, वह सविकल्पक प्रत्यक्ष-ज्ञान है। 'अयं घटः' (यह घट है।) इस ज्ञान में घट-द्रव्य, उसमें विद्यमान घटत्व जाति एवं जाति, घट-द्रव्य में जिस संसर्ग (सम्बन्ध) से रहती है, उस समवाय-रूप संसर्ग का भी भान होता है अतः सविकल्पक-प्रत्यक्षज्ञान द्रव्य एवं जाति आदि के साथ ही साथ उनके संसर्ग का भी बोधक होने से ग्रन्थकार ने इसको 'संसर्ग-सहित होने वाला ज्ञान' भी कहा है।[२]

इस सविकल्पक प्रत्यक्षज्ञान में द्रव्य, जाति, गुण, क्रिया एवं नाम ये विषय होते हैं अतः इन पाँचों विषयों के आधार पर ग्रन्थकार ने सविकल्पक

---

१. प्रकारता विशेष्यतादि-विषयता- रहितं ज्ञानं निर्विकल्पकं, तद्विशेषण-विशेष्यभावानापन्न-घटघटत्वादि-विषयकम्। इन्द्रिय-संयोगानन्तरमविविक्तसामान्यव्यक्तिभावस्य व्यक्ति-मात्र-गोचर-ज्ञानस्य जायमानत्वात्।

-भाट्टचिन्तामणि पृ० १६, पङ्क्ति २७ से ३०

२. सविशेष्यकं सप्रकारकं ससंसर्गकं वा ज्ञानं सविकल्पकम्।

-भाट्टचिन्तामणि पृ० १७, पङ्क्ति ५

प्रत्यक्ष ज्ञान के पाँच भेद तथा चक्षु-घ्राण-श्रोत्र-त्वग्-रसना एवं मनरूपी षडिन्द्रियों के आधार पर चाक्षुष, घ्राणज, श्रोत्रज, स्पार्शन, रासन तथा मानस प्रत्यक्ष रूप छह भेद माने हैं।[१]

सविकल्पक ज्ञान-मात्र में महत्त्व की हेतुता

द्रव्य, जाति, गुण, क्रिया एवं नाम इनके षडिन्द्रियजन्य सविकल्पक प्रत्यक्ष-ज्ञान में महत्त्व (महत् परिमाण) भी कारण होता है।[२] इस महत्-परिमाण की इन पाँचों के सविकल्पक प्रत्यक्ष में अलग-अलग रूप से कारणता है।

(१) द्रव्य में महत्त्व (महत्-परिमाण) गुण होने से समवाय-सम्बन्ध से रहता है अतः घटादि द्रव्यों के प्रत्यक्ष में महत्त्व (महत्-परिमाण) की समवाय-सम्बन्ध से कारणता होती है।[३]

(२) द्रव्य में गुण, क्रिया एवं जाति समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। महत्त्व (महत्-परिमाण) भी गुण होने से द्रव्य में समवाय-सम्बन्ध से ही रहता है अतः महत्त्व (महत्-परिमाण) का द्रव्यनिष्ठ गुण, क्रिया एवं जाति के साथ समवाय-घटित सामानाधिकरण्य होने के कारण इनके प्रत्यक्ष में महत् परिमाण की समवाय घटित-सामानाधिकरण्य-रूप-सम्बन्ध से कारणता है।[४]

(३) द्रव्यनिष्ठ गुण-क्रिया-गत गुणत्व तथा क्रियात्व- (कर्मत्व)-जाति के प्रत्यक्ष में महत्त्व (महत्-परिमाण) एकार्थ-समवाय-समवाय-सम्बन्ध से कारण है।[५]

एकार्थ-समवाय का तात्पर्य 'एकस्मिन्नर्थे उभयोः समवायः' एक ही अर्थ

---

१. तच्च जातिद्रव्यगुणक्रियानामविषयकतया पञ्चधा। चाक्षुषादिभेदेन षोढ़ा च।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० १७, पङ्क्ति ५ से ७

२. तत्र प्रत्यक्ष-मात्रे महत्त्वं हेतुः। - भाट्टचिन्तामणि, पृ० १७, पङ्क्ति ७
महत्त्वं षड्-विधे हेतुः। - मुक्तावली कारिका ५८

३. तच्च द्रव्य-प्रत्यक्षे समवायेन। - भाट्टचिन्तामणि पृ० १७, पङ्क्ति ७
द्रव्य-प्रत्यक्षे महत्त्वं समवायसम्बन्धेन कारणम्।—न्या० सि० मु० किरणावली समन्वित, चौखम्बा प्रकाशन, पृ० १९६ पङ्क्ति ६ से १९७, पङ्क्ति १

४. गुण-क्रिया-जाति-प्रत्यक्षे समवायघटित-सामानाधिकरण्येन।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० १७, पङ्क्ति ७ से ८

५. गुण-क्रियागत-जाति-प्रत्यक्षे-त्वेकार्थ- समवाय-समवायेन।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० १७, पङ्क्ति ८ से ९

में दोनों का समवाय होना है। महत्त्व (महत्-परिमाण) द्रव्य में समवाय-सम्बन्ध से रहता है वहीं गुण एवं क्रिया भी समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं। यही एकार्थ-समवाय है। गुण एवं क्रिया में गुणत्व तथा कर्मत्व-जाति भी समवाय-सम्बन्ध से रहती है, अतः उनके साथ महत्त्व का एकार्थ-समवाय-समवाय-सम्बन्ध होने के कारण इस सम्बन्ध से ही महत्-परिमाण की इन द्रव्य-निष्ठ-क्रियागत गुणत्व-कर्मत्व-जाति के प्रत्यक्ष में कारणता होती है।

चाक्षुष प्रत्यक्ष के सहकारि कारणों का निरूपण

चाक्षुष प्रत्यक्ष में महत्-परिमाण के साथ ही साथ उद्भूत रूप, उद्भूत-अनभिभूत रूप तथा आलोक संयोग भी कारण हैं। वायु में महत्-परिमाण रहने पर भी उसमें उद्भूत रूप न होने के कारण वायु का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। इसी प्रकार भरी दुपहर में आकाश में अनेक तारे रहते हैं, जिनमें महत्-परिमाण भी है तथा उद्भूत रूप भी है, तथापि उनका उद्भूत रूप सूर्य के प्रचण्ड तेज से अभिभूत हो जाने के कारण दिन में उनका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता अतः चाक्षुष प्रत्यक्ष में उपर्युक्त तीनों ही समान रूप से कारण हैं।[१]

स्पार्शनादि प्रत्यक्षों में उद्भूत रूपादि की कारणता

त्वग्-इन्द्रिय से होने वाले स्पर्श-रूप प्रत्यक्ष-ज्ञान में महत्-परिमाण के साथ मात्र उद्भूत स्पर्श ही कारण होता है। इस स्पर्श-रूप प्रत्यक्ष-ज्ञान में उद्भूत रूप की कारणता नहीं होती अतः वायु में रूप न होने पर भी उसमें उद्भूत स्पर्श होने के कारण उसका त्वाच्-स्पार्शन-प्रत्यक्ष हो जाता है।[२]

इसी प्रकार घ्राणज-प्रत्यक्ष में उद्भूत गन्ध, रासन-प्रत्यक्ष में उद्भूत रस तथा शब्द के श्रोत्रज-प्रत्यक्ष में उद्भूत शब्द, ये सहकारि कारण हैं।

अलौकिक सविकल्पक प्रत्यक्ष-निरूपण

इन तीनों सन्निकर्षों के अतिरिक्त जब इन्द्रियों के सन्निकर्ष इन्द्रियों के विपरीत दिशा में तथा अत्यधिक दूर रहने वाले या इन्द्रिय-सन्निकर्ष के समय जिनका अस्तित्व ही नहीं रहता, ऐसे अर्थों के साथ होते हैं, उन्हें अलौकिक

---

१. चाक्षुषे चोद्भूतरूपमुद्-भूतानभिमूतरूपालोकसंयोगश्च।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० १७, पङ्क्ति १०।

२. स्पार्शने चोद्भूतस्पर्शः। न तु रूपमपि। तेन वायुरपि त्वाच-प्रत्यक्षः।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० १७, पक्तिं १२ से १३।

सन्निकर्ष कहते हैं तथा इन अलौकिक सन्निकर्षों से जो प्रत्यक्षात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे अलौकिक सविकल्पक प्रत्यक्ष कहा जाता है।

अलौकिक सन्निकर्ष-निरूपण

न्यायशास्त्र के मतानुसार अलौकिक सन्निकर्ष के सामान्य-लक्षणा, ज्ञान-लक्षणा, तथा योगराज, ये तीन भेद माने गए हैं[१] परन्तु मीमांसक कुमारिल भट्ट के मतानुयायी भाट्ट-चिन्तामणिकार ने योगज सन्निकर्ष का खण्डन करते हुए केवल सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष तथा ज्ञानलक्षणा-सन्निकर्ष, ये दो ही अलौकिक-सन्निकर्ष माने हैं।

सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष-निरूपण

अनेक आश्रयों में ज्ञात होने वाले समान-सदृश धर्म को सामान्य कहते हैं। लक्षण-शब्द के स्वरूप और ज्ञान, ये दो अर्थ हैं। सामान्य-लक्षणा शब्द का ज्ञायमान-सामान्य अर्थ करने पर सामान्य-स्वरूप सन्निकर्ष तथा सामान्यज्ञान अर्थ करने पर सामान्य-ज्ञान-रूप सन्निकर्ष का बोध होता है।

भाट्टचिन्तामणिकार को सामान्य-लक्षणा-शब्द के सामान्यस्वरूप-सन्निकर्ष या सामान्यज्ञान-सन्निकर्ष ये दोनों ही अर्थ स्वीकृत हैं।[२] दोनों ही मतों में सामान्य के किसी आश्रय में सामान्य का इन्द्रिय के लौकिक सन्निकर्ष द्वारा प्रत्यक्ष हो चुकने के पश्चात् ही उस सामान्य-स्वरूप (ज्ञायमान सामान्य) या सामान्य-ज्ञानरूप अलौकिक सन्निकर्ष-द्वारा सामान्य के आश्रयों का अलौकिक प्रत्यक्ष होता है।

सामान्य-लक्षणा के स्वीकार में युक्ति-प्रदर्शन

सामान्य-लक्षणा सन्निकर्ष की आवश्यकता प्रदर्शित करते हु भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि यदि सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष न माना जाए त जलाहरणादि व्यवहार के विषय घट में यह घट है' इस घट-पद की शक्ति का ग्रहण होने पर भी उससे अतिरिक्त घटों का उस घट व्यक्ति के साथ प्रत्यक्षात्मक ज्ञान न होने से प्रत्यक्षगोचर घट व्यक्ति से अतिरिक्त घटों में

---

१. अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः। सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा।

–न्या० सि० मु० प्रत्यक्ष खण्ड कारिका, ६३

२. सामान्यलक्षणा च सामान्यज्ञानं ज्ञायमानं सामान्यं वा।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० २१, पङ्क्ति २६ से २७

घट-शब्द की शक्ति का ग्रहण नहीं हो पाएगा फलतः किसी भी व्यक्ति को कम्बुग्रीवादिमान् जलाहरणादि व्यवहार वाले पदार्थ को देखकर 'यह घट है' ऐसा ज्ञान होने पर भी उससे अतिरिक्त किसी अन्य घट को देख या सुनकर घट-ज्ञान नहीं होगा, जब कि ऐसा होना सर्वथा अनुभव-सिद्ध है अतः इस अनुभव-सिद्ध तथ्य की उपपत्ति के लिए सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष मानना नितान्त आवश्यक है।

सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष स्वीकार कर लेने पर इस लोक-सिद्ध अनुभव की उपपत्ति हो जाती है। किसी एक घट व्यक्ति का लौकिक प्रत्यक्ष हो जाने के बाद उसमें 'यह घट है' इस घट शब्द की शक्ति का ग्रहण होता है, उसी समय उस घट के साथ ही उसमें विद्यमान घट मात्र में भेदाऽभेद-समवाय-(तादात्म्य)-सम्बन्ध से रहने वाले घटत्व-रूप धर्म का भी इन्द्रिय के संयुक्त-समवाय-(संयुक्त तादात्म्य)-सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है और फिर उस घटत्व-रूप सामान्य या घटत्व-ज्ञान-रूप सामान्य-लक्षणा-सन्निकर्ष से प्रत्यक्षगम्य घट से अतिरिक्त घटत्वाश्रयभूत समस्त घटों का अलौकिक प्रत्यक्षज्ञान हो जाने के कारण उनमें भी घट-शब्द की शक्ति का ग्रहण हो जाता है।

गंगेश उपाध्याय-मत-निरूपण

सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष की आवश्यकता के प्रतिपादनार्थ गंगेश उपाध्याय यह तर्क उपस्थित करते हैं कि महानस (रसोई घर) में धूम में वह्नि की साहचर्य-रूप व्याप्ति देखने पर '(**धूमो वह्नि-व्याप्यो न वा**)' महानस में प्रत्यक्ष- गोचर धूम के समान विश्व के भूत-वर्तमान तथा भविष्यत् सभी धूम वह्नि-व्याप्य हैं या नहीं? यह सन्देह उत्पन्न होता है, लेकिन सामान्य-लक्षणा-सन्निकर्ष से, महानसीय धूम के प्रत्यक्ष के साथ धूमत्व-रूप सामान्य के सन्निकर्ष से संसार के सारे धूमों का प्रत्यक्ष न मानने पर उक्त सन्देह की उपपत्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि जिस महानसीय घूम का प्रत्यक्ष हुआ है, उसमें वह्नि की व्याप्ति भी प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात हो चुकी है अतः इस प्रसिद्ध धूम में वह्नि की व्याप्ति का सन्देह नहीं हो सकता तथा इस प्रसिद्ध धूम से अतिरिक्त धूमों का सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष ज्ञान न मानने पर वे अज्ञात ही रह जायेंगे फलतः उनमें भी वह्नि की व्याप्ति का सन्देह नहीं हो सकेगा,[१] क्योंकि

---

१. गङ्गेशस्तु महानसीय-धूमे व्याप्ति-प्रत्यक्षे सति धूमत्वसामान्यलक्षणाप्रत्यासत्या सकलधूमप्रत्याक्षानङ्गीकारे धूमो वह्नि-व्याप्यो नवेति संशयो न स्यात्। प्रसिद्ध-धूमे प्रत्यक्षेण व्याप्तिनिश्चयात्। अन्यस्य चाज्ञानात्सन्देहानुपपत्तिः।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २१, पङ्क्ति ३१ से पृ० २२, पङ्क्ति १

सन्देह में धर्मि-ज्ञान कारण होता है जो बिना सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष माने सम्भव नहीं है अतः **'धूमो वह्नि व्याप्यो न वा'** इस सन्देह की उपपत्ति के लिए सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष मानना आवश्यक है। इसे मान लेने पर महानसीय धूम के लौकिक प्रत्यक्ष के साथ ही धूमत्व-सामान्य-रूप या सामान्य-ज्ञान-रूप सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष से सकल धूमों का अलौकिक प्रत्यक्ष-ज्ञान हो जाने से कोई भी धूम अज्ञात नहीं रहेगा। फलतः महानसीय प्रत्यक्षगम्य धूम से अतिरिक्त इस सामान्य-लक्षणा सन्निकर्ष द्वारा ज्ञात धूमों में वह्नि की व्याप्ति का निश्चय न होने के कारण इनमें वह्नि की व्याप्ति है? या नहीं? अर्थात् ये धूम वह्नि के व्याप्य हैं? या नहीं? इस व्याप्ति-सन्देह की उपपत्ति हो जाती है।

तत्त्वचिन्तामणिकार का दूसरा तर्क यह है कि इस सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष को न मानने पर सुख-प्राप्ति के लिए लोगों की जो कर्मों में (लौकिक सुखों की प्राप्ति के लिए लौकिक कर्मों में तथा स्वर्गादि पारलौकिक सुखों की प्राप्ति के लिए यागादि वैदिक कर्मों में) प्रवृत्ति होती है, वह नहीं हो पाएगी। प्रवृत्ति उसी वस्तु के लिए होती है जिसे प्राप्त करने की इच्छा हो। जो सुख प्राप्त हो चुका है उसे प्राप्त करने की इच्छा न होने से उसकी प्राप्ति के लिए कर्मों में प्रवृत्ति नहीं होगी तथा प्राप्त सुख से अतिरिक्त सुख सामान्य-लक्षणा-सन्निकर्ष न मानने पर अन्य किसी भी प्रकार से ज्ञात न हो पाने से अज्ञात ही रह जायेंगे तथा इच्छा ज्ञात एवं अप्राप्त सुखों की प्राप्ति के लिए ही होती है। प्रवृत्ति भी उन्हीं के प्रति सम्भव है अतः यदि सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष न माना जाए तो सिद्ध सुख की प्राप्ति हो जाने से और उससे अतिरिक्त सुख के अज्ञात रह जाने के कारण उनके प्रति भी इच्छा के अभाव में प्रवृत्ति न हो पाने से किसी भी सुख की प्राप्ति के लिए कर्मों में किसी की भी प्रवृत्ति नहीं होगी। लेकिन सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष मान लेने पर सिद्ध सुख के साथ उसमें विद्यमान सुखत्व-सामान्य (जाति) का लौकिक प्रत्यक्ष हो जाने पर इस सुखत्व-सामान्य रूप या सामान्य-ज्ञानरूप सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष से अननुभूत सुखों का भी अलौकिक प्रत्यक्षज्ञान हो जाने के कारण इनकी इच्छा तथा फिर तदनुकूल कर्मों में प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाएगी।

इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सुखार्थ-कर्मों में प्रवृत्ति होने के लिए सुख-विषयक इच्छा भी नितान्त आवश्यक है लेकिन सामान्य-लक्षणा-सन्निकर्ष न मानने पर सुखार्थ इच्छा भी नहीं होगी,[१] क्योंकि इच्छा भी उसी सुख की प्राप्ति के लिए होती हैं जो ज्ञात तथा अप्राप्त हो। जो सुख प्राप्त हो गया

---

१. एवं सुखादाविच्छापि न स्यात्। -भाट्टचिन्तामणि, पृ० २२, पङ्क्ति २ से ३

है, वह अप्राप्त न होने से उसकी प्राप्ति के लिए इच्छा नहीं होगी तथा प्राप्त सुख से अतिरिक्त सुख सामान्य-लक्षणा-सन्निकर्ष न मानने पर अज्ञात रह जाने से उनकी प्राप्ति के लिए भी इच्छा नहीं होगी। इस प्रकार सामान्य-लक्षणा-सन्निकर्ष न मानने पर ज्ञात-अज्ञात किन्हीं भी सुखों की प्राप्ति के लिए इच्छा नहीं हो सकेगी। सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष-मान लेने की दशा में किसी एक सुख की प्राप्ति होने पर उसके साथ उसमें विद्यमान सुखत्व-सामान्य का लौकिक प्रत्यक्ष हो जाने के पश्चात् उस सुखत्व-रूप सामान्य-लक्षणा-सन्निकर्ष से अप्राप्त सुखों का अलौकिक प्रत्यक्षज्ञान हो जाने पर उनकी प्राप्ति के लिए होने वाली इच्छा के लिए आवश्यक ज्ञातत्व तथा अप्राप्तत्व, इन दोनों अंशों की अप्राप्त सुखों में उपपत्ति हो जाती है।

सामान्य-लक्षणा-सन्निकर्ष की आवश्यकता के प्रतिपादनार्थ तत्त्वचिन्ता-मणिकार गङ्गेश उपाध्याय का चौथा तर्क यह है कि सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष न मानने पर' कपालों में घट के प्रागभाव का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा क्योंकि अनुत्पन्न पदार्थ ही प्रागभाव का प्रतियोगी होने से कपालवृत्ति घट-प्रागभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोगी के रूप में अनुत्पन्न घट का ही भान मानना होगा लेकिन अनुत्पन्न घट के साथ इन्द्रिय का लौकिक सन्निकर्ष हो नहीं हो सकता अतः ज्ञानलक्षणारूप अलौकिक सन्निकर्ष से ही इसका भान मानना होगा। इसी प्रकार कपाल-वृत्ति घट-प्रागभाव के प्रतियोगी अनुत्पन्न घट का प्रत्यक्ष न हो पाने से उसके प्रागभाव का भी प्रत्यक्ष नहीं होगा फलतः **कपालेषु घटः** इस वाक्य के श्रवण से होने वाले' कपालाधिकरणकवर्त्तमानप्रागभाव-प्रतियोगी घट, इस शाब्द बोध की भी सङ्गति नहीं होगी।[१]

सामान्यलक्षणा-सिन्नकर्ष मान लेने की दशा में किसी एक घट-व्यक्ति के साथ लौकिक सन्निकर्ष-द्वारा घटत्व-सामान्य का ज्ञान हो जाने पर इस घटत्व या घटत्व-ज्ञान-रूप-सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष से अनुत्पन्न घटका भी ज्ञानलक्षणा-सन्निकर्ष द्वारा भान हो जाने से घट-प्रागभाव का प्रत्यक्षज्ञान भी उपपन्न हो जाता है।

इस प्रकार तत्त्वचिन्तमणिकार के मतानुसार प्रदर्शित उपर्युक्त चारों स्थलों में उपपत्ति के निर्वाहार्थ सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष मानना नितान्त आवश्यक है।

१. एवं कपालाधिकरणको वर्त्तमानप्रागभावप्रतियोगी घट इति शाब्दबोधोपि न स्यात्।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २२, पङ्क्ति ५ से ६

२. अत्र शिरोमणिः। प्रसिद्धधूमे तद्धूमत्वेन व्याप्तिनिश्चयेपि धूमत्वेन तन्निश्चयाभावात् उक्तसंशयस्य नानुपपत्तिः। समानप्रकारकनिश्चयस्यैव संशयादिविरोधित्वात्।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २२, पङ्क्ति ७ से ९

रघुनाथ-शिरोमणिकृत सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष-खण्डन

तत्त्वचिन्तामणिकार ने जिन प्रयोजनों के लिए सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष को आवश्यक बताया था उन सभी प्रयोजनों की दीधीतिकार रघुनाथ शिरोमाणि ने प्रकारान्तर से सङ्गति प्रदर्शित करते हुए सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष का खण्डन कर दिया है। दीधीतिकार रघुनाथ शिरोमणि के तर्क निम्नलिखित हैं।

(१) तत्त्वचिन्तामणिकार गंगेश उपाध्याय ने महानीय धूम के प्रत्यक्ष के साथ उसमें विद्यमान धूमत्व-रूप सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष से सकल धूमों का ज्ञान न मानने पर 'धूमो वह्नि-व्याप्यो न वा' इस संशय की जो अनुपपत्ति प्रदर्शित की थी उसकी प्रकारान्तर से उपपत्ति प्रदर्शित करते हुए दीधीतिकार कहते हैं कि सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष न मानने पर भी इस संशय की अनुपपत्ति नहीं होगी, क्योंकि महानस में धूम-व्यक्ति-विशेष में ही वह्नि की व्याप्ति का निश्चय हुआ है, धूम मात्र में नहीं, अतः महानसीय धूम में वह्नि की व्याप्ति का ज्ञान हो जाने पर भी तदतिरिक्त धूमों में ये धूम वह्निव्याप्य हैं या नहीं, इस संशय की अनुपपत्ति नहीं होती, क्योंकि समान प्रकारक निश्चय ही संशय का विरोधी होता है।[२] महानसीय धूम में वह्निव्याप्ति के निश्चय का महानसीय धूम वह्नि-व्याप्य है या नहीं? इस समान-प्रकाररक संशय के साथ ही विरोध होने के कारण महानसीय धूम में इस संशय की अनुपपत्ति नहीं होगी, क्योंकि यहाँ पर संशय के विषयभूत महानसीय धूमों से अतिरिक्त जो धूम हैं, उनकी महानसीय धूम-विषयक निश्चय के साथ समान-प्रकारता नहीं है।

यदि इस पर पूर्वपक्षी यह आपत्ति उपस्थित करें कि धूमत्व-रूप से धूम में वह्नि की व्याप्ति का निश्चय हो जाने पर (सभी धूमों में वह्नि की व्याप्ति का निश्चय हो जाने पर) 'धूमो वह्नि-व्याप्यो न वा' इस संशय की कहीं भी उपपत्ति नहीं होगी, तो इस पर दीधीतिकार रघुनाथ शिरोमणि का कहना है कि धूमत्व-रूप से धूम में वह्नि की व्याप्ति का निश्चय हो जाने पर उपर्युक्त संशय का कहीं भी न हो पाना हमें इष्ट ही है।[१] अतः इस प्रकार सामान्य-लक्षणा-सन्निकर्ष माने बिना भी उक्त संशय चरितार्थ हो जाता है।

इसी प्रकार यह सामान्य-लक्षणा-सन्निकर्ष न मानने पर सुखार्थ कर्म में

---

१. धूमत्वेन व्याप्तिनिश्चये संशयाभावस्येष्टत्वात्।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ २२, पङ्क्ति ९

प्रवृत्ति नहीं होगी, यह जो दूसरा तर्क तत्त्वचिन्तामणिकार ने प्रस्तुत किया था उसके निराकरणार्थ दीधीतिकार रघुनाथ शिरोमणि कहते हैं कि तत्प्रकारक निश्चय ही इच्छा तथा प्रवृत्ति में हेतु (कारण) होता है अतः सामान्य रूप से सुख की इच्छा होने पर प्राप्त सुख से अन्य सुखों में विशिष्ट सुख का निश्चय हो जाने पर सुख-विशेष में इच्छा तथा प्रवृत्ति की उपपत्ति हो जाती है।[1]

सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष के अभाव में कपालवृत्ति-घट प्रागभाव का प्रत्यक्ष नहीं होगा, ऐसा तर्क तत्त्वचिन्तामणिकार ने उपस्थित किया था, जिसके निराकरणार्थ रघुनाथ शिरोमणि कहते हैं कि 'कपालेषु घट-प्रागभावः' यहाँ पर घट-विशिष्ट-प्रागभाव के ज्ञान में घट रूप विशेषण-ज्ञान की तथा घट-विशिष्ट-प्रागभाव से विशिष्ट कपाल के विशिष्ट-वैशिष्ट्य-ज्ञान में विशेषणतावच्छेदकप्रकारक-निश्चय की कारणता मान लेने पर कपालवृत्ति घट-प्रागभाव का प्रत्यक्षज्ञान उपपन्न हो जाने से सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष के अभाव में भी प्रागभाव का प्रत्यक्ष-ज्ञान होने की अनुपपत्ति नहीं होगी।[2]

दूसरी बात यह है कि प्रागभाव का अस्तित्व ही संदिग्ध है और यदि प्रागभाव मान भी लें तो भी 'घटो भविष्यति' (घड़ा उत्पन्न होगा।) यहाँ पर घट के प्रागभाव की प्रतीति न होकर प्रागभाव के उत्पत्ति की ही प्रतीति होती है तथा उस उत्पत्ति की काल-सम्बन्धरूपता होने के कारण वह प्रत्यक्षगम्य नहीं है अतः इसका प्रतियोगी प्रागभाव भी प्रत्यक्षगम्य नहीं है और जब प्रागभाव ही प्रत्यक्षगम्य नहीं है, तब इस प्रागभाव के प्रत्यक्ष-ज्ञानार्थ इसके प्रतियोगी, उत्पन्न घट की ज्ञानलक्षणा द्वारा प्रतीति होने के लिए पहले सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष द्वारा इसका ज्ञान मानने का प्रश्न ही नहीं उठता।[3]

---

१. एवमिच्छाप्रवृत्योरपि तत्प्रकारकनिश्चयहेतुकतया नानुपपत्तिः।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २२, पङ्क्ति २०

२. विशिष्टज्ञाने विशेषणज्ञानस्य हेतुत्वाङ्गीकारेण विशिष्ट-वैशिष्ट्यबोधे विशेषणतावच्छेदक-प्रकारक निश्चयस्य हेतुत्वाङ्गीकारेण च न प्रागभावप्रत्यक्षानुपपत्तिः।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २२, पङ्क्ति १० से १३

३. किञ्च प्रागभावत्त्वेप्यत्र घटो भविष्यतीत्यत्र न घट-प्रागभावप्रतीतिः किन्तूत्पत्ति-प्रागभावस्य। तस्याश्च कालसम्बन्धरूपाया अप्रत्यक्षत्वात् तत्प्रतियोगिकप्रागभावस्य सुतरामप्रत्यक्षत्वात् तत्प्रतियोगि-प्रत्यक्षार्थं का कथा सामान्यलक्षणायाः।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २२, पङ्क्ति १३ से १६

इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए दीधीतिकार रघुनाथ शिरोमणि कहते हैं कि 'भविष्यति' ('भविता') इत्यादि में भू' धातु का अर्थ उत्पत्ति है तथा उस उत्पत्ति का अनुकूल (जनक) व्यापार, यह आख्यात (तिङ्) का अर्थ है। इसलिए घटो भविष्यति, घटो भविता, इत्यादि वाक्यों का वर्तमान काल से उत्तर कालीन कपाल जिसका अधिकरण है ऐसा कपालाधिकरणक, उत्पत्ति के अनुकूल (जनक) व्यापार वाला या वर्तमान प्रागभाव के प्रतियोगी के उत्पत्ति के अनुकल (जनक) व्यापार वाला घट ऐसा शब्द-बोध हो जाता है। यहाँ पर उत्पत्ति के अनूकूल व्यापार वाला घट इतना कहने की अपेक्षा लाघव-सहकृत उत्पत्ति का आश्रय घट ऐसा भी कहा जा सकता है।

इसी प्रकार 'घटो नङ्क्ष्यति' यहाँ पर धातु का अर्थ नाश है तथा वर्तमान प्रागभाव के प्रतियोगी की उत्पत्ति होना ही उत्पत्तिकत्वरूप भविष्यत्व है, जिसका प्रतियोगिता-सम्बन्ध से धात्वर्थ नाश में अन्वय होता है अतः इस वाक्य का वर्तमान प्रागभाव के प्रतियोगी घट की उत्पत्ति वाला कपाल जिसका अधिकरण है, ऐसे नाश का प्रतियोगी घट[१] यह शाब्द-बोध हो जाता है।

यहाँ पर वर्तमानोत्तर कालीनत्व का प्रागभाव, उसके प्रतियोगी घट या नाश के साथ अन्वय होना सम्भव नहीं है, क्योंकि इनके साथ अन्वय मानने पर 'परसों होगा' परसों नष्ट होगा, कल नष्ट होगा, कल होगा' इत्यादि प्रयोग होने की आपत्ति होगी तथा' घर के आंगन में आने वाले देवदत्त में कल उत्पन्न होगा, ऐसा प्रयोग होने की भी आपत्ति होगी अतः वर्तमानोत्तरकालत्व का उत्पत्ति में ही अन्वय होता है। प्रागभाव का प्रत्यक्षज्ञान ही न होने से इसके निमित भी सामान्यलक्षण-सन्निकर्ष मानने की आवश्यकता नहीं है।

भाट्टचिन्तामणिकार-कृत विषयोपसंहार

प्रागभाव के प्रत्यक्ष के लिए तत्त्व-चिन्तामणिकार द्वारा सामान्य- लक्षणा-सन्निकर्ष मानने का पक्ष तथा शिरोमणिकृत इसके खण्डन की समीक्षा करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि प्रागभाव के अस्तित्व में कोई प्रमाण ही नहीं है, अतः प्रागभाव से सम्बन्धित जो कुछ भी कहा गया है, वह गलित-गर्भस्राव के समान व्यर्थ है।[२]

---

१. वर्त्तमानप्रागभावप्रतियोग्युत्पतिककपालाधिकारणकनाशप्रतियोगी घट इति बोधः।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २२, पङ्क्ति २२ से २३

२. वस्तुतः प्रागभावे प्रमाणाभावात् सर्वमिदं गर्भस्रावगलितमिति।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २२, पङ्क्ति २८-२९

वास्तविकता यह है कि सिद्ध सुख में प्रवृत्ति हो नहीं सकती अतः असिद्ध सुखों में प्रवृत्ति हो सके इसलिए असिद्ध-सुखों के ज्ञानर्थ सुखत्व-रूप सामान्य- लक्षणा-सन्निकर्ष मानना आवश्यक है।

इसी प्रकार अरण्यस्थ जो दण्ड है, उनमें प्रवृत्ति को उत्पन्न कराने वाली घट-निरूपित हेतुता के ग्रहण के लिए भी दण्डत्वरूप सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष मानना आवश्यक है।

इसी तरह घट-पटादि के शक्ति-ग्रहणार्थ भी सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष मानना आवश्यक है।[१]

ज्ञानलक्षणा-सन्निकर्ष-निरूपण

लौकिक प्रत्यक्ष द्वारा किसी वस्तु का ज्ञान हो जाने पर उस वस्तु के ज्ञान का इन्द्रिय के साथ जो सन्निकर्ष होता है, वही ज्ञानलक्षणा-सन्निकर्ष है। इस सन्निकर्ष के आधार पर ऐसे ज्ञान में भी वस्तु विषय बन जाती है। जिसमें अन्य सन्निकर्षों के द्वारा उसका ज्ञान सम्भव नहीं है।

इस ज्ञानलक्षणा-सन्निकर्ष की आवश्यकता के प्रतिपादनार्थ भाट्टचिन्तामणिकार का कहना है कि यदि इसे न माना जाए तो चन्दन-खण्ड में रहने वाले सौरभ का घ्राणेन्द्रिय द्वारा पहले ज्ञान हो चुकने पर भी' सुरभिचन्दन (चन्दन सुगन्धित है।) ऐसा सौरभयुक्त चन्दन-खण्ड का चाक्षुष प्रत्यक्ष-रूप ज्ञान नहीं हो पाएगा, क्योंकि सौरभ या सौरभत्व-अंश के साथ इन्द्रिय का लौकिक सन्निकर्ष सम्भव नहीं है अतः यहाँ पर सौरभ या सौरभत्व का ज्ञान ही इन्द्रिय का सन्निकर्ष है।[२]

यद्यपि सौरभत्व-रूप सामान्य-लक्षणा-सन्निकर्ष द्वारा सौरभ का ज्ञान हो सकता है, तथापि सौरभत्व का ज्ञान सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष से भी सम्भव नहीं है क्योंकि जाति अखण्डोपाधि से अतिरिक्त पदार्थों का ज्ञान ही किसी धर्म की प्रकारता से युक्त होता है। जाति तथा अखण्डोपाधि का ज्ञान निष्प्रकारक ही हुआ करता है। सौरभ का ज्ञान सौरभत्व-धर्म से सामान्य-लक्षणा द्वारा हो सकने पर भी 'सौरभत्व' यह जाति होने से इसका किसी भी धर्म द्वारा ज्ञान असम्भव

---

१. वस्तुतः सिद्धसुखविषयक-प्रवृत्यभावादसिद्धसुखज्ञानार्थमरणस्थदण्डादौ प्रवृत्तिजनकघट-हेतुताग्रहार्थं शक्ति-ग्रहार्थञ्च सामान्यलक्षणावश्यकीति युक्तम्।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २३, पङ्क्ति

२. एवं ज्ञानलक्षणानङ्गीकारे ज्ञातस्य सुरभिचन्दनखण्डस्य चक्षुषा सुरभिचन्दनमितिज्ञानं न स्यात्। सौरभांशे सौरभत्वांशे वा प्रत्यासत्तेरभावात्। अतस्तत्रतज्ज्ञानमेव प्रत्यासतिः।।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २३, पङ्क्ति ८ से १०

है अतः इस सौरभत्व जाति के अलौकिक मानस-प्रत्यक्ष-ज्ञान के लिए ज्ञान-लक्षणा-सन्निकर्ष मानना आवश्यक है।[1]

ग्रन्थकारकृत योगज-सन्निकर्ष-खण्डन

नैयायिक सामान्यलक्षणा, ज्ञानलक्षणा के अतिरिक्त योगजधर्म को तृतीय अलौकिक सन्निकर्ष मानते हैं।[2] भाट्टचिन्तामणिकार इस योगज-धर्म-रूप अलौकिक सन्निकर्ष मानने के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कहते हैं कि योगियों में इस सन्निकर्ष के होने में कोई प्रमाण नहीं है अतः इसे नहीं माना जा सकता।

यदि योगियों में योगज-धर्म-प्रत्यासत्ति होने में इतिहास, पुराणादि प्रमाण हैं, ऐसा पूर्वपक्षी कहें तो उनका यह कथन भी युक्त नहीं होगा, क्योंकि इतिहास-पुराणादि का तात्पर्य योगजधर्म-प्रत्यासत्ति के प्रतिपादन में न होकर इससे अन्य विषयों के प्रतिपादन में ही है अतः योगजधर्म-प्रत्यासत्ति में प्रमाण न होने से इसे नहीं माना जा सकता।[3]

२. अनुमान-प्रमाण-निरूपण

जिस प्रमाण के द्वारा हेतु के ज्ञान के पश्चात् साध्य के ज्ञान की उत्पत्ति होती है, वही अनुमान-प्रमाण है।

अनुमिति-निरूपण

अनुमान-प्रमाण से उत्पन्न होने वाले अनुमिति रूप यथार्थ ज्ञान के विषय में भाष्यकार शबर स्वामिन् का कहना है कि साधन (व्याप्य) तथा साध्य (व्यापक) के व्याप्ति रूप साहचर्य सम्बन्ध का ज्ञान होने के पश्चात् हेतु

---

१. जात्यखण्डोपाध्यतिरिक्तपदार्थज्ञानस्य किञ्चिद्धर्मप्रकारत्वनियमेन सौरभत्वजातौ तु केनाऽपि धर्मेण ज्ञानाऽनुत्पादात् सौरभत्वस्य स्वरूपतोऽलौकिकमानसः साक्षात्कारो ज्ञानलक्षणाजन्य एव भवतीति तदर्थं ज्ञानलक्षणावश्यकत्वात्। - द्रष्टव्य न्यासिद्धान्त-मुक्तावली, पृ० २१६, पङ्क्ति १३ से १५

२. अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः।
सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा।।

–न्या० सि० मु० प्रत्यक्षखण्ड, कारिका ६३

३. तद्योगिषु मानाभावेनासुन्दरम्। न चेतिहासपुराणादिमानम्। तस्यान्यतात्पर्यकत्वादिति दिक्।
–भाट्टचिन्तामणि, पृ० २३, पङ्क्ति ११ से १३

(एकदेश) के दर्शन से जिसके साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं हो रहा है, ऐसे असन्निकृष्ट साध्य (देशान्तर) का ज्ञान अनुमिति प्रमारूप अनुमान है।[१]

भाष्यकार शबर स्वामिन् के इस अनुमितिप्रमारूप अनुमान के लक्षण का विवेचन करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि सामान्य रूप से अर्थात् धूमत्व-सामान्य से समस्त धूमों में वह्नि की व्याप्ति का ज्ञान हो जाने पर पर्वतस्थ धूम-विशेष के अवलोकन से साध्य का अस्तित्व सन्दिग्ध होने पर संदिग्ध साध्यवाले पर्वत रूप अधिकरण में इन्द्रिय-सन्निकर्ष के बिना साध्य वह्नि का **'पर्वतो वह्निमान्'** ऐसा निश्चय रूप से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमिति-प्रमा है।[२]

अनुमान-प्रमाण-निरूपण

नव्य-नैयायिकों के समान भाट्टचिन्तामणिकार ने भी हेतु (लिङ्ग) के ज्ञान को ही उपर्युक्त अनुमिति-प्रमा का करण अनुमान-प्रमाण माना है।

प्राचीन नैयायिकों के मतानुसार अनुमिति के प्रति जाना जाता हुआ (ज्ञायमान) हेतु (लिङ्ग) ही करण होता है।[३]

प्राचीन नैयायिकों के 'ज्ञायमान हेतु' को अनुमिति का करण मानने के सिद्धान्त का निराकरण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि यदि ज्ञायमान हेतु को अनुमिति का करण मानें तो **'इयं यज्ञशाला भावि-वह्निमती, भविष्यद्धूमात्'** (यह यज्ञशाला भावी वह्निमती है, इसमें धूम होने से) तथा **'इयं**

---

१. ''अनुमानं तु ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनाद्देशान्तरेऽसन्निकृष्टे बुद्धिः।'' (शाबर भाष्य, पृ० ३६)

इति भाष्ये उक्तम्। सामान्यरूपेण ज्ञातव्याप्तिकस्य व्यक्तिविशेषदर्शनजन्यं सन्दिग्धसाध्यवदधिकरणकमसन्निकृष्ट-साध्यविषयकं निश्चयरूपं ज्ञानमनुमितिरित्यर्थः।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० २३, पङ्क्ति १५ से १८

२. 'मीयते इति मानम् अनु पश्चात् व्याप्य-दर्शनात् मीयते जायते यद् ज्ञानं तदनुमानम्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर अनु उपसर्गक मान् धातु से ल्युट्च पा० सू० ३।३। ११५। से ल्यूट्, उसके स्थान पर 'युवोरनाकौ' इस सूत्र से अन आदेश होकर प्रमा अर्थ में यहाँ अनुमान-शब्द का प्रयोग हुआ है।

३. प्राचीनास्तु व्याप्यत्वेन ज्ञायमानं लिङ्गमनुमितिकरणमिति वदन्ति।

–न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली, पृ० २२०, पङ्क्ति १

यज्ञशाला अतीत वह्निमती अतीत-धूमात्' (यह यज्ञशाला भूत काल में वह्नि से युक्त रही है, इसमें विनष्ट धूम होने के कारण), इन भावी तथा अतीत अनुमिति-स्थलों में अनुमिति-करण अर्थात् हेतु (लिङ्ग) विद्यमान न होने के कारण इन अनुमितियों की असिद्धि हो जाती है अतः इस असिद्धि के निवारणार्थ भाट्टचिन्तामणिकार ने नव्य-न्यायाभिमत हेतु के ज्ञान को ही अनुमिति का करण माना है।[१]

अनुमिति-सामग्री व्याप्ति तथा पक्षता का निरूपण

यद्यपि हेतु को ही अनुमिति का करण माना गया है तथापि जिस हेतु में साध्य की व्याप्ति तथा अनुमिति-स्थल-सम्बन्ध-रूप पक्षता (पक्षधर्मता) होती है उसी हेतु से अनुमिति-प्रमा उत्पन्न होती है अतः अनुमिति के लिए हेतु के साथ ही साथ हेतु में साध्य की व्याप्ति एवं पक्षधर्मता रूप अनुमिति-सामग्री का सन्निधान भी आवश्यक है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर भाट्टचिन्तामणिकार ने व्याप्ति तथा पक्षता (पक्षधर्मता) का विशद विवेचन किया है।

व्याप्ति-निरूपण प्रथम लक्षण

अनुमिति के लिए आवश्यक व्याप्तिज्ञान की विषयभूत व्याप्ति के भाट्टचिन्तामणिकार ने केवलान्वयी, केवल व्यतिरेकी तथा अन्वय व्यतिरेकी ये तीन भेद माने हैं। इनमें मीमांसा-सम्प्रदाय में केवलान्वयी तथा केवल व्यतिरेकी व्याप्ति मान्य नहीं है। ग्रन्थकार ने मीमांसा-सम्प्रदाय की इस मान्यता को ध्यान में रखते हुए तत्त्वचिन्तामणिकार गङ्गेश उपाध्याय द्वारा उपस्थापित 'साध्यवदन्यावृत्तित्वम्'[२] इस व्याप्ति लक्षण को सम्प्रदाय के प्रथम सिद्धान्तलक्षण के रूप में उपस्थापित किया है।

इस लक्षण के अनुसार साध्यवान् (साध्य के अधिकरण) से भिन्न स्थलों

---

१. तत्करणमनुमानं तच्च भूतभाविलिङ्गेनानुमित्यनुत्पत्यापत्तेज्ञानिमेव, न तु ज्ञायमानो हेतुः।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २४, पङ्क्ति १४ से १५
अनुमीयते अनेन इति इस व्युत्पत्ति में अनु उपसर्गक मान धातु से करणाधिकरणयोश्च (पा० सू० ३।३।११७) से करण अर्थ में ल्युट्, उसे युवोरनाकौ पा० सू० ७।१।१ से अन आदेश से निष्पन्न अनुमान शब्द यहाँ पर अनुमिति प्रमा के करण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

२. तत्त्वचिन्तामणि-अनुमान गादाधारी व्याप्ति पञ्चक-प्रकरण, पृ० ११३

में हेतु का विद्यमान न रहना ही हेतु में साध्य की व्याप्ति है। **'पर्वतो वह्निमान् धूमात्'** इस प्रसिद्ध अनुमान-स्थल में साध्य वह्नि के अधिकरण महानस, पर्वत, चत्वर, गोष्ठ तथा अयोगोलक (तपे हुए लोहे के गोले) से भिन्न अधिकरणों में, जहाँ साध्य वह्नि नहीं रहता, वहाँ हेतु धूम के भी न रहने के कारण हेतु-धूम में इस लक्षण का समन्वय हो जाता है।[1]

किसी भी लक्षण की शुद्धता के लिए यह आवश्यक है कि वह लक्ष्य के किसी एक भाग में न रहने के लक्ष्यैकदेशावृत्तित्व रूप अव्याप्ति, अलक्ष्य में विद्यमानता रूप अति-व्याप्ति तथा लक्ष्य के किसी भी भाग में न रहने के असम्भव रूप त्रिविध दोषों से मुक्त हो। उपर्युक्त व्याप्ति-लक्षण की **'पर्वतो वह्निमान् धूमात्'** इस अनुमान में सद्हेतु धूम में सङ्गति हो जाने से लक्षण असम्भव दोष से मुक्त है, यह तथ्य स्वतः सिद्ध हो जाता है। फलतः इस व्याप्ति-लक्षण की शुद्धता के लिए इसका अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति इन दोनों दोषों से मुक्त रहना ही अवशिष्ट रह जाता है।

व्याप्ति-लक्षण का अतिव्याप्ति-दोष-राहित्य

उपर्युक्त व्याप्तिलक्षण का अतिव्याप्ति-दोष-राहित्य प्रदर्शित करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि **'पर्वतो वह्निमान् धूमात्'** इस स्थल में धूम में इस व्याप्ति के लक्षण का समन्वय हो जाने से जिस प्रकार यह लक्षण असम्भव दोष से मुक्त है, उसी प्रकार अतिव्याप्ति-दोष से भी मुक्त है। **'पर्वतो धूमवान् वह्नेः'** इस स्थल में साध्य धूम तथा हेतु वह्नि है, लेकिन यह सद्हेतु न होकर असद्हेतु है। यदि इस स्थल में वह्नि रूप असद्हेतु में इस लक्षण का समन्वय हो जाता तो लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती, लेकिन इस असद् हेतु में लक्षण का समन्वय नहीं होता। कारण यह है कि यहाँ पर साध्य धूम के अधिकरण महानस्, पर्वत, चत्वर तथा गोष्ठ से भिन्न अयोगोलक में साध्य धूम नहीं रहता। यदि हेतु-वह्नि भी इसमें नहीं रहता तो इस असद् हेतु-उपलक्ष्य वह्नि में व्याप्ति के लक्षण की सङ्गति हो जाने से लक्षण अतिव्याप्ति-दोष से ग्रस्त हो जाता, लेकिन साध्य धूम के अधिकरण महानसादि से भिन्न अयोगोलक में हेतु के

---

१. अथ केयं व्याप्तिः। अत्र गौडमैथिल-सर्वस्वम्। साध्यवदन्यावृत्तित्वं व्याप्तिः। वह्निमन्महानसान्यह्रदाववृत्तित्वाद् धूमे लक्षण-समन्वयः।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० २४, पङ्क्ति १६ से १७

अवृत्तित्व का अभाव होने के कारण इस अनुचित स्थल में व्याप्ति-लक्षण की सङ्गति नहीं होती अतः व्याप्ति-लक्षण अतिव्याप्ति दोष से युक्त नहीं है।[१]

पूर्वपक्ष की यह आपत्ति है कि उपर्युक्त व्याप्तिलक्षण असम्भव तथा अतिव्याप्ति दोषों से भले ही मुक्त हो, लेकिन लक्ष्य के एकदेश वह्नि के अवयव में विद्यमान वह्नि के अधिकरण-वह्नि के अवयवों से भिन्न महानसादि में हेतु धूम का वृत्तित्व होने के कारण लक्षण की इस स्थल में वह्नि-निरूपित-व्याप्ति के आश्रय धूम में अव्याप्ति हो जाती है अतः व्याप्ति-लक्षण अव्याप्ति दोष से ग्रस्त है।

इस उपर्युक्त आपत्ति के निराकरणार्थ भाट्टचिन्तामणिकार का कहना है कि यहाँ पर साध्यवान् (साध्य के अधिकरण) को साध्यतावच्छेक सम्बन्ध से ही समझना चाहिए। जिस सम्बन्ध से साध्य अपने अधिकरण में रहता है, उसे साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध कहते हैं। महानस, पर्वत, चत्वर गोष्ठादि में वह्नि संयोग सम्बन्ध से रहता है। अतः ये संयोगरूप साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से साध्य के अधिकरण हैं। हेतु धूम भी यहाँ इसी साध्यातावच्छेदक संयोग सम्बन्ध से विद्यमान है। 'पर्वतो वह्निमान धूमात्' इस स्थल में संयोग-रूप साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से साध्यवान् पर्वत से महानसादि भिन्न नहीं होगें, क्योंकि ये सभी संयोग रूप साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से साध्यवान् हैं अतः साध्यवान् से अन्य (भिन्न) ह्रदादि हो जायेंगे। इसी प्रकार चूंकि संयोग रूप साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से वह्नि अपने अवयवों में न रहकर समवाय सम्बन्ध से रहता है, अतः वह्नि के अवयव भी साध्यगन् से भिन्न हो जायेंगे। फलतः इनमें धूम न रहने से उसमें लक्षण का समन्वय हो जाता है।

यदि साध्यवान् वह्नि के अवयव माने जाएँ तो साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध, समवाय होगा तथा महानसादि साध्याधिकरण वह्न्यवयव से भिन्न होंगे। उनमें यद्यपि धूम विद्यमान है तथापि वहाँ पर वह संयोग सम्बन्ध से ही रहता है। साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध समवाय से नहीं। साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से उसका अवृत्तित्व ही है। इस प्रकार यहाँ व्याप्ति-लक्षण की सङ्गति हो जाने के कारण व्याप्ति-लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती।[२]

---

१. धूमवन्महानसान्यायो-गोलकवृत्तित्वाद् वह्नेरित्यसद्धेतौ च नातिव्याप्तिः।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ २४, पङ्क्ति १७-१८

२. अत्र साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन साध्यवान् बोध्यः। तेन समवायेन वह्निमद्वह्न्यवयवान्य-महानसवृत्तित्वेपि धूमस्य नाव्याप्तिः।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ २४, पङ्क्ति १९ से २०

उक्त प्रकार से सुधारणा करने पर 'साध्यतावच्छेदक सम्बन्धेन साध्यवदन्यावृत्तित्वम्' इस प्रकार व्याप्ति का लक्षण निष्पन्न होता है। पूर्वपक्ष का आक्षेप है कि 'साध्यवदन्यावृत्तित्वम्' इस व्याप्ति-लक्षण में उपर्युक्त सुधारणा करने पर वह्न्यवयव स्थल में लक्षण की अव्याप्ति यद्यपि रुक जाती है तथापि 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस प्रसिद्ध अनुमान में ही व्याप्ति-लक्षण अव्याप्त हो जाता है। 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस स्थल में साध्य वह्नि होने से साध्यवान् पर्वत से अन्य महानस, चत्वर आदि में लक्षण के अनुसार धूम नहीं रहना चाहिए था लेकिन धूम वहाँ विद्यमान रहता है अतः इस प्रसिद्ध अनुमान-स्थल में व्याप्ति-लक्षण की अव्याप्ति हो जाती है।

पूर्वपक्ष की इस आपति के निराकरणार्थ भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि 'साध्यवदन्यावृत्तित्वम्' इस लक्षण में साध्यवान् से अन्य (भेद) को सकल साध्य के अधिकरण में रहने वाले साध्यवत्वरूप धर्म से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाले 'साध्यवान् न' इस भेद का आश्रय समझना चाहिए। ऐसा मानने पर पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस स्थल में जिस किसी वह्नि के अधिकरण महानस आदि से भिन्न पर्वत आदि में धूम के रहने पर भी कोई दोष नहीं होता, क्योंकि संयोग सम्बन्ध से 'साध्यवान् न' यह भेद पर्वत में असम्भव होने के कारण इस भेद का आश्रय ह्रद ही होगा। इसमें धूम के न रहने से उसमें व्याप्तिलक्षण का समन्वय हो जाता है। इस प्रकार साध्यवदन्य का 'साध्यवत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदवान्' ऐसा अर्थ करने पर प्रसिद्धानुमान में लक्षण की होने वाली अव्याप्ति निरस्त हो जाती है।[१]

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'साध्यवदन्य' यहाँ पर साध्यवत् और अन्य ये दो शब्द हैं। इनमें साध्यवत् शब्द का अर्थ साध्य वाला तथा अन्य का अर्थ भेदवान् होने से 'साध्यवदन्य' पद का साध्यवद् भेदवान् यही यथाश्रुत अर्थ निष्पन्न होने के कारण इसका 'साध्यवत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदवान् ऐसा अर्थ किस प्रकार हो सकता है?

इस प्रश्न का यही समाधान दिया जा सकता है कि यहाँ 'साध्यवद्' पद से ऐसे अर्थ की विवक्षा है जिससे सकल साध्य वालों (साध्याधिकरणों) का

---

१. साध्यवदन्यश्च साध्यवत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकभेदवान् बोध्यः। तेन यत्किञ्चिद्व-ह्निमदन्यवृत्तित्वेपि धूमस्य नाव्यप्तिः।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० २४, पङ्क्ति २० से २२

संग्रह हो जाए। इसलिए साध्यवद् पद का निरूढ़ लक्षणा द्वारा साध्यत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक' ऐसा अर्थ करना चाहिए। अन्य पद का अर्थ भेदवान् (भेदाऽधिकरण) होने से अब साध्यवत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेद के अधिकरण का निरूपितत्व सम्बन्ध से असम्बन्ध पद के अर्थ वृत्तित्वा-भाव के प्रतियोगी वृत्तित्व में अन्वय करने पर 'साध्यवत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदाऽधिकरण निरूपित-वृत्तित्वाभाव' यह व्याप्ति-लक्षण सम्पन्न हो जाता है।

यहाँ यदि साध्यवद् पद का साध्यवत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक ऐसा अर्थ न मानें तो साध्यवत्वावच्छिन्न प्रतियोगिक भेदाऽधिकरण-निरूपित-वृत्तित्वाभाव यही लक्षण का स्वरूप होगा जिसकी 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस प्रसिद्ध स्थल में ही अव्याप्ति हो जाएगी। यहाँ पर साध्य वह्नि होने से महानसादि साध्यवान् होंगे तथा 'वह्निमान् महानस न' इस भेद के अधिकरण पर्वत में धूम की विद्यमानता होने से उसके वृत्तित्व का अभाव नहीं है अत: लक्षण की अव्याप्ति हो जाती, लेकिन साध्यवद् पद का साध्यवत्वावच्छिन्न प्रतियोगिता के यह अर्थ करने पर 'वह्निनमान् महानस न' यह भेद वह्निमन्म-हानसत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक ही होगा, साध्यवत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक नहीं क्योंकि साध्यवत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेद से साध्यवान् ने (वह्निमान् न) इस भेद का अधिकरण जलह्रद ही होगा अत: लक्षण की अव्याप्ति नहीं होगी।

इसी प्रकार जिस सम्बन्ध से हेतु का पक्ष में ज्ञान अनुमिति का कारण हो उसी सम्बन्ध से साध्वदन्यावृत्तित्व भी समझ लेने पर 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इत्यादि स्थलों में संयोग-सम्बन्ध से साध्य वाह्नि के अधिकरण पर्वत से अन्य (भिन्न) धूम के अवयवों में समवाय-सम्बन्ध से धूम के रहने पर भी अव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि पर्वत-रूप पक्ष में धूम का संयोग सम्बन्ध से ज्ञान ही अनुमिति का कारण है, समवाय-सम्बन्ध से नहीं, इसलिए उसी संयोग सम्बन्ध से धूमावयव में धूम की वृत्तिता न होने से यहाँ पर व्याप्ति-लक्षण का समन्वय हो जाता है। इसी तरह 'साध्यवद्न्यावृत्तत्वम्' में जो वृत्तित्वभाव है, उसे भी साध्यवद् से अन्य वृत्तित्वत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताक (प्रतियोगिता वाला) अभाव ही समझना चाहिए। फलत: 'धूमवान् वह्ने:' इस असद्धैतुक स्थल में साध्य धूम के अधिकरण पर्वत आदि से भिन्न जलह्रद आदि में वह्नि रूप हेतु के न रहने पर भी अव्याप्ति नहीं होती क्योंकि 'संयोगेन धूमवान् न' इस अभाव की वृत्तिता जैसे जलह्रद में है, वैसे ही अयोगोलक (तपाए हुए लोहे) में भी है। अयोगोलक

में अग्नि के रहने से असद्धेतु वह्नि में साध्यवदन्यावृत्तित्व न होकर वृत्तित्व ही है। फलतः यहाँ पर लक्षण की सङ्गति न होने से लक्षण में अतिव्याप्ति दोष नहीं होता।[१]

पूर्वपक्षी नैयायिकों का यह आक्षेप है कि उपर्युक्त व्याप्तिलक्षण की 'इदं ज्ञेयं वाच्यत्वात्' इस ज्ञेयत्व-साध्यक केवलान्वयी अनुमान में सङ्गति नहीं होगी। कारण यह है कि साध्य ज्ञेयत्व (ज्ञान-विषयता) सर्वत्र विद्यमान होने से केवलान्वयी है। सभी पदार्थ ज्ञानविषयता रूप साध्यतावान् होने के कारण उनसे अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। इसलिए 'साध्यवदन्यावृत्तित्वम्' इस लक्षण की यहाँ अव्याप्ति होने से यदि इसे निर्दोष लक्षण माना जाए तो केवलान्वयि-साध्यक अनुमान अनुपपन्न हो जायेंगे।[२]

उपर्युक्त आपत्ति का निराकरण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार साम्प्रदायिक आचार्यों का मत उपस्थापित करते हुए कहते हैं कि साध्यवदन्यावृत्तित्वम्' इस व्याप्ति-लक्षण की केवलान्वयी अनुमान में सङ्गति होने पर भी लक्षण दूषित नहीं है क्योंकि केवलान्वयी तथा केवल व्यतिरेकि-साध्यक अनुमिति स्वीकृत ही नहीं है अतः उपर्युक्त व्याप्तिलक्षण की केवलान्वयि-साध्यक अनुमिति में सङ्गति न होना ही इष्ट है।

अनुमान की शुद्धता के लिए यह आवश्यक है कि हेतु पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्व, अबाधित विषयत्व तथा असत् प्रतिपक्षत्व, इन पाँच रूपों से युक्त हो। केवलान्वयि-साध्यक अनुमान में हेतु पाँच रूपों से युक्त नहीं होता। जैसे 'इदं ज्ञेयं वाच्यत्वात्' यहाँ वाच्यत्व हेतु पाँच रूपों से उपपन्न नहीं है। कारण यह है कि संसार भर के सभी पदार्थों में ज्ञेयत्व होने से कोई विपक्ष ही नहीं होगा और जब, विपक्ष ही नहीं होगा तब 'विपक्षासत्व' यह योग्यता भी केवलान्वयि-साध्यक हेतु में न होने से उसमें पञ्च-रूपोपपन्नत्व भी नहीं हो पाएगा अतः केवलान्वयि-अनुमान, अनुमान ही नहीं है। इसी तरह केवल

---

१. वृत्तित्वाभावश्च वृत्तित्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकः। तेन धूमवदन्यजलावृत्तित्वेपि वह्नौ नातिव्याप्तिः।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २४, पङ्क्ति २२ से २३

२. न चैवमीदृश-व्याप्तिज्ञानस्य केवलान्वयिन्यसम्भवात्कथमनुमितिरति वाच्यम्।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २४, पङ्क्ति २४ से २५

व्यतिरेकि-साध्यक हेतु में 'सपक्ष' न होने से यह भी पाँच रूपों से युक्त नहीं है अतः यह भी अनुमान नहीं है।[1]

द्वितीय व्याप्तिलक्षण

उक्त व्याप्ति-लक्षण की अन्यान्य स्थलों में सङ्गति हो जाने पर भी '**घटः सत्तावान् जातेः**' (घट सत्तावान् है क्योंकि उसमें जाति रहती है।) इस स्थल में अप्रसिद्ध रूपा अव्याप्ति हो जाती है। इस अनुमान में साध्य है सत्ता तथा घट यह साध्यवान् है। इस साध्यवान् घटादि से अन्य सामान्यादि में हेतुतावच्छेदक समवाय सम्बन्ध से हेतु जाति की वृत्तिता अप्रसिद्ध है अतः प्रथम व्याप्ति-लक्षण की यहाँ अव्याप्ति हो जाने के कारण द्वितीय साम्प्रदायिक लक्षण उपस्थापित किया गया है। लक्षण का स्वरूप इस प्रकार है। हेतु के समान अधिकरण में रहने वाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता का अनवच्छेदक जो साध्यतावच्छेदक है, उससे अवच्छिन्न (साध्य) का हेतु के साथ जो सामानाधिकरण्य है, उसे व्याप्ति कहते है।"[2]

'**पर्वतो वह्निमान् धूमात्**' इस प्रसिद्ध अनुमान में घट के अभाव को लेकर इस व्याप्ति के लक्षण का समन्वय हो जाता है। इस अनुमान में हेतु धूम के अधिकरण पर्वत, महानस, चत्वर, गोष्ठादि में 'वह्निर्नास्ति' इस अभाव को छोड़कर घट पटादि में से किसी का भी अत्यन्ताभव सम्भव होने से घट का अत्यन्ताभाव लेने पर हेतु धूम तथा घटात्यन्ताभाव दोनों एक ही अधिकरण में रहने से समानाधिकरण हैं अतः हेतु के समानाधिकरण पर्वत, महानसादि में घटात्यन्ता-भाव का प्रतियोगी घट होने से प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म घटत्व होता है। इसलिए हेतु धूम के अधिकरण में घटात्यन्ताभाव के साथ साध्य जो वह्नि है, वह घट के अत्यन्ता-भाव का प्रतियोगी न होने से साध्यतावच्छेदक जो वह्नित्व है, वह प्रतियोगितावच्छेदक नहीं है अतः वह साध्यतावच्छेदक वह्नित्व घटात्यन्ता-भाव की प्रतियोगिता का अनवच्छेदक होने से उससे अवच्छिन्न वह्नि

---

१. इष्टापत्तेः केवलान्वयि-व्यतिरेकिहेत्वोः पञ्चरूपोपपन्नत्वाभावेनानुमापकत्वाभावात्। एवं च केवलान्वयिव्यतिरेक्यनुमानमेव नेति।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ २४, पङ्क्ति २५ से २६

२. यद्वा हेतु-समानाधिकरणात्यन्ताभाव-प्रतियोगितानवच्छेदक-साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न-समानाधिकरण्यं व्याप्तिः।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ २४, पङ्क्ति २७ से २८

धूम के अधिकरण महानसादि में धूम के साथ विद्यमान रहने से उसका धूम के साथ जो सामानाधिकरण्य है, वही उस वह्नि रूप साध्य की धूम में व्याप्ति है। इस प्रकार इस प्रसिद्धानुमान में लक्षण का समन्वय हो जाता है।

इसी प्रकार 'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' इस स्थल में हेतु वह्नि के सम्भावित अधिकरण अयोगोलक में साध्य धूम का ही अत्यन्ताभाव होने से अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी धूम ही हो जाता है अतः अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक धूमत्व है तथा धूम साध्य भी होने के कारण धूमत्व साध्यतावच्छेदक भी है। इस प्रकार यहाँ पर साध्यतावच्छेदक धूमत्व, अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता का भी अवच्छेदक है। जबकि लक्षण के अनुसार उसे अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं होना चाहिए था। इसलिए उसका हेतु के अधिकरण महानस में हेतु वह्नि के साथ सामानाधिकरण्य होने पर भी यहाँ लक्षण की सङ्गति न होने से व्यभिचारी हेतु वह्नि में धून की व्याप्ति का समन्वय नहीं होता अतः यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से रहित है।[१]

पूर्वपक्ष की आपत्ति है कि हेतु धूम के अधिकरण पर्वत में महानसीय वह्नि का अभाव लेने पर 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस प्रसिद्ध उदाहरण में ही लक्षण की अव्याप्ति हो जाती है। कारण यह है कि हेतु वह्नि के अधिकरण पर्वत में विद्यमान महानसीय वह्नि के अभाव तथा हेत्वधिकरण महानस में पर्वतीय वह्नि के अभाव के प्रतियोगी चालनी-न्याय से महानसीय एवं पर्वतीय वह्नि होंगे। साध्य भी यहाँ पर वह्नि ही है। इसलिए प्रतियोगितावच्छेदक जो वह्नित्व होगा, साध्यतावच्छेदक भी वही होगा, जबकि लक्षण के अनुसार साध्यतावच्छेदक वह्नित्व को हेत्वधिकरण में विद्यमान अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं होना चाहिए था अतः इस लक्षण की अव्याप्ति हो जाती है।

पूर्वपक्ष के आक्षेप का निराकरण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि यहाँ पर '**हेत्वधिकरणवृत्यभावाप्रतियोगि तत् साध्य-सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः**' इस विशेष व्याप्ति को मानना चाहिए। पर्वतीय धूम के साथ पर्वतीय वह्नि की व्याप्ति तथा महानसीय धूम के साथ महानसीय वह्नि की व्याप्ति मान

---

१. अत्र प्रसिद्धानुमाने घटाभावमादाय लक्षण-समन्वयः। व्यभिचारिण्ययोगोलकवृत्तिधूमाभावमादाय नाति-व्याप्तिः।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २४, पङ्क्ति २८ से ३०

लेने पर' **'पर्वतो वह्निमान् धूमात्'** इस स्थल में हेतु. धूम के अधिकरण पर्वत में पर्वतीय वह्नि का अभाव असम्भव होने से घटाभाव ही लेना होगा। दुराग्रहवश यदि महानसीय वह्नि का अभाव लें भी तो उस पर्वतीय धूम के अधिकरण पर्वत में जो घटाभाव या महानसीय वह्नि का अभाव होगा उसके प्रतियोगी घट या महानसीय वह्नि होने से प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व या महानसीय वह्नित्व होने पर भी साध्य पर्वतीय वह्नि का साध्यतावच्छेदक पर्वतीय वह्नित्व, हेत्वधिकरण-वृत्ति घटा-भाव या महानसीय वह्नि के अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक न होने से यहाँ पर व्याप्ति-लक्षण समन्वित हो जाने से उसकी अव्याप्ति नहीं होती।

पूर्वपक्ष का कथन है कि उपर्युक्त विशेष व्याप्ति मानने पर भी व्याप्ति लक्षण की अव्याप्ति रुक नहीं सकती। यद्यपि हेतु के अधिकरण पर्वत में **पर्वतीय वह्निर्नास्ति'** इस प्रकार पर्वतीय वह्नि का अभाव नहीं मिलेगा। फिर भी **'एक-सत्वेऽपि द्वयं नास्ति'** (एक के रहने पर भी दो नहीं हैं) इस प्रतीति के आधार पर पर्वतीय वह्नि यहाँ रहने पर भी पर्वतीय वह्नि एवं घट नहीं है इस प्रकार दोनों का उभया-भाव मिल जाने से इस उभयाभाव का प्रतियोगी घट के साथ पर्वतीय वह्नि भी होगा अतः घटत्व के साथ वह्नित्व प्रतियोगितावच्छेदक भी हो जाएगा। प्रकृतस्थल में साध्य भी पर्वतीय वह्नि ही होने के कारण साध्यतावच्छेदक पर्वतीय वह्नित्व उभयाभाव की प्रतियोगिता का भी अवच्छेदक होने से अनवच्छेदक नहीं हो पाएगा अतः यहाँ पर व्याप्ति-लक्षण की धूम में सङ्गति न होने के कारण लक्षण की अव्याप्ति हो जाती है।

भाट्टचिन्तामणिकार का कहना है कि उपर्युक्त आपत्ति के निवारणार्थ **'हेतु-समानाधिकरणे वैशिष्ट्य-व्यासज्य-वृत्तिधर्मानवच्छिन्नात्यन्ताभाव-प्रतियोगितानवच्छेदक-साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न-सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः'**, ऐसा व्याप्ति का लक्षण निर्धारित कर लेने से **'पर्वतीय वह्नि-घटोभयाभाव'** को लेने पर भी लक्षण की अव्याप्ति नहीं होगी। कारण यह है कि **'पर्वतो वह्निमान् धूमात्'** यहाँ हेतु पर्वतीय धूम के अधिकरण पर्वत में वर्तमान वैशिष्ट्य-व्यासज्य-वृत्ति अर्थात् उभय-वृत्ति धर्म से अनवच्छिन्न प्रतियोगिता वाला जो अत्यन्ताभाव है, वह शुद्ध घट का अत्यन्ताभाव ही हो सकता है, क्योंकि वही विशिष्ट-व्यासज्य-वृत्ति (उभय-वृत्ति) धर्म से अनवच्छिन्न है अतः हेतु समानाधिकरण-वृत्ति घटात्यन्ताभाव का प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व होने पर साध्यतावच्छेदक वह्नित्व, घटात्यन्ताभाव की प्रतियोगिता का अनवच्छेदक ही है

अतः लक्षण का यहाँ समन्वय हो जाता है। यहाँ पर यदि **'वह्नि-घटोभया-भाव'** का ग्रहण करें तो इस वह्नि-घटोभयाभाव की वह्नि में जो प्रतियोगिता है वह वैशिष्ट्य व्यासज्य-वृत्ति धर्म से अनवच्छिन्न नहीं है, अपितु वैशिष्ट्य व्यासज्य-वृत्ति धर्म से अवच्छिन्न है, जबकि लक्षण में जिस प्रतियोगिता की विवक्षा है, उसका विशिष्ट व्यासज्यवृत्ति धर्म से अनवच्छिन्न होना अपेक्षित है। **'पर्वतो वह्निमान् धूमात्'** इस स्थल में व्यासज्य-वृत्ति धर्म से अवच्छिन्न न होने के कारण वह्नि घटोभयाभाव का ग्रहण नहीं हो सकता। इसलिए हेतु धूम के अधिकरण में घटात्यन्ताभाव को ही मानना होगा। फलतः साध्यतावच्छेदक वह्नित्व, प्रतियोगिता का अनवच्छेदक बन जाने से, उससे अवच्छिन्न वह्नि का पर्वतीय धूम के साथ सामानाधिकरण्य होने से वह्नि-निरूपित व्याप्त्याश्रय धूम में इस व्याप्ति-लक्षण की सङ्गति हो जाती है।[१]

पूर्वपक्षी आक्षेप करते है कि **'मठः दण्डिमान्, दण्डिसंयोगात्'** इस अनुमिति स्थल में हेतु दण्डिसंयोग का अनुयोगिता सम्बन्ध से मठ अधिकरण है। इस मठ में रहने वाला अभाव **'तद्दण्डीर्नास्ति'** मान लेने पर इस अभाव का प्रतियोगी हुआ तद्दण्डी तथा प्रतियोगितावच्छेदक दो धर्म हुए। एक तत्त्व तथा दूसरा दण्ड, इन दोनों प्रतियोगितावच्छेदकों में से दण्ड को प्रतियोगितावच्छेदक रूप में ले लिया। हेत्वधिकरण मठ में साध्य दण्डी होने से साध्यतावच्छेदक भी दण्ड ही है अतः साध्यतावच्छेदक दण्ड ही प्रतियोवच्छेदक भी होने से साध्यतावच्छेदक प्रतियोगिता का अनवच्छेदक नहीं हुआ अतः दण्डिमान्-निरूपित व्याप्त्याश्रय दण्डिसंयोग में व्याप्ति के इस लक्षण की सङ्गति न हो पाने से यहाँ लक्षण की अव्याप्ति हो जाती है।

इस आपत्ति के निराकरणार्थ भाट्टचिन्तामणिकार का कहना है कि यहाँ पर स्वाश्रयसंयुक्तत्व अर्थात् स्वाश्रयाश्रयत्व रूप परम्परा-सम्बन्ध से दण्डत्व को साध्यतावच्छेदक बना देने पर प्रतियोगितावच्छेदक दण्ड से साध्यतावच्छेदक की भिन्नता हो जाने के कारण साध्यतावच्छेदक प्रतियोगिता का अनवच्छेदक हो जाएगा अतः लक्षण का यहाँ भी समन्वय हो जाने से अव्याप्ति नहीं होती।

प्रकृत स्थल में स्व दण्डत्व का आश्रय पुरुष जो दण्डी है, उसमें दण्ड संयुक्त है। उस दण्ड का अवच्छेदक धर्म दण्डत्व है। इस प्रकार स्वाश्रय-

---

१. अतएव महानसीयवह्न्यभावं वह्निघटोभयाभावं वादाय नाव्याप्तिः। तत्र महानसीय-वह्नित्वस्य वह्निघटोभयत्वस्यच प्रतियोगितावच्छेदकत्वेन वह्नित्वस्य प्रतियोगितानवच्छेदकत्वात्।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २४, पङ्क्ति ३० से ३२

संयुक्तत्त्व-सम्बन्ध से साध्यावच्छेदक जो दण्डत्व है वह प्रतियोगितावच्छेदक दण्ड से भिन्न है, अत: साध्यतावच्छेदक दण्डत्व, प्रतियोगिता का अनवच्छेदक होने से लक्षण का यहाँ समन्वय हो जाता है। पूर्व पक्ष का कहना है '**घट: रूपत्वव्याप्य जातिमत्वान् पृथिवीत्वात्**' इस अनुमिति स्थल में हेतु पृथिवीत्व के अधिकरण पीत घट में 'नीलाभाव,' रक्त घट में पीताभाव, इस प्रकार चालनी न्याय से सब रूपों का अभाव होने के कारण रूपत्व-व्याप्य नीलत्वादि सभी जातियाँ ही प्रतियोगितावच्छेदिका हैं तथा साध्यतावच्छेदिका भी वे ही होने से वे प्रतियोगिता की अनवच्छेदक नहीं है अत: यहाँ पर लक्षण की अव्याप्ति हो जाती है।

इस आपत्ति के निराकरणार्थ भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि यहाँ पर स्वाश्रय-समवायसम्बन्ध-रूप परम्परा-सम्बन्ध से रूपत्व-व्याप्य जातित्व को ही साध्यतावच्छेदक मान लेने पर लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती। मूल पद 'स्वाश्राय-संयुक्त-त्वादि' में आदि पद का अभिप्राय स्वाश्रय समवाय-सम्बन्ध ही है। इसे मान लेने पर लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि स्व-रूपत्वव्याप्य जातित्व का आश्रय रूपत्व-व्याप्य नीलत्वादि जातियाँ हो जाती हैं। उनका समवाय रूप में होने से हेतु पृथिवीत्व के अधिकरण में स्वाश्रय समवाय-सम्बन्ध से रूपत्वव्याप्य-जातित्ववान्नास्ति' यह अभाव कहीं भी पृथिवी में नहीं मिलेगा, क्योंकि यदि ऐसा अभाव उपलब्ध हो जाए तो पृथिवी रूपत्व-व्याप्य जातिमान् नहीं है ऐसी बुद्धि उत्पन्न होने लगती। फलत: यहाँ रूपत्व-व्याप्य-जातित्ववान्नास्ति यह अभाव कहीं भी उपलब्ध नहीं होगा, किन्तु हेतु के अधिकरण में नील घट में शुक्ल का अभाव, पीत घट में नील का अभाव 'इस प्रकार का अभाव मिल जाएगा। परिणामत: इन अभावों की प्रतियोगितावच्छेदिका समवाय-सम्बन्ध से नीलत्वादि जातियाँ होगी। इसके विपरीत प्रतियोगितानवच्छेदक स्वाश्रयसमवाय-सम्बन्ध से रूपत्व-व्याप्यजातित्व होगा। वही साध्यतावच्छेदक होने से प्रतियोगितानवच्छेदक साध्यतावच्छेदक का हेतु के साथ सामानाधिकरण्य होने से रूपत्व-व्याप्यजातिमत्व-निरूपति व्याप्त्याश्रय पृथिवीत्व में व्याप्ति के लक्षण का समन्वय हो जाने से लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती।[1]

---

१. दण्डिमान् दण्डिसंयोगादित्यादौ रूपत्व-व्याप्य-जातिमत्त्वान् पृथिवी-त्वादि-त्यादौ च स्वाश्रय-संयुक्तत्वादि-सम्बन्धेन दण्डत्वादिकमेव साध्यतावच्छेदकम्। तस्य प्रतियोगितानवच्छेदकत्वान्नाव्याप्ति:।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २४, पङ्क्ति ३३ पृ० २५, पङ्क्ति २

पूर्वपक्ष की आपत्ति है कि उपर्युक्त व्याप्ति-लक्षण की '**पर्वतो वह्निमान् धूमात्**' इस प्रसिद्ध स्थल में भी अव्याप्ति है। यहाँ पर हेतु धूम के अधिकरण, समवाय-सम्बन्ध से धूम के अवयव हैं। इस धूमावयव-रूप हेत्वधिकरण में वह्नि का अभाव है। उसका प्रतियोगितावच्छेदक वह्नित्व है तथा साध्यतावच्छेदक भी यहाँ वह्नित्व ही है अत: साध्यतावच्छेदक प्रतियोगिता का अनवच्छेदक न होने से वह्नि-निरूपित व्याप्त्याश्रय धूम में व्याप्ति-लक्षण की अव्याप्ति हो जाती है।

इस आपत्ति के निराकरणार्थ भाट्टचिन्तामणिकार कहते है कि यहाँ पर लक्षण में जो हेत्वधिकरण है उसे हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध से समझना चाहिए। ऐसा मान लेने पर लक्षण की सङ्गति हो जाती है। जिस सम्बन्ध से पक्ष में हेतु रहता है उसे हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध कहते हैं। इसी प्रकार हेत्वधिकरण भी इसी सम्बन्ध से माना जाता है अत: '**पर्वतो वह्निमान् धूमात्**' इस स्थल में हेतु धूम पर्वत में संयोग-सम्बन्ध से रहने के कारण हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध संयोग है। इस संयोग-सम्बन्ध से हेतु धूम के अधिकरण पर्वतादि ही होते हैं। चूंकि धूम अपने अवयवों में हेतुतावच्छेदक संयोग से न रहकर समवाय-सम्बन्ध से रहता है अत: धूमावयव हेत्वधिकरण नहीं हैं इसलिए हेतुतावच्छेदक संयोग-सम्बन्ध से पर्वतादि ही हेतु धूम के अधिकरण होने से उनमें वह्नि का अभाव असम्भव होने के कारण हेत्वधिकरण-वृत्ति अभाव घटाभाव लेना होगा, फलत: घटाभाव के प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व से भिन्न साध्यतावच्छेदक वह्नित्व से अवच्छिन्न वह्नि का धूम के साथ सामानाधिकरण्य होने के कारण यहाँ वह्नि-निरूपित व्याप्त्याश्रय धूम में लक्षण का समन्वय हो जाता है।

इसी तथ्य को ध्यान में रखकर भाट्टचिन्तामणिकार ने कहा है कि '**पर्वतो वह्निमान् धूमात्**' इस स्थल में वह्नित्व धूमावयव में स्थित वह्न्यभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक होने पर भी हेत्वधिकरण को हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध से मानने पर यहाँ धूम रूप हेतु में व्याप्ति-लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती।[१] पूर्वपक्ष का कहना है कि इतने पर भी '**घटो द्रव्यं, (द्रव्यत्ववत्) गुणकर्मान्यत्व-विशिष्ट-सत्त्वात्**' इस स्थल में व्याप्तिलक्षण की अव्याप्ति हो जाती है। कारण यह है कि '**विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते**' (विशिष्ट शुद्ध से अलग नहीं है, इस

१. हेत्वधिकरणं च हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेन हेतुतावच्छेदकविशिष्टाधिकरणं बोध्यम्। तेन वह्निमान् धूमादित्यादौ समवायेन धूमावयववृत्यभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वेपि वह्नित्वस्य, (नाऽव्याप्ति:)।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २५, पङ्क्ति ३ से ५

न्याय से दोनो सत्ताओं के एक होने के कारण हेतु पद से शुद्ध सत्ता को ले लेने पर उसके अधिकरण गुण तथा कर्म में वृत्ति अभाव द्रव्यत्वाभाव होने से द्रव्यत्वाभाव का प्रतियोगी द्रव्यत्व है। इसी प्रकार साध्य भी द्रव्यत्व होने के कारण साध्यतावच्छेदक द्रव्यत्वप्रतियोगितावावच्छेदक से भिन्न न होने के कारण प्रतियोगिता का अनवच्छेदक नहीं होता अत: यहाँ व्याप्ति-लक्षण की अव्याप्ति हो जाती है।

उपर्युक्त अव्याप्ति के निराकरणार्थ भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि यहाँ पर जो हेतु-समानाधिकरण (हेत्वधिकरण) है, इसे हेतुतावच्छेदक विशिष्टाधिकरण अर्थात् हेतुतावच्छेदक धर्म से विशिष्ट हेतु का अधिकरण मान लेने पर लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती। यहाँ पर हेतुतावच्छेदक हुआ विशष्ट सत्तात्त्व, उससे विशिष्ट (अवच्छिन्न) विशिष्ट सत्ता ही हुई, इसका अधिकरण हुआ द्रव्य, उसमें वृत्ति अभाव द्रव्यत्वाभाव ले नहीं सकेंगे। यहाँ पर घटाभाव ही लेना होगा। फलत: प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व होगा और साध्यावच्छेदक होगा द्रव्यत्वत्व, अत: साध्यावच्छेदक प्रतियोगितावच्छेदक से भिन्न होने के कारण प्रतियोगिता का अनवच्छेदक हो जाएगा। इसलिए इस द्रव्यत्वत्वावच्छन्न द्रव्यत्व का विशिष्ट सत्ता में सामानाधिकरण्य होने से इस स्थल में लक्षण का समन्वय हो जाने से लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती।[१] उपर्युक्त सुधारों के पश्चात् व्याप्तिलक्षण का निम्नलिखित स्वरूप निष्पन्न होता है।

हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्ना हेतुतावच्छेदकधर्मावच्छिन्ना या हेतुनिष्ठाऽऽधेयता तादृशाधेयता-निरूपिता या हेतु-समानाधिकरणनिष्ठाधिक-करणता तादृशाधिकरणतावद्वृत्यभावप्रतियोगितावच्छेदकं यत् साध्यता-वच्छेदकं तदवच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्ति:।

पूर्वपक्ष की आपत्ति है कि '**अयं वृक्षः कपिसंयोगी द्रव्यत्वात्**' तथा **अयं वृक्षः कपिसंयोगी एतत् वृक्षत्वात्**' इन स्थलों में 'हेतुसामानाधि-करणात्यन्ताभाव प्रतियोगितानवच्छेदक साध्यतावच्छेदकावच्छिन्न सामानाधिकरण्यं व्याप्ति:' इस लक्षण की अव्याप्ति हो जाती है। '**अयं वृक्षः कपिसंयोगी द्रव्यत्वात्**' यहाँ पर हेतु द्रव्यत्व का अधिकरण वृक्ष हो जाता है, क्योंकि वृक्ष भी द्रव्य है। वह भी हेत्वाधिकरण बन जाता है। इसके अतिरिक्त वृक्ष पर जो

१. द्रव्यं विशिष्टसत्त्वादित्यादौ च शुद्धसत्वाधिकरणगुणादिनिष्ठाभाव-प्रतियोगितावच्छेदकत्वेपि द्रव्यत्वस्य नाव्याप्ति:।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २५, पङ्क्ति ५ से ७

कपिसंयोग है वह शाखावच्छेदेन रूप से ही वृक्ष में है क्योंकि कपि वृक्ष की शाखा पर ही बैठता है, मूल के पास नहीं बैठता। यद्यपि वृक्ष में शाखावच्छेदेन कपिसंयोग है तथापि मूलावच्छेदेन कपिसंयोग का अभाव ही है। यहाँ पर हेतुसमानाधिकरण-वृत्ति अभाव मूलावच्छेदेन कपिसंयोगाभाव उपलब्ध हो जाता है। इसका प्रतियोगी हुआ कपिसंयोग तथा प्रतियोगितवच्छेदक हुआ कपिसंयोत्व। इसी प्रकार यहाँ साध्य कपिसंयोग होने से साध्यतावच्छेदक भी कपिसंयोगत्व ही है अत: साध्यतावच्छेदक प्रतियोगिता का अनवच्छेदक न होने से यहाँ वृक्षनिष्ठकपिसंयोग-निरूपित व्याप्त्याश्रय द्रव्यत्व में व्याप्ति-लक्षण की सङ्गति न होने से लक्षण की अव्याप्ति हो जाती है।

उपर्युक्त अव्याप्ति के निराकरणार्थ भाट्टचिन्तामणिकार का कहना है कि व्याप्ति के लक्षण में हेतु-समानाधिकरण मे कथित अभाव को प्रतियोगिव्यधिकरण-अभाव मान लेने पर इस अव्याप्ति-दोष का परिहार हो जाता है। कारण यह है **'वृक्षः कपिसंयोगी द्रव्यत्वात्** या **एतत् वृक्षत्वात्'** यहाँ पर हेतुतावच्छेदक एतत् वृक्षत्वावच्छिन्न हेतुतावच्छेदकस्वरूप-सम्बन्धावच्छिन्न एतत् वृक्षत्वाधिकरण एतत् वृक्ष में मूलावच्छेदेन शाखीयकपिसंयोगाभाव की प्रतियोगिता साध्य-कपिसंयोग में रहने पर भी द्रव्यत्व या एतत् वृक्षत्व-हेतु में लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि वृक्ष, शाखा, मूल, आदि समग्र समुदायों से युक्त रहता है अर्थात् वृक्ष की शाखा भी वृक्ष है तथा मूल भी वृक्ष ही है।

इसलिए एक ही वृक्ष में शाखा में कपिसंयोग तथा मूल में कपिसंयोगाभाव होने पर भी प्रतियोगी कपिसंयोग एवं उसका अभाव दोनों एक ही वृक्ष में विद्यमान होने से कपिसंयोगाभाव अपने प्रतियोगी का व्यधिकरण न होकर समानाधिकरण है जब कि उपर्युक्त सुधारणा से प्रतियोगिव्यधिकरण-अभाव ही यहाँ अपेक्षित है। अत: यहाँ कपिसंयोगाभाव नहीं लिया जा सकेगा फलत: प्रतियोगिव्यधिकरण-अभाव होने के लिए वृक्ष में भूतलीय घटाभाव ही लेना होगा। इस प्रकार घटाभाव लेने पर घटाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक घटत्व होने से साध्यतावच्छेदक कपिसंयोगत्व प्रतियोगिता का अनवच्छेदक हो जाने से इस कपिसंयोगत्व से अवच्छिन्न साध्य कपिसंयोग का हेतु एतत् वृक्षत्व या द्रव्यत्व में सामानाधिकरण्य हो जाने से लक्षण का समन्वय हो जाता है।[१]

---

१. अभावश्च हेत्वधिकरणावच्छेदेन प्रतियोगिव्यधिकरण:। प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न-प्रतियोगिव्यधिकरणश्च बोध्य:। तेन संयोगी सत्वाद्विशिष्ट-सत्तावान् जातेरित्यादावति-व्याप्ति:। न वा संयोगी सत्वाद्विशिष्टसत्तावान् जातेरित्यादावतिव्याप्ति:।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ २५, पङ्क्ति ८-११

प्रतियोगिव्यधिकरण-अभाव के 'प्रतियोग्यनधिकरणवृत्तित्व' अर्थात् प्रतियोगी के अनधिकरण (अधिकरण से भिन्न देश) में रहने वाले अभाव तथा 'प्रतियोग्यधिकरणावृत्तित्व' अर्थात् प्रतियोगी के अधिकरण में अवृत्ति, न रहने वाला अभाव ये दो अर्थ हो सकते हैं।

उपर्युक्त दोनों अर्थों में यदि प्रथम प्रतियोग्यनधिकरणवृत्तित्व यह अर्थ ग्रहण करते हैं तो **'वृक्षः कपिसंयोगी एतद् वृक्षत्वात्'** इस स्थल में ही व्याप्तिलक्षण की अव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि कपिसंयोगाभाव का प्रतियोगी कपिसंयोग है एवं संयोग यह गुण है अतः वह मात्र द्रव्य में ही रह सकता है। द्रव्य से अतिरिक्त गुणकर्मादि में वह नहीं रहता।[१] इसलिए गुण एवं कर्म कपिसंयोग के अधिकरण न होकर अनधिकरण ही हैं। इसी प्रकार उनमें कपिसंयोग भी संयोग होने से उसका अभाव है अतः कपिसंयोगाभाव अपने प्रतियोगी कपिसंयोग के अनधिकरण गुणकर्मादि में रहने से प्रतियोग्यनधिकरण-वृत्ति है। वही हेत्वधिकरण वृक्ष में भी मूलावच्छेदेन विद्यमान है अतः कपिसंयोगाभाव ही प्रतियोगिव्यधिकरण हेतु-समानाधिकरण-वृत्ति अभाव है एवं साध्य भी यहाँ पर कपिसंयोग ही है। इसलिए प्रतियोगितावच्छेदक जो कपिसंयोगत्व है, साध्यतावच्छेदक भी वही होने के कारण साध्यतावच्छेदक प्रतियोगिता का अनवच्छेदक न हो सकने से व्याप्तिलक्षण का वृक्षः कपिसंयोगी द्रव्यत्वात् या वृक्षात्वात्' इस स्थल में कपिसंयोग-निरूपितव्याप्त्याश्रय द्रव्यत्व या एतत् वृक्षत्व में समन्वय न होने से लक्षण की अव्याप्ति हो जाती है।

प्रतियोगि-व्याधिकरण अभाव का प्रतियोग्यधिकरणावृत्तित्व अर्थात् प्रतियोगी के अधिकरण में न रहने वाला अभाव ऐसा अर्थ करने पर **'घटः संयोगी संयोगवान् सत्त्वात्'** इस स्थल में असद्धेतु सत्ता में व्याप्तिलक्षण का समन्वय हो जाने कारण लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। प्रकृत स्थल में हेतु है सत्ता, उसके अधिकरण हैं गुण तथा कर्म। इनमें रहने वाला जो संयोगाभाव है वह अपने प्रतियोगी संयोग के अधिकरण द्रव्य में यदि लिया जाए तो वह प्रतियोगिव्यधिकरण न होकर प्रतियोगिसमानाधिकरण ही होगा अतः **'घटः**

---

१. ननु प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नस्य यस्य कस्यचिदनधिकरणत्वं, तत्सामान्यस्य, यत्किञ्चित्प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणत्वं वा विवक्षितम्। आद्ये कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वादित्यत्राव्याप्तिः। कपिसंयोगाभावस्य हि प्रतियोगिताच्छेदकावच्छिन्नो वृक्षावृत्तिरपि कपिसंयोगी भवति तदनधिकरणञ्च वृक्ष इति।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २५, पङ्क्ति १५ से २०

संयोगी सत्वात्' यहाँ पर प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव घटाभाव ही लेना होगा परिणामतः प्रतियोगी घट होने से प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व होगा अतः साध्यतावच्छेदक संयोगत्व प्रतियोगिता का अनवच्छेदक हो जाने से इस व्यभिचारी हेतु सत्त्व में लक्षण का समन्वय हो जाने से व्याप्ति-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है।

सत्त्व हेतु असद् हेतु इसलिए है क्योंकि यह साध्य संयोग के अधिकरण द्रव्य में रहने के साथ ही साथ जहाँ संयोग नहीं रहता ऐसे विपक्ष, गुण तथा कर्म में भी विद्यमान रहता है। अतः प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव का 'प्रतियोग्यधि-करणावृत्तित्व' ऐसा अर्थ करने पर इस असद्धेतु सत्त्व में व्याप्ति-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है इसलिए यह अर्थ भी ठीक नहीं है।

प्रतियोगिव्यधिकरण के उपर्युक्त दोनों अर्थों से व्याप्ति-लक्षण की क्रमशः अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति हो जाने से ये दोनों अर्थ न मानकर 'स्व-प्रतियोग्यनधिकरणवृत्तित्व-विशिष्ट अभाव ऐसा ही अर्थ मानना चाहिए। यहाँ सप्तमी का 'अवच्छेदन' यह अर्थ करके हेत्वधिकरणावच्छेदेन प्रतियोगी के अनधिकरण में रहने वाला जो अभाव है, वही प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव है। अभिप्राय यह है कि प्रतियोगी के अनधिकरणरूप हेतुसमानाधिकरण में वृत्ति अभाव ही प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव है। ऐसा अर्थ करने पर '**वृक्षः कपिसंयोगी एतत् वृक्षत्वात्**' यहाँ पर व्याप्ति-लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती। कारण यह है कि ऐसा मान लेने पर हेतुसमानाधिकरण एतत् वृक्ष कपिसंयोगभाव के प्रतियोगी कपिसंयोग का अनधिकरण न हो कर अधिकरण ही होने के कारण इसमें कपिसंयोगभाव असम्भव होने से घटाभाव ही लेना होगा। फलतः प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व होने के कारण साध्यतावच्छेदक कपिसंयोगत्व प्रतियोगिता का अनवच्छेदक हो जाने से साध्य कपिसंयोग-निरूपित व्याप्त्याश्रय एतत् वृक्षत्व में व्याप्ति-लक्षण का समन्वय हो जाने से लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती।

इसी प्रकार अब '**घटः संयोगी (संयोगवान्) सत्त्वात्**' यहाँ पर साध्य संयोग का अभाव ही प्रतियोगि-व्यधिकरण अभाव हो जाता है, क्योंकि संयोगाभाव का प्रतियोगी संयोग के अनधिकरण गुण तथा कर्म हेतु सत्ता के अधिकरण हैं एवं इनमें संयोगा-भाव विद्यमान है अतः यहाँ साध्य संयोग का अभाव ही प्रतियोगि-व्यधिकरण अभाव होने से उस संयोगाभाव का

प्रतियोगितावच्छेदक संयोगत्व ही साध्यतावच्छेदक भी होने के कारण साध्यतावच्छेदक प्रतियोगिता का अनवच्छेदक न हो पाने से इस असद्धेतु 'सत्ता' में व्याप्ति के लक्षण का समन्वय न होने से लक्षण की अतिव्याप्ति भी नहीं होती। प्रतियोगिव्यधिकरण का स्वप्रतियोग्यनधिकरणीभूत हेत्वधिकरणवृत्ति 'ऐसा अर्थ करने पर प्रतियोग्यनधिकरणत्व का भी प्रतियोगितावच्छेदकाच्छिन्न व्यधिकरण या अनधिकरण ऐसा अर्थ करना आवश्यक है अन्यथा व्यभिचार स्थल में 'द्रव्यं गुणकर्मभेदविशिष्टसत्तावान् जातेः यहाँ पर व्याप्तिलक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है, क्योंकि हेतु जाति (सत्ता) जो कि असद्धेतु है, उसके अधिकरण गुण एवं कर्म भी हैं एवं उनमें जो विशिष्ट सत्ताभाव है वह **विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते**' इस न्याय से प्रतियोगी-समानाधिकरण है, क्योंकि इस न्याय से गुण-कर्म में विद्यमान विशिष्ट-सत्ताभाव का प्रतियोगी शुद्धसत्ता भी है जो गुण-कर्म में विद्यमान है, इसलिए स्वप्रतियोग्यिनधिकरणीभूत हेत्वधिकरणवृत्ति-प्रतियोगि-व्यधिकरण अभाव से घटाभाव ही लेना होगा। फलतः प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व होने से साध्यावच्छेदक गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट-सत्तात्व प्रतियोगिता का अनवच्छेदक ही होगा जिससे इस व्यभिचारी हेतु जाति, जो साध्याभाव वाले गुण एवं कर्म में भी विद्यमान है, उसमें भी इस व्याप्ति-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है।

लेकिन '**स्व-प्रतियोग्यनधिकरणीभूत हेत्वधिकरणवृत्ति**' इस प्रति-योगिव्यधिकरणत्व के अर्थ में प्रतियोग्यनधिकरणत्व का प्रतियोगितावच्छेदकाच्छिन्न व्यधिकरणत्व या अनधिकरणत्व यह अर्थ करने पर '**द्रव्यं गुणकर्म-भेद-विशिष्ट सत्तावत् जातेः**' या सत्वात् 'यहाँ व्यभिचारी हेतु सत्ता (जाति) में व्याप्तिलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि विशिष्ट सत्ताभाव का प्रतियोगितावच्छेदक जो विशिष्ट सत्तात्व है उससे अवच्छिन्न हुई विशिष्ट सत्ता, उसके अनधिकरण हेतुसमानाधिकरण गुण एवं कर्म हो गये अतः प्रतियोगितावच्छेदकाच्छिन्न अनधिकरण जो हेतुसमानाधिकरण गुण एवं कर्म हैं, उनमें रहने वाला अभाव विशिष्ट सत्ताभाव होने से प्रतियोगितावच्छेदक विशिष्ट सत्तात्व ही होता है और साध्यतावच्छेदक भी विशिष्ट सत्तात्व ही है। यहाँ साध्यतावच्छेदक हेतुसमानाधिकरण-वृत्ति अभाव की प्रतियोगिता का अनवच्छेदक नहीं होता। फलतः यहाँ व्यभिचारी हेतु 'सत्ता' में व्याप्ति-लक्षण का समन्वय न होने से लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

पूर्वपक्ष की आपत्ति है कि उपर्युक्त सुधारणा करने के उपरान्त भी

'आत्मा ज्ञानवान् सत्त्वात्' इस असद्धेतु 'सत्ता' में व्याप्ति-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। साध्य-ज्ञान के अधिकरण-पक्ष आत्मा में सत्ता विद्यमान होने के साथ ही साथ जहाँ साध्य-ज्ञान का अभाव है, ऐसे विपक्ष गुण कर्मादि में भी विद्यमान होने से असद्धेतु है, फिर भी व्याप्तिलक्षण का यहाँ समन्वय हो रहा है, क्योंकि **'आत्मा ज्ञानवान् सत्त्वात्'** यहाँ पर समवाय-सम्बन्ध से ज्ञान साध्य है। कारण यह है कि ज्ञान आत्मा का गुण होने ये गुणी आत्मा में समवाय-सम्बन्ध से ही रहता है। इसी तरह हेतु सत्ता भी आत्मरूप द्रव्य में समवाय-सम्बन्ध से ही विद्यमान रहती है। प्रकृत स्थल में जिनमें ज्ञान का अभाव है ऐसे हेत्वधिकरण घटादि एवं गुण कर्मादि हैं। तन्निष्ठ अभाव समवाय-सम्बन्ध से ज्ञानाभाव है। इस ज्ञानाभाव का प्रतियोगी ज्ञान, विषयता-सम्बन्ध से हेतु सत्ता के अधिकरण घटपटादि में भी विद्यमान है अतः हेत्वधिकरण घटपटादि ज्ञानाभाव के अनधिकरण नहीं हो पाते। जिस अभाव के प्रतियोगी का अनिधिकरण हेत्वधिकरण हो वही अभाव प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव होता है। प्रकृत ज्ञानाभाव ऐसा अभाव नहीं है, क्योंकि वह हेत्वधिकरण घटादि में विषयता-सम्बन्ध से विद्यमान है अतः यहाँ प्रतियोगि-व्यधिकरण अभाव घटाभाव ही लेना होगा और फिर प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व होगा। फलतः साध्यतावच्छेदक ज्ञानत्व, प्रतियोगितावच्छेदक से भिन्न होने के कारण प्रतियोगिता का अनवच्छेदक हो जाएगा, तदवच्छिन्न ज्ञान का आत्मान्तर्भावेण सत्त्व हेतु में सामानाधिकरण्य होने से यहाँ लक्षण का समन्वय हो जाने से व्याप्तिलक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है।

इस अति-व्याप्ति के परिहारार्थ भाट्टचिन्तामणिकार का कहना है कि यहाँ पर प्रतियोगी के अनधिकरण को साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से मानना चाहिए। साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध से प्रतियोगी के अनधिकरण को हेत्वधिकरण मानने पर व्यभिचारी हेतु 'सत्ता' में व्याप्ति-लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। कारण यह है कि साध्य-ज्ञान आत्मा में समवाय-सम्बन्ध से रहता है। यहाँ साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध समवाय-सम्बन्ध है। इस समवाय-सम्बन्ध से ज्ञानाभाव के प्रतियोगी ज्ञान का अधिकरण आत्मा है। हेतु सत्ता साध्यतावच्छेदक समवाय-सम्बन्ध से साध्याधिकरण आत्मा के अतिरिक्त घटपटादि में भी विद्यमान होने से घटपटादि हेत्वधिकरण हो जाते हैं। इनमें यद्यपि ज्ञान विषयता-सम्बन्ध से विद्यमान है, तथापि साध्यतावच्छेदक समवाय-सम्बन्ध से यहाँ पर ज्ञान का अभाव ही है। यहाँ पर घट पटादि साध्यतावच्छेदक समवाय-सम्बन्ध से ज्ञानाभाव के प्रतियोगी

ज्ञान के अनधिकरण ही हैं। इसलिए ज्ञानाभाव प्रतियोगिव्यधिकरण हेत्वधिकरण में रहने वाला अभाव होने से प्रतियोगितावच्छेदक ज्ञानत्व ही साध्यतावच्छेदक भी है। यहाँ साध्यतावच्छेदक प्रतियोगिता का अनवच्छेदक न हो पाने से व्याप्ति-लक्षण का व्यभिचारी हेतु 'सत्ता' में समन्वय नहीं होता अतः यहाँ व्याप्तिलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।[१]

तृतीय व्याप्तिलक्षण

उक्त दोनों व्याप्तिलक्षणों के निरूपण के अनन्तर भाट्टचिन्तामणिकार ने विकल्प रूप में नैयायिकों के निम्नलिखित लक्षण को उपस्थापित किया है।

जिस सम्बन्ध से प्रतियोगी का अभाव हो उस प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध से प्रतियोगी के अनधिकरणीभूत हेत्वधिकरण में विद्यमान अभाव की प्रतियोगिता-सामान्य में यद्धर्मावच्छिन्नत्व अर्थात् साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्नत्व इन दोनों का उभया-भाव हो उसी सम्बन्ध से तद्धर्मावच्छिन्न अर्थात् साध्यतावच्छेदक धर्मावच्छिन्न जो साध्य उसे तद्धेतु-उस हेतु का व्यापक समझना चाहिए और हेतु में तादृश व्यापक (साध्य) का जो सामानाधिकरण्य है वही व्याप्ति है।[२]

इस लक्षण में यद्धर्मावच्छिन्नत्व एवं यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्व इन दोनों का उभयाभाव न कहकर मात्र यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वाभाव (यत्सम्बन्धाभाव) इतना ही कहें तो **'पर्वतो वह्निमान् धूमात्'** इस स्थल में हेत्वधिकरण पर्वत में संयोग-सम्बन्ध से वर्त्तमान घटाभाव की प्रतियोगिता-सामान्य में साध्यतावच्छेदक संयोग-सम्बन्धावच्छिन्नत्व होने से और अभाव के न रहने से व्यापकत्व की हानि हो जाती है।

इसी तरह यदि यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वाभाव को छोड़कर केवल यद्धर्मावच्छिन्नत्वाभाव मात्र कहें तो **'पर्वतो वह्निमान् धूमात्'** इस स्थल में हेत्वधिकरण पर्वत में समवाय-सम्बन्ध से वह्न्यभाव होने पर प्रतियोगितावच्छेदक

---

१. प्रतियोग्यनधिकरणत्वञ्च साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन, तेन ज्ञानवान्सत्वादित्यादौ सत्ताधिकरणघटादेर्विषयतया ज्ञानाधिकरणत्वेपि न क्षतिः।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २५, पङ्क्ति १२ से १४

२. यद्वा प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्धेन प्रतियोगिताच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणहेत्वधिकरण-वृत्यभाव-प्रतियोगिता-सामान्ये यद्धर्मावच्छिन्नत्वयत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वोभयाभावस्तेनसम्बन्धेन तद्धर्मावच्छिन्नस्य तद्धेतुव्यापकत्वं व्यापकसामानाधिकरण्यञ्च व्याप्तिः।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २६, पङ्क्ति १४ से १७

समवाय-सम्बन्ध से वह्निरूप प्रतियोगी के अनधिकरण पर्वत में वर्त्तमान समवाय-सम्बन्ध से वह्न्यभाव के प्रतियोगी वह्नि-सामान्य में वह्नित्वावच्छिन्न (वह्नि) का अभाव नहीं रहेगा अतः लक्षण की अव्याप्ति हो जाएगी फलतः प्रतियोगिता-सामान्य में रहने वाले अभाव में दोनों सम्बन्धों का निवेश आवश्यक है।

इस उपर्युक्त व्याप्ति के लक्षण में प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध से प्रतियोगितावच्छेदक से अवच्छिन्न प्रतियोगी का अनधिकरण हेत्वधिकरण' इस पद का निवेश, '**वृक्षः कपिसंयोगी द्रव्यत्वात्** या **एतत्वात्**' इस स्थल में अव्याप्यवृत्ति कपिसंयोग जिसका साध्य है, ऐसे सद्धेतु द्रव्यत्व या एतत्व में लक्षण की अव्याप्ति न हो, इसीलिए किया गया है।[१]

अव्याप्त-वृत्ति का तात्पर्य है जो व्याप्य न हो। कपिसंयोग वृक्ष की किसी शाखा पर ही रहता है। सम्पूर्ण वृक्ष पर नहीं, क्योंकि संयोग यह जिस स्थल पर रहता है उससे अन्यत्र नहीं रहता। यहाँ कपिसंयोग साध्य तथा द्रव्यत्व या एतत्व ये सद्धेतु हैं। यदि प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध से प्रतियोगितावच्छेदिकावच्छिन्न का अनधिकरण, ऐसा हेत्वधिकरण-वृत्ति अभाव न माना जाए तो '**वृक्षः कपिसंयोगी, द्रव्यत्वात्** या **एतत्वात्**' यहाँ हेत्वधिकरण वृक्ष में '**मूलावच्छेदेन कपिसंयोगी नास्ति**' इस प्रतीति के आधार पर मूलावच्छेदेन कपिसंयोगा-भाव भी लिया जा सकता है जो साध्य कपिसंयोग के रूप में हेत्वधिकरण में विद्यमान है अतः कपिसंयोगाभाव का प्रतियोगी कपिसंयोग ही साध्य होने से मूलावच्छेदेन कपिसंयोगाभाव प्रतियोगिव्यधिकरण (प्रतियोगि-अनधिकरण-हेत्वधिकरण-वृत्ति) अभाव नहीं है, लेकिन लक्षण में 'अनधिकरणान्त' पद का निवेश न होने पर इसे भी ग्राह्य मानना होगा फलतः मूलवाच्छेदेन कपिसंयोगाभाव का प्रतियोगी कपिसंयोग तथा प्रतिसंयोगितावच्छेदक कपिसंयोगत्व होगा एवं साध्य भी कपिसंयोग ही होने से साध्यतावच्छेदक भी कपिसंयोग होगा, ऐसी स्थिति में साध्यतावच्छेदक प्रतियोगिता का अनवच्छेदक न होने से यहाँ सद्धेतु द्रव्यत्व या एतत्व में व्याप्तिलक्षण की अव्याप्ति हो जाती है।

इस अव्याप्ति-दोष के निवारणार्थ लक्षण में अनधिकरणान्त तक पद का हेत्वधिकरण के विशेषण के रूप में निवेश आवश्यक है। इस विशेषण का निवेश कर देने पर उपर्युक्त अव्याप्ति निरस्त हो जाती है क्योंकि मूलावच्छेदेन

---

[१] अव्याप्यवृत्ति-साध्यकसद्धेतावव्याप्तिवारणायानधिकरणान्तं हेत्वधिकरणविशेषणम्।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ २६, पङ्क्ति १७ से १८

कपिसंयोगाभाव प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध से प्रतियोग्यनधिकरण-हेत्वधिकरणवृत्ति अभाव नहीं है अतः यहाँ घराभाव ही लेना होगा। इससे प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व से भिन्न होने के कारण साध्यतावच्छेदक कपिसंयोगत्व प्रतियोगिता का अनवच्छेदक हो जाने से तदवच्छिन्न साध्य-सामानाधिकरण्य, तन्निरूपित व्याप्त्याश्रय द्रव्यत्व या एतत्व में व्याप्ति-लक्षण की सङ्गति हो जाती है।

चतुर्थ व्याप्ति-लक्षण

हेतु-समानाधिकरण अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता के अनवच्छेदक साध्यत्वावच्छिन्न (साध्यवान् पक्ष) में (हेतु का) वृत्तित्व (रहना ही हेतु में साध्य की) व्याप्ति है।[1]

प्राचीन नैयायिकों का कहना है कि पूर्वोक्त हेतु-समानाधिकरणात्यन्ताभावघटित व्याप्ति-लक्षण में लक्षण की अनेक स्थलों में होने वाली अव्याप्ति के निराकरणार्थ प्रतियोगि-व्याधिकरण-हेत्वधिकरणवृत्ति-अभाव मानना पड़ा था। परन्तु अन्योन्याभाव-घटित इस लक्षण में अन्योन्याभाव व्याप्य-वृत्ति होने से इसे प्रतियोगि-व्यधिकरण-हेत्वधिकरणवृत्ति अन्योन्या-भाव इतना नहीं कहना पड़ता है अपितु मात्र **'हेतुसमानाधिकरणान्योन्याभावप्रतियोगितानवच्छेदक-साध्यत्वावच्छिन्न-वृत्तित्व'** इतना कहने पर भी व्याप्ति-लक्षण की सङ्गति हो जाती है अतः इस लक्षण में प्रतियोगि-व्यधिकरणादि के निवेश की आवश्यकता न होने से लाघव है इसलिए यह लक्षण पूर्वोक्त लक्षणों से श्रेयस्कर है।

'वृक्षः कपिसंयोगी एतत् वृक्षत्वात्' यहाँ पर अन्योन्या-भाव व्याप्य-वृत्ति होने से **'वृक्षः कपिसंयोगवान् न'** ऐसा अभाव मिलेगा ही नहीं। फलतः **'घटवान् न'** ऐसे घटाभाव को लेकर लक्षण का समन्वय हो जाने से लक्षण में प्रतियोगि-व्यधिकरण-हेत्वधिकरण-पद के निवेश की आवश्यकता नहीं रहती।[2]

प्राचीन नैयायिकों के उपर्युक्त मत के विपरीत नव्य नैयायिकों का कहना है कि इस अन्योन्या-भाव-घटित लक्षण में भी प्रतियोगि-व्यधिकरण-हेत्वधिकरण-पद की विवक्षा रहती ही है। कारण यह है कि जैसा कि प्राचीन नैयायिक कहते

---

१. यद्वा हेतुसमानाधिकरणान्योन्याभावप्रतियोगितानवच्छेदक-साध्यवत्वावच्छिन्नवृत्तित्वं व्याप्तिः।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २६, पङ्क्ति १९ से २०

२. अन्योन्याभावस्य व्याप्यवृत्तित्वादत्र न प्रतियोगिव्यधिकरणत्वादि-निवेश इति लाघवमिति जीर्णाः।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २६, पङ्क्ति २० से २१

हैं अन्योन्याभाव व्याप्य-वृत्ति नहीं है, अपितु यह भी अव्याप्य-वृत्ति है, क्योंकि कपि, वृक्ष में संयोग-सम्बन्ध से ही रह सकता है तथा संयोग यह अव्याप्य-वृत्ति है। संयोग-सम्बन्ध से वृक्ष शाखावच्छेदेन कपिसंयोगी होने पर भी मूलावच्छेदेन कपिसंयोगवान् नहीं है। '**वृक्षः कपिसंयोगवान् न**' यह अन्योन्याभाव सम्भव होने से इसे लेने पर यदि लक्षण में प्रतियोगिव्यधिकरण- हेत्वधिकरण पद का निवेश न करें तो फिर साध्यवत्व कपिसंयोग रूप से कपिसंयोगत्व है तथा प्रतियोगि- तावच्छेदक कपिसंयोग भी कपिसंयोग रूप से ही होने के कारण दोनों के एक हो जाने से लक्षण की अव्याप्ति हो जाती है, जिसके निवारणार्थ यहाँ भी प्रतियोगि-व्यधिकरण- हेत्वाधिकरणान्त पद के निवेश की आवश्यकता है।[1]

इस व्याप्ति के सम्बन्ध में रघुनाथ शिरोमणि आदि आचार्यों का कहना है कि व्यापक के साथ हेतु के सामानाधिकरण्य को व्याप्ति न मानकर व्यापक से साथ हेतु के सम्बन्ध मात्र को व्याप्ति मानना चाहिए।[2] यदि ऐसा न मानें तो ऐसे सद्धेतु में, जिसका व्यापक के साथ सामानाधिकरण्य नहीं है, व्याप्ति लक्षण का समन्वय नहीं हो सकेगा। जैसे '**उपरि सवितरि अधः छायादेः**' (नीचे छाया धूप आदि होने के कारण ऊपर सविता-सूर्य है।) इस स्थल में सविता आसमान में तथा छाया नीचे होने से दोनों समानाधिकरण नहीं है। फलतः अधः छायादि सद्धेतु में व्याप्ति-लक्षण का समन्वय नहीं होता, जबकि अधः छायादि में सूर्य की व्याप्ति सार्वजनिन प्रतीति से सिद्ध है अतः अधः छायादि में व्याप्ति-लक्षण का समन्वय हो सके इसके लिए व्यापक सम्बन्ध को व्याप्ति मानना आवश्यक है। ऐसा मान लेने पर व्यापक सूर्य के साथ हेतु अधः छायादि का उपर्यधो-वृत्तित्वरूप सम्बन्ध होने से इनमें व्याप्ति-लक्षण का समन्वय हो जाता है।

इसी प्रकार रोहिणी के उदय के प्रति कृत्तिका के उदय के हेतुत्व की भी उपपत्ति व्यापक-सम्बन्ध मात्र को व्याप्ति मानने पर ही सम्भव है। यदि व्यापक-सामानाधिकरण्य को व्याप्ति माने तो रोहिणी के उदय में कृत्तिकोदय के हेतुत्व की अनुपपत्ति हो जाती है, क्योंकि कृत्तिकोदय होने के बाद ही

---

१. तस्याप्यव्याप्यवृत्तित्वात्तथैव प्रतीतेरस्त्येव तद्विवक्षेति नव्याः।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० २६, पङ्क्ति २२

२. अत्राचार्याः-व्यापकसामानाधिकरण्यं न व्याप्तिः। किं तु व्यापकसम्बन्धमात्रम्।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० २६, पङ्क्ति २३ से २४

एवं स्थिते सामानाधिकरण्ये सम्बन्धित्वं निवेशनीयं न त्वधिकरणत्वम्।

–सिद्धान्तलक्षण-प्रकरण, अनुमान गादाधरी, पृ० ३४५

राहिणी का उदय होता है। दोनों समानाधिकरण न होने से हेतु में व्यापक-सामानाधिकरण्य नहीं है। फलतः व्याप्तिलक्षण की सङ्गति नहीं होती, लेकिन व्यापक-सम्बन्ध को व्याप्ति मानने पर हेतु कृत्तिकोदय का व्यापक रोहिणी के उदय के साथ पूर्वाऽपर सम्बन्ध होने से उसमें व्याप्तिलक्षण समन्वित हो जाता है।[1]

पूर्वपक्ष की आपत्ति है कि व्यापक-सम्बन्ध को व्याप्ति मानने पर जहाँ साध्याभाव तथा साधनाभाव है, वहाँ साधन (हेतु) का जिसका अभाव है ऐसे व्यापक के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः इस लक्षण को मानने पर व्यतिरेक व्याप्ति में व्याप्ति पद का प्रयोग केसे हो सकेगा?[2]

उपर्युक्त आपत्ति का निराकरण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि उपर्युक्त साध्यवदन्यावृत्तित्वरूप, व्यापकसामानाधिकरण्यरूप, व्यापकसम्बन्ध रूप या साध्याभावव्यापकी-भूताभाव-प्रतियोगित्व रूप ज्ञान व्याप्ति-ज्ञान है। इसके विपरीत साध्यवदन्यावृत्तित्व या साध्याभाववद्वृत्तित्वज्ञान, अर्थात् साध्य वह्नि आदि के अभाव वाले अधिकरणों में धूमादि के वृत्तित्व का ज्ञान धूमादि में वह्न्यादि का जो सहचार-सम्बन्ध रूप व्याप्ति-ज्ञान है, उसका व्यभिचारी ज्ञान है। इस व्यभिचार-ज्ञान का विरोधी ज्ञान साध्यवदन्यावृत्तित्वरूप, हेतु-व्यापक साध्यसामानाधिकरण्य रूप या व्यापक-सम्बन्धरूप व्याप्तिज्ञान के ही समान साध्याभाव-व्यापकीभूताभाव-प्रतियोगित्वरूप व्यतिरेक व्याप्ति-ज्ञान का भी विषय रूप धर्म-व्याप्ति ही है। इस व्याप्ति से विशिष्ट हेतुतावच्छेदक धर्म धूमत्वादि जिसमें प्रकार (विशेषण) हैं, ऐसे '**धूमवान् पर्वतः**' इस पक्ष-धर्मता-ज्ञान के ज्ञानत्व रूप से ही धूम में वह्निविषयक अनुमिति के प्रति कारणता होती है अतः व्यतिरेक व्याप्ति भी व्याभिचार-धी-विरोधी ज्ञान होने से इस व्याप्ति-ज्ञान का विषयत्व हेतुओं में होने से साध्यानुमिति में उनकी हेतुता उपपन्न हो जाती है। फलतः व्यतिरेक व्याप्ति में पद के प्रयोग की अनुपपत्ति नहीं होती।[3]

---

१. तेनाधच्छायादेरुपरि सवितरि, कृत्तिकोदयस्य रोहिण्युदये हेतुत्वोपपत्तिरित्याहुः।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २६, पङ्क्ति २४ से २५

२. न चैवं व्यतिरेकव्याप्तौ कथं व्याप्तिपदप्रयोग इति वाच्यम्।
-वही, पृ० २६, पङ्क्ति २६

३. वस्तुतो व्यभिचारधी-विरोधि-धी- विषयधर्मविशिष्टहेतुतावच्छेदकप्रकारक-पक्षधर्मताज्ञानत्वेन हेतुतेति युक्तम्।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २६, पङ्क्ति २९ से ३०

ग्रन्थकार-मत-निरूपण

'साध्यवदन्यावृत्तित्व' को व्याप्ति-लक्षण मानने पर केवलान्वयि-साध्यक अनुमान के अनुपपत्ति की नैयायिकों ने आपत्ति उपस्थित की थी।

इस आपत्ति के निराकरणार्थ भाट्टचिन्तामणिकार ने अपने सम्प्रदाय के अनुसार केवलन्वयी हेतु में विपक्षासत्व रूप योग्यता न होने से इसमें पञ्चरूपोपपन्नत्व का अभाव होने से इसके अनुमान न होने की आपत्ति को इष्टापति कहा था तथा साथ ही सपक्ष-सत्त्वरूप योग्यता न होने से केवल व्यतिरेकी अनुमान का अस्तित्व भी अमान्य कर दिया था।

यहाँ इस विषय में उनका अपना सिद्धान्त यह है कि यद्यपि अनुमान के लिए यह आवश्यक है कि हेतु, पक्षसत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, अबाधित विषयत्व तथा असत्प्रतिपक्षत्व, इन पाँचों रूपों से युक्त हो, लेकिन पञ्चरूपोपपन्नत्व का यह नियम अविवक्षित है। इस नियम की मात्र केवलान्वयि-साध्य तथा केवल व्यतिरेकि-साध्यक हेतुओं में ही अविवक्षा समझनी चाहिए। अन्वय-व्यतिरेकी हेतुओं में इस पञ्चरूपोपपन्नत्व के नियम की विवक्षा रहती ही है। अभिप्राय यह है कि यदि हेतु में पाँच रूप सम्भव हैं, तब तो उसे पाँचों रूपों से युक्त होना आवश्यक ही है। जैसे धूमादि अन्वयव्यतिरेकी हेतुओं में पाँचों रूप विद्यमान रहते है अतः सद्धेतु होने के लिए अन्वय-व्यतिरेकी हेतु के लिए पाँचों रूपों से युक्त रहना अनिवार्य है, परन्तु **'इदं ज्ञेयं, वाच्यत्वात्'** इस केवलान्वयि-अनुमान में जो ज्ञेय न हो ऐसा पदार्थ ही नहीं है, जिसे विपक्ष माना जा सके अतः यहाँ हेतु वाच्यत्व में विपक्षासत्व सम्भव ही नहीं है। फलतः यहाँ पञ्चरूपोपपन्नत्व के नियम की अविवक्षा मान लेने पर पञ्चरूपोपन्नत्व का अभाव होने पर भी अनुमिति हो जाती है। इसी तरह **'पृथिवी इतरभिन्ना गन्धवत्वात्'** यहाँ पृथिवी-मात्र, पक्ष होने से हेतु गन्धवत्व में सपक्षसत्व होना नितान्त असम्भव है अतः यहाँ भी पञ्चरूपोपपन्नत्व के नियम की अविवक्षा कर देने पर अनुमिति हो जाती है इस प्रकार पञ्चरूपोपन्नत्व के नियम की अविवक्षा कर देने पर केवलान्वयी केवलव्यतिरेकी तथा अन्वय-व्यतिरेकी, इन तीनों अनुमानों की उपपत्ति हो जाती है।[१]

---

१. तेनानुमानत्रैविध्यमुपपन्नम्। पञ्चरूपत्वनियमस्त्वविवक्षित इति।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २६, पङ्क्ति ३० से ३१

इस उपर्युक्त व्याप्ति का सकल धूमों में सामान्यलक्षणा-प्रत्यासत्ति द्वारा ग्रहण हो जाता है।[१] दीधीतिकार रघुनाथ शिरोमणि सामान्यलक्षणासन्निकर्ष नहीं मानते अत: उनके मत में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष द्वारा महानसीय धूम के लौकिक प्रत्यक्ष से धूमत्वसामान्य या उसके ज्ञान के सन्निकर्ष से समस्त धूमों का ज्ञान न मानने पर महानसीय धूम में वह्नि-व्याप्ति का ज्ञान होने पर भी पर्वतीय धूम में वह्निव्याप्ति का ज्ञान नहीं होगा फलत: पर्वतीय धूम में वह्नि-व्याप्ति का ज्ञान न होने के कारण उसे देखकर पर्वत में वह्नि की अनुमिति भी कैसे उपपन्न होगी? इस प्रश्न के समाधानार्थ सामान्यलक्षणा-प्रत्यासत्ति न मानने वाले रघुनाथ शिरोमणि आदि आचार्यों का सम्मत मत प्रकट करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष न मानने पर भी पर्वतीय धूम से वह्नि की अनुमिति होने में बाधा नहीं है। महानस में महानसीय धूमत्व-प्रकारक धूम में वह्निव्याप्ति का ग्रहण हो जाने के बाद जब पर्वत में धूमत्व-प्रकारक धूम को देखते हैं तो धूमत्व-प्रकारक धूम में वह्नि की व्याप्ति है, यह स्मरण हो जाता है। महानसीय धूम में भी धूमत्व प्रकार था तथा इस धूमत्व-प्रकारक धूम में वह्नि की व्याप्ति थी। इस प्रकार महानसीय धूमत्व-प्रकारक धूम में वह्नि-व्याप्ति का स्मरण हो जाने पर यह पर्वतीय धूम भी धूमत्व प्रकारक है अत: इसमें पर्वतीय वह्नि की व्याप्ति है इस व्याप्तिज्ञान का स्मरण हो जाता है फलत: सामान्यलक्षणा-सन्निकर्ष न मानने पर भी **'पर्वतो वह्निमान् धूमात्'** यह अनुमिति हो जाती है।[२]

पक्षता-निरूपण

साध्य की पक्ष में अनुमिति होने के लिए जिसमें साध्य की व्याप्ति निश्चित हो चुकी है, ऐसे हेतु की पक्ष में विद्यमानता का ज्ञान भी अपेक्षित है अत: पक्षता या पक्षधर्मता की भी, व्याप्ति के ही समान अनुमिति में हेतु के साथ सहकारी रूप में कारणता है। यह पक्षत्व या पक्षता (पक्षधर्मता) क्या है? इसे स्पष्ट करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि-

---

१. व्याप्तिग्रहश्च सकलधूमे सामान्यलक्षणा-प्रत्यासत्या, सा च निरूपिता प्राक्।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २७, पङ्क्ति ७ से ८

द्रष्टव्य- सामान्यलक्षणासन्निकर्षनिरूपण, प्रत्यक्षप्रमाण, पृ० ३५-४४।

२. तदनङ्गीकारे तु महानसीय-धूमे धूमत्व-प्रकारक-व्याप्तिग्रहात् पर्वतीय-धूमे धूमत्वप्रकारकव्याप्तिस्मरणोपपत्ति:।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २७, पङ्क्ति ८ से ९

'सिद्धि के न रहने पर, अनुमित्सा के रहने या न रहने पर या (सिद्धि तथा अनुमित्सा) दोनों के न रहने पर भी अनुमिति का उदय होने से अनुमित्सा के अभाव से विशिष्ट सिद्धि का अभाव ही पक्षता है।[1]

साध्य को सिद्ध करने की '**पर्वते वन्ह्यनुमितिर्मेजायताम्**' इस प्रकार की इच्छा को सिषाधयिषा या अनुमित्सा कहते हैं। साध्य के निश्चय को सिद्धि कहते हैं। जहाँ पर अनुमित्सा से शून्य सिद्धि नहीं रहती वह अनुमित्सा के अभाव से विशिष्ट सिद्धि का अभाव रूप पक्षता है तथा वह पक्षता जहाँ है ऐसे पक्ष में हेतु के वृत्तित्व-ज्ञान से अनुमिति होती है। अनुमित्सा के अभाव से विशिष्ट सिद्धि का अभाव विशेषणाभाव-प्रयुक्त विशिष्टा-भाव, विशेष्याभाव-प्रयुक्त विशिष्टाभाव तथा उभयाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव, इस भेद से तीन प्रकार का है।

जहाँ पर अनुमित्सा तथा सिद्धि दोनों विद्यमान हैं वहाँ सिद्धि रूप विशेष्य (प्रतिबन्धक) के रहने पर भी अनुमित्सा का अभाव रूप विशेषण न होने से विशेषणाभाव-प्रयुक्त विशिष्ट (सिद्धि) का अभाव है। जैसे-महानस में वह्नि का प्रत्यक्ष निश्चय होने से सिद्धि है तथा '**महानसे वन्ह्यनुमितिर्मे जायताम्**' इस प्रकार की अनुमित्सा है, वहाँ अनुमित्सा के अभाव से विशिष्ट सिद्धि का अभाव होने से अनुमिति हो जाती है।

जिस स्थल में अनुमित्सा एवं सिद्धि दोनों नहीं रहते वहाँ अनुमित्सा का अभावरूप विशेषण तो है लेकिन सिद्धि रूप विशेष्य नहीं है अतः वहाँ विशेष्याभाव-प्रयुक्त विशिष्ट (सिद्धि) का अभाव होता है। जैसे '**गगनं मेघवत् घनगर्जनात्**' यहाँ पर घर के अन्दर बैठे हुए मनुष्य को '**गगने मेघानुमितिर्मे जायताम्**' ऐसी अनुमित्सा नहीं होती और '**गगनं मेघवत्**' इस सिद्धि का निश्चय भी नहीं है, लेकिन फिर भी उसे 'घनगर्जन' सुनकर विशेष्यभाव-प्रयुक्त विशिष्ट (सिद्धि) का अभाव होने से अनुमिति हो जाती है।

जहाँ पर अनुमित्सा है लेकिन सिद्धि नहीं है, वहाँ अनुमित्सा का अभाव रूप विशेषण तथा सिद्धि रूप विशेष्य दोनों का अभाव होने से उभयाभाव-प्रयुक्त विशिष्टाभाव है। जैसे '**पर्वतो वह्निमान् धूमात्**' इस स्थल में वह्नि का निश्चय न होने से सिद्धि का अभाव है। इस पर्वत में धूम को देखकर '**पर्वते**

१. पक्षत्वं च असत्यां सिद्धौ सत्यां वाऽसत्यामनुमित्सायाम् उभयासत्त्वे वाऽनुमितेरुदयादनुमित्साविरहविशिष्टायाः सिद्धेरभावः।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २७, पङ्क्ति २७ से २८

वह्न्यनुमितिर्मे जायताम्' इस अनुमित्सा का उदय होने पर अनुमित्सा के अभाव रूप विशेषण तथा प्रतिबन्धक सिद्धि दोनों का अभाव होने से उभयाभाव-प्रयुक्त विशिष्टाभाव होने के कारण अनुमिति हो जाती है। इसके विपरीत जहाँ अनुमित्सा नहीं रहती लेकिन सिद्धि विद्यमान रहती है वहाँ विशिष्ट सिद्धि का अभाव रूप पक्षता नहीं बन पाती क्योंकि अनुमित्सा के अभाव से विशिष्ट सिद्धि का अभाव नहीं है। ऐसे स्थलों में अनुमिति भी नहीं होती।

यहाँ पर यह आशङ्का उत्पन्न होती है कि **'वह्निव्याप्त-धूमवान् पर्वतो वह्निमान्'** इस साध्यनिश्चय रूप सिद्धि तथा प्रत्यक्ष अथवा स्मृतिरूप परामर्श होने पर इसके बाद **'पर्वते वन्ह्यनुमितिर्मे जायताम्'** इस इच्छा की जगह यदि **'यत्किंचित् ज्ञानं मे जायताम्'** यह इच्छा उत्पन्न हो तो यह इच्छा भी अनुमित्सा होने से इससे अनुमिति होने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाएगा। यदि इसके निराकरणार्थ यह कहा जाए कि अनुमितित्व-प्रकारक इच्छा ही अनुमित्सा है अत: उक्त इच्छा अनुमितित्व प्रकारिका न होकर ज्ञानत्वप्रकारिका है, अत: इसके होने पर भी अनुमिति होने की आपत्ति नहीं होगी तो यह समाधान भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि यदि अनुमितत्व प्रकारिका इच्छा ही अनुमित्स मानी जाए तो **'प्रत्यक्ष-भिन्नं ज्ञानं जायताम्'** यह इच्छा जो अनुमित्सा के रू में इष्ट है, वह भी अनुमित्सा नहीं बन पाएगी, क्योंकि यह इच्छा भी अनुमिति-प्रकारिका नहीं है, अपितु ज्ञानत्व-प्रकारिका ही है। अत: अनुमितित्व-प्रकारिका इच्छा को अनुमित्सा मानने का यह नियम अनुपपन्न होने से सिद्धि परामर्शात्मक **'वह्नि-व्याप्य-धूमवान् पर्वतो वह्निमान्'** इस ज्ञान के पश्चात् **'यत्किंचिज्ज्ञानं जायताम्'** इस इच्छा में अनुमित्सात्व होने की आपत्ति होती है।

इस आपत्ति के निराकरणार्थ भाट्टचिन्तामणिकार का कहना है कि जिस प्रकार की इच्छा होने पर अनुमित्सा होती है वह इच्छा ही अनुमित्सा के रूप में यहाँ पर विवक्षित है। इसलिए **'प्रत्यक्षभिन्नं वह्निज्ञानं जायताम्'** इस इच्छा के होने पर अनुमिति होना सर्वथा इष्ट ही है।[१]

---

१. अनुमित्सा च यादृशयादृशेच्छासत्वेऽनुमिति: सा सा विवक्षिता। तेन प्रत्यक्षभिन्नं वह्निज्ञानं जायतामालोकेन वह्निज्ञानं जायतामित्यादीच्छासंग्रह:।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २७, पङ्क्ति ३० से ३२।

परामर्श-निरूपण

नैयायिकों के मतानुसार साध्य के व्याप्य (साध्य) की पक्ष में विद्यमानता की बोधक-बुद्धि परामर्श है।[1]

यह परामर्शरूप ज्ञान पक्षविशेष्यक परामर्श तथा हेतुविशेष्यक परामर्श के भेद से दो प्रकार का होता है। इन दोनों परामर्शों में यदि **पक्षो व्याप्यवान्** इस प्रकार पक्ष जिसमें विशेष्य है, ऐसा पक्षविशेष्यक परामर्श होता है तो '**पक्षः साध्यवान्**' इस प्रकार पक्ष जिसमें विशेष्य तथा साध्य प्रकार है, ऐसी पक्षक विशेष्यक अनुमिति उत्पन्न होती है।

जब हेतु जिसमें विशेष्य तथा पक्ष प्रकार है ऐसा '**पक्षे साध्यव्याप्यः**' (पक्ष में साध्य का व्याप्य है, इस प्रकार आधेयता सम्बन्ध से पक्ष प्रकारक व्याप्य-विशेष्यक परामर्श होता है, तब अनुमिति भी '**पक्षे साध्यम्**' (पक्ष में साध्य है।) इस प्रकार पक्ष-प्रकारक साध्य-विशेष्यक ही होती है। ऐसा तत्त्व-चिन्तामणिकार गङ्गेश उपाध्याय का कहना है।[2]

इस संबंध में नव्य-नैयायिकों का कथन है कि चाहे परामर्श पक्ष-विशेष्यक हो या हेतु-विशेष्यक, इन दोनों ही परामर्शों से '**पक्षः साध्यवान्**' इस प्रकार पक्षविशेष्यक अनुमिति ही उत्पन्न होती है।[3]

इस परामर्श के विषय में नैयायिकों का कहना है कि वह्नि आदि साध्यों की अनुमिति में '**वह्निव्याप्य-आलोकः**' इस प्रथम ज्ञान तथा '**आलोकवान्पर्वतः**' इस द्वितीय ज्ञान में क्रमशः व्याप्ति-ज्ञान तथा पक्ष-धर्मताज्ञान हो जाने के बाद '**वह्निव्याप्य-आलोकवान्पर्वतः**' यह जो वह्नि रूप साध्य-निरूपित व्याप्ति से विशिष्ट व्याप्य का पक्षधर्मता-ज्ञानरूप परामर्श है, यही वह्नि आदि की अनुमिति में कारण है। '**आलोकोवह्निव्याप्यः**' तथा '**आलोकवान् पर्वतः**' इन दोनों

---

१. व्याप्यस्य पक्षवृतित्वधीः परामर्श उच्यते।

–न्यायसिद्धान्तमुक्तावली–कारिका ६८, पृ॰ २२०, पङ्क्ति ५

२. परामर्शश्च यदि पक्षविशेष्यकस्तदा तद्विशेष्यिकेवानुमितिः।
हेतु-विशेष्यके तु साध्यविशेष्यिकेति मणिकृत।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ २८, पङ्क्ति ३० से ३१

३. उभय-विधेनापि पक्षविशेष्यिकैवेति नव्याः। –भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ २८, पङ्क्ति ३२
द्विविधादपि परामर्शात् पक्षः साध्यवानित्येवाऽनुमितिरित्यन्ये।

–न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली, पृ॰ २२२, पङ्क्ति १

ज्ञानों को अनुमिति के प्रति कारण मानने में गोरव दोष हो जाता है। इसके विपरीत विशिष्ट ज्ञान एक ही होने से एक अनुमिति के प्रति उक्त ज्ञानद्वय की कारणता मानने की अपेक्षा इस व्याप्ति-विशिष्ट के वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान रूप विशिष्ट परामर्श की कारणता मानने में लाघव है।[१]

परामर्श-निराकरण

नैयायिकों के इस विशिष्ट परामर्श को अनुमितिकारण मानने के सिद्धान्त का स्व-सम्प्रदाय के अनुसार निराकरण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि अनुमिति के प्रति तृतीय विशिष्ट परामर्श की कारण रूप में कल्पना करने की अपेक्षा व्याप्ति-ज्ञान तथा पक्षधर्मताज्ञान, इन दोनों ज्ञानों को अनुमिति में कारण मानने में लाघव है। कारण यह है कि व्याप्ति-विशिष्ट हेतु के पक्षधर्मता-ज्ञान रूप विशिष्ट परामर्श को अनुमिति के प्रति कारण मानने वाले नैयायिकों के मत में वह्निव्याप्य 'इस व्याप्ति के अंश में निश्चयत्व का निवेश करना होगा, क्योंकि व्याप्ति में जहाँ धूम है, वहाँ वह्नि है तथा 'जहाँ वह्नि नहीं है, वहाँ धूम भी नहीं है, इस प्रकार साध्य-साधन में एक निश्चित सम्बन्ध है। इसी प्रकार धूम अंश में भी निश्चयत्व का निवेश करना होगा। फलतः जहाँ वन्ह्यभाव है, वहाँ धूमाभाव भी है, अतः धूमाभाव में वन्ह्यभाव प्रकार है, धूम में नहीं है। इसलिए धूम मे वन्हिव्याप्ति के निश्चयत्व में वन्ह्यभाव तथा उसका अप्रकारकत्व दोनों विद्यमान होने से निश्चयत्व यह बहु-पदार्थ-घटित है इसी प्रकार व्याप्ति-ज्ञान तथा धूम, अंश होने से इन दोनों में विद्यमान निश्चयत्व में कौन कारण तथा कौन कार्य है? इसमें कोई विनिगमक नहीं है अतः इन दोनों को ही क्रमशः एक दूसरे का कार्य तथा कारण मानना होगा जिसमें गौरवदोष हो जाता है।

इसके विपरीत व्याप्तिज्ञान तथा पक्षधर्मताज्ञान, इन दोनों ज्ञानों को ही अनुमिति का कारण मानने पर दोनों में निश्चयत्व का प्रवेश करने पर भी दोनों ज्ञान अलग-अलग होने से प्रथम उपस्थित व्याप्ति-अंश वाले '**वह्निव्याप्यो-धूमः**' इस ज्ञान में विद्यमान निश्चय '**धूमवान् पर्वतः**' इस पक्षधर्मता-ज्ञान में विद्यमान

---

१. अत्र गौतमीयाः। वह्न्याद्यनुमितौ वह्निव्याप्यालोकवान्पर्वत इत्यादि-विशिष्टपरामर्शस्यैव हेतुत्वं, न त्वालोको वह्निव्याप्य-आलोकवान्पर्वत इति ज्ञानद्वयस्य, गौरवात्। यत्र च ज्ञानद्वयादनुमितिस्तत्र विशिष्टज्ञानकल्पनान्न व्यभिचार इत्याहुः।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २९, पङ्क्ति ३० से ३३

निश्चय में कारण बन जायेगा फलतः इस पक्ष में कार्यकारण–भाव–द्वय की कल्पना नहीं करनी पड़ती। इस ज्ञानद्वय को अनुमिति के प्रति कारण मानने में लाघव होने से विशिष्ट परामर्श के अनुमिति–कारणता का निराकरण हो जाता है।[1]

हेत्वाभास–निरूपण

अनुमिति में कारणीभूत (असिद्धत्व, अनैकान्तिकत्व तथा बाधकत्व रूप दोषों) के अभाव के प्रतियोगी (असिद्धत्वादि) का यथार्थ ज्ञान जिनमें प्रकार है, ऐसे हेतुनिष्ठ दोष हेत्वाभास हैं।[2] भाट्टचिन्तामणिकार ने असिद्ध, अनैकान्तिक तथा बाधक, ये तीन हेत्वाभास माने हैं। इनमें असिद्ध हेत्वाभास के स्वरूपासिद्ध, सम्बन्धासिद्ध, व्यतिरेकासिद्ध, आश्रयासिद्ध एवं व्याप्यत्वासिद्ध, ये पाँच भेद हैं।[3]

नैयायिकों ने आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध तथा व्याप्यत्वासिद्ध, इस प्रकार असिद्ध–हेत्वाभास के तीन भेद माने हैं।[4] भाट्टचिन्तामणिकार ने सम्बन्धासिद्ध तथा व्यतिरेकासिद्ध ये दो भेद और अधिक मानकर असिद्ध हेत्वाभास के पाँच भेद माने हैं।

(१) स्वरूपासिद्ध

भाट्टचिन्तामणिकार के मतानुसार जो हेतु ही अप्रसिद्ध होता है वह

---

१. मीमांसकास्तु वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत इति विशिष्ट–परामर्शस्य हेतुत्ववादिनये व्याप्त्यंशे निश्चयत्वं निवेश्य धूमांशेऽपि निश्चयत्वं निवेशनीयम्। तथा निश्चयत्वस्य तदभावाप्रकारकत्वरूपबहुतरपदार्थघटितत्वेन तेषां परस्पर विशेषण–विशेष्यभावे विनिगमनाविरहेण कार्यकारणभावबाहुल्यम्। ज्ञान–द्वयवादिनये तु ज्ञानस्य भिन्नतया निश्चयत्वप्रवेशेऽपि न मिथो विनिगमनाविरहस्तत्र लाघवमित्याहुः।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३०, पङ्क्ति १ से ६

२. अनुमितिकारणीभूताभावप्रतियोगियथार्थज्ञानप्रकारो हेतुनिष्ठदोषो हेत्वाभासः।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३१, पङ्क्ति १८ से १९

३. ते त्रयोऽसिद्धानैकान्तिकबाधकाः। तत्रासिद्धिः स्वरूपासिद्धिः सम्बन्धासिद्धिर्व्यतिरेका–सिद्धिराश्रयासिद्धिर्व्याप्यत्वासिद्धिश्चेति पञ्चधा।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३०, पङ्क्ति २६ से २८

४. तत्रासिद्धस्त्रिविधः– आश्रयासिद्धः स्वरूपासिद्धो व्याप्यत्वासिद्धश्चेति।

तर्कभाषा, पृ० १२५ , पङ्क्ति २ से ३

आश्रयासिद्धिराद्या स्यात्स्वरूपासिद्धिरप्यथ।
व्याप्यत्वासिद्धिरपरा स्यादसिद्धिरतस्त्रिधा॥

–कारिकावली ७५, न्याय–सिद्धान्त–मुक्तावली, पृ० २८२, पङ्क्ति २ से ३

अप्रसिद्धत्व–दोष से युक्त हेतु या हेतु में विद्यमान अप्रसिद्धत्व दोष स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है जैसे–

(१) बुद्ध धर्म – अधर्म के ज्ञाता हैं (प्रतिज्ञा)

(२) (उनमें) "सर्वज्ञत्व" होने से (हेतु)

इस अनुमान की सिद्धि के लिए तृतीय अवयव के रूप में उदाहरण की आवश्यकता थी, लेकिन समस्त विश्व में ऐसा कोई भी पुरुष नहीं है जिसमें "सर्वज्ञत्व" हेतु विद्यमान हो अतः इस हेतु का स्वरूप ही असिद्ध होने से इसके द्वारा बुद्ध में धर्माऽधर्म के ज्ञातृत्व की सिद्धि नहीं हो सकती।[1]

असिद्ध हेत्वाभास के स्वरूपासिद्ध भेद को नैयायिकों ने भी माना है परन्तु इनके अनुसार अप्रसिद्ध हेतु स्वरूपासिद्ध नहीं होता, अपितु पक्ष में व्याप्यत्व रूप से अभिमत हेतु का अभाव स्वरूपासिद्ध हेत्वभास होता है। इस अनुमान में नैयायिकों के मत में सर्वज्ञत्व हेतु अप्रसिद्ध नहीं है क्योंकि वह ईश्वर में विद्यमान है, लेकिन बुद्ध (पक्ष) में व्याप्यत्व रूप में अभिमत इस हेतु का अभाव होने के कारण इसके द्वारा बुद्ध में धर्माऽधर्म–वेदत्व की सिद्धि नहीं होती।[2]

(२) सम्बन्धासिद्ध

पक्ष में व्याप्यत्व रूप से अभिमत (हेतु का) हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध से अभाव सम्बन्धासिद्ध हेत्वाभास है। जिस सम्बन्ध से पक्ष में व्याप्यत्व रूप से अभिमत हेतु विद्यमान रहता है, उसे हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध कहते हैं। उस सम्बन्ध से उसका न रहना अर्थात् जिस सम्बन्ध से पक्ष में हेतु को रहना चाहिए, उस सम्बन्ध से पक्ष में हेतु का अभाव होना सम्बन्धासिद्ध हेत्वाभास है। जैसे–

(१) वह्नि अदाहक (दाहक नहीं) है – (प्रतिज्ञा)

(२) उसमें शीतत्व होने से (हेतु)

(३) जल के समान (उदाहरण)

---

१. हेत्वप्रसिद्धिः स्वरूपासिद्धिः। बुद्धो धर्माऽधर्मवेदी सर्वज्ञत्वादिति। अत्र सर्वज्ञत्वं हेतुरप्रसिद्धः।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३१, पङ्क्ति २९ से ३०

२. पक्षे व्याप्यत्वेनाभिमतस्याभावः स्वरूपासिद्धिरित्यक्षपादीयमते त्वीश्वरे प्रसिद्धिसत्वे बुद्धे तदभावादक्षतिः।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३१, पङ्क्ति ३० से ३२

स्वरूपासिद्धिस्तु पक्षे व्याप्यत्वाभिमतस्याभावः।

–न्यायसिद्धान्त–मुक्तावली, पृ० २७०, पङ्क्ति २ से ३

इस असद्धेतुक अनुमिति-स्थल में 'शीतत्व' हेतु है, जो कि जाति है तथा जाति, व्यक्ति में समवाय-सम्बन्ध से रहती है लेकिन शीतत्व जाति, शीतस्पर्श रूप गुण में ही रहती है, वह्नि में नहीं। वह्नि में शीतत्व जाति ही नहीं है अतः उसे जिस समवाय-सम्बन्ध से वह्नि में रहना चाहिए था, उस हेतुतावच्छेदक समवाय-सम्बन्ध से वह्नि में उसका अभाव होने से शीतत्व हेतु सद्धेतु न होकर सम्बन्धासिद्ध हेत्वाभास है।[१]

(३) व्यतिरेकासिद्ध

पक्षतावच्छेदक से हेतु का अभेद व्यतिरेकासिद्ध हेत्वाभास है। सद्धेतु के लिए यह आवश्यक है कि वह पक्ष में विद्यमान पक्ष के जातिरूप अवच्छेदक (पक्षतावच्छेदक) धर्म से भिन्न हो अतः जो हेतु पक्षतावच्छेदक से भिन्न नहीं होता, उसे सद्धेतु न मानकर व्यतिरेकासिद्ध हेत्वाभास माना जाता है।

जैसे–

(१) 'गौ' शब्द सास्नादिमान् का वाचक है (प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि उसमें गोशब्दत्व है (हेतु)

यहाँ पर 'गौ' शब्द पक्ष है सास्नादिमद्वचनत्व साध्य है एवं गौ शब्दत्व हेतु है। पर यहाँ पर गौ शब्द पक्ष होने से पक्षतावच्छेदक गौशब्दत्व है तथा हेतु भी गौशब्दत्व ही है अतः हेतु गौ-शब्दत्व का पक्षतावच्छेदक गौशब्दत्व के साथ अभेद होने से 'गौ-शब्दत्व' यह व्यतिरेकासिद्ध हेत्वाभास है।[२]

नैयायिकों के अनुसार यह व्यतिरेकासिद्ध हेत्वाभास ही असाधारण अनेकान्तिक हेत्वाभास है क्योंकि हेतु की सपक्ष तथा विपक्ष, इन दोनों में वृत्ति न होकर पक्षमात्र में रहना ही उसके असाधारण अनेकान्तिक हेत्वाभास होने में कारण है।[३] जैसे–

---

१. पक्षे व्याप्यत्वाभिमतस्य हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेनाभावः सम्बन्धासिद्धिः। वह्निरदाहकः शीतत्वात्दिति। –भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३१, पङ्क्ति ३३-३४
वह्निरदाहकः शीतत्वादिति सम्बन्धासिद्धिः। शैत्यस्य वह्निसम्बन्धाभावात्। –शास्त्रदीपिका, पृ० २४३, पङ्क्ति १ से २

२. पक्षतावच्छेदकहेत्वोरभेदे व्यतिरेकासिद्धिः। गोशब्दः सास्नादिमद्वचनो गोशब्दत्वात्। –भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३२, पङ्क्ति १ से २

३. अयमसाधारणानैकान्तिक इत्यक्षपादीयाः। इदमेव पक्षमात्रवृत्तित्वमसाधारणस्य। अत्र साध्यवत्साध्याभाव-साधकतयाऽनुमिति-प्रतिबन्धो दूषकताबीजम्। –भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३२, पङ्क्ति २ से ४

(१) भूमि नित्य है (प्रतिज्ञा)

(२) उसमें गन्धवत्व होने से (हेतु)

यहाँ पर हेतु गन्धवत्व तथा साध्य नित्यत्व है, इन आकाशादि सपक्ष तथा जिनमें साध्य नित्यत्व का अभाव है, जिसे जलादि तथा गमनादि क्रिया रूप विपक्ष, इन दोनों में न रहकर पक्ष पृथिवी में ही रहता है अतः हेतु सपक्ष तथा विपक्ष कहीं भी न रहने के कारण हेतु में साध्य की व्याप्ति के निश्चयार्थ कोई अनुकूल तर्क न होने से इस हेतु से किस प्रकार साध्य की सिद्धि हो रही है उसी तरह साध्याभाव की भी क्यों न हो? यह सन्देह इसके द्वारा सिद्ध किए जाने वाले साध्य की सिद्धि मे बाधक होने से इस सन्देह का उत्पादक हेतु गन्धवत्व असाधारण अनेकान्तिक हेत्वाभास है।

इसी तरह 'गौशब्दत्व' हेतु भी मात्र पक्ष गौ-शब्द में ही रहता है, विपक्ष में नहीं रहता तथा उसका कोई सपक्ष भी नहीं है जिसमें यह रह सके क्योंकि सास्नादिमद्वचनत्व मात्र गौशब्दवाच्य (गाय, बैल) में ही रहता है अतः 'गौशब्दत्व' पक्ष, गौशब्द मात्र में ही रहने से इसमें साध्य की व्याप्ति के निश्चयार्थ अनुकूल तर्क का अभाव होने के कारण इससे साध्य के समान साध्याभाव की भी सिद्धि क्यों न हो? यह सन्देह उत्पन्न हो जाता है अतः 'गौ शब्दत्व' हेतु में अनुमिति के प्रतिबन्धक इस सन्देह की उत्पत्ति हो जाने से इसे नैयायिक असाधारण अनेकान्तिक कहते हैं।

(४) आश्रयासिद्ध

जिस हेतु का आश्रय (पक्ष) असिद्ध, (अप्रसिद्ध) हो उसे आश्रयासिद्ध हेत्वाभास कहते है। जैसे–

(१) आकाश नित्य है (प्रतिज्ञा)

(२) उसमें निरवयव द्रव्यत्व होने से (हेतु)

इस स्थल में सौत्रान्तिक बौद्ध आकाश का अभाव मानते है अतः इनके मतानुसार निरवयव द्रव्यत्व हेतु का आश्रय या पक्ष आकाश अप्रसिद्ध होने के कारण 'निरवयवद्रव्यत्व' यह पक्षाप्रसिद्धि-निबन्धन रूप आश्रयासिद्ध हेत्वाभास है।

भाट्टचिन्तामणि-कार का कहना है कि पक्ष में पक्षतावच्छेदक धर्म का अभाव भी आश्रयासिद्ध हेत्वाभास है। जैसे–

(१) काञ्चनमय पर्वत वह्निमान् है (प्रतिज्ञा)

(२) उसमें धूम होने से (हेतु)

यहाँ पर हेतु धूम के पक्ष पर्वत में विशेषण पक्षतावच्छेदक काञ्चनमयत्व

का अभाव है अतः यहाँ आश्रयासिद्धहेत्वाभास रूप प्रतिबन्धक विद्यमान होने के कारण अनुमिति नहीं हो पाती है।[१]

(५) व्याप्यत्वासिद्ध

पक्ष के एक देश में न रहने वाला हेतु सद्धेतु न होकर व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास होता है। जैसे–

(१) वायु और आकाश अनित्य हैं (प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि उनमें मूर्तत्व है (हेतु)

इस असद्धेतुक अनुमिति-स्थल में, हेतु मूर्त्तत्व पक्ष वायु एवं आकाश इन दोनों में से केवल वायु में ही रहता है, आकाश में नहीं रहता[२] अतः पक्ष 'वायु एवं आकाश', इनमें एकदेश, आकाश में मूर्त्तत्व हेतु न रहने से मूर्त्तत्व में साध्य की व्याप्ति सिद्ध नहीं होती।

साध्य में साध्यतावच्छेदक धर्म का अभाव तथा हेतु में हेतुतावच्छेदक धर्म का अभाव भी व्याप्यत्वासिद्ध है। जैसे–

(१) कांञ्चनमय पर्वत वह्निमान् है (प्रतिज्ञा)

(२) क्योंकि उसमें काञ्चनमयधूम है (हेतु)

यहाँ पर साध्य वह्नि में साध्यतावच्छेदक कांञ्चनमयत्व का तथा हेतु 'काञ्चनमयधूम' में हेतुतावच्छेदक काञ्चमयत्व का अभाव होने से हेतुतावच्छेदक-विशिष्ट हेतु का ज्ञान नहीं होता अतः यहाँ काञ्चनमयधूम हेतु व्याप्यत्वसिद्ध रूप हेत्वाभास दूति है।

नैयायिकों का कथन है कि '**पर्वतो वह्निमान् नीलधूमात्**' इस स्थल में

---

१. पक्षा-प्रसिद्धिराश्रयासिद्धिः। आकाशो नित्यो निरवयवद्रवयत्वादिति। सौत्रान्तिकमाकाशा-भाववादिनं प्रत्याश्रयासिद्धिः। पक्षतावच्छेदकाप्रसिद्धिरपि सा। काञ्चनमय-पर्वतो वह्निमानिति।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३२, पङ्क्ति ५ से ७

नित्यमाकाशं निरवयवद्रव्यत्वादिति सौत्रान्तिकमाऽऽकाशाभाववादिनं प्रत्याश्रयासिद्धिः।

–शास्त्रदीपिका, पृ० २४६, पङ्क्ति १ से ३

२. पक्षैकदेशे हेतोरवृत्तित्वं व्याप्यत्वासिद्धिः। यथा, वायुराकाशश्चानित्यौ मूर्त्तत्वादिति। साध्ये साध्यतावच्छेदकस्य, हेतौ हेतुतावच्छेदकस्याप्रसिद्धिर्व्याप्यत्वासिद्धिः। काञ्चनमयपर्वतो वह्निमान् काञ्चनमय-धूमादिति।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३२, पङ्क्ति ८ से १०

वायुराकाशश्चानित्यौ मूर्त्तत्वादिति व्याप्यत्वासिद्धिः मूर्त्तत्वस्याकाशे व्याप्त्यभावादिति।

–शास्त्रदीपिका, पृ० २४६, पङ्क्ति ३ से ४

नीलधूमत्व में धूमत्व की अपेक्षा नीलत्व तथा धूमत्व इन दोनों का समावेश होने से गौरव दोष है अतः नीलधूमत्व, हेतुता का अनवच्छेदक (अवच्छेदक नहीं) है अपितु धूमत्व ही हेतुता का अवच्छेदक है इसलिए नीलधूम हेतुता का अवच्छेदक न होने के कारण नील धूम में साध्य वह्नि की व्याप्ति असिद्ध हो जाने से नील धूम में व्याप्यत्वासिद्ध रूप दोष है फलतः इस दोष-ज्ञान से **'वह्निव्याप्यनील-धूमवान् पर्वतः'** यह परामर्श प्रतिबन्धित हो जाने से अनुमिति नहीं होती।[1]

(६) अनैकान्तिक

जिस हेतु से साध्य की सिद्धि होने में सन्देह उत्पन्न हो जाता है, उसे अनैकान्तिक-हेत्वाभास कहते हैं। ऐसे असद्धेतु द्वारा साध्य की सिद्धि में सन्देह उत्पन्न होने में निम्नलिखित दो कारण होते हैं।

(१) इनमें हेतु का साध्य के साथ ही साथ साध्य के अभाव से भी सम्बन्धित रहना साध्यसिद्धि में सन्देह की उत्पत्ति में प्रथम कारण है। जैसे-

(१) 'शब्द नित्य है' (प्रतिज्ञा)

(२) 'उसमें अमूर्तत्व होने से' (हेतु)

(३) 'आकाश के समान' (उदाहरण)

इस स्थल में हेतु अमूर्तत्व जहाँ पर साध्य-नित्यत्व विद्यमान है, ऐसे आकाश में रहने के साथ ही साथ जहाँ साध्य-नित्यत्व नहीं है ऐसी गमनादि क्रियाओं में भी विद्यमान रहने से साध्य तथा साध्याभाव दोनों से सम्बन्धित है अतः अमूर्तत्व हेतु से पक्ष शब्द में साध्य नित्यत्व की सिद्धि में सन्देह उत्पन्न होने से अमूर्तत्व, अनैकान्तिक हेत्वाभास है।[2]

---

१. एवं नीलधूमादित्यादावपि नीलधूमत्वस्य गुरुतया हेतुतानवच्छेदकत्वेन सापि व्याप्यत्वासिद्धिरित्यक्षपादीयाः।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ३२, पङ्क्ति ११ से १२

एवं वह्निमान् नीलधूमादित्यादौ गुरुतया नीलधूमत्वस्य हेतुतानवच्छेदकत्वमपि व्याप्यत्वासिद्धिरित्यपि वदन्ति।

- न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली, पृ॰ २७१ पङ्क्ति ५ से ७

२. साध्यसन्देहजनको हेतुरनैकान्तिकः। सन्देहजनकत्वं च साध्यतदभावसम्बन्धित्वज्ञानेन सत्प्रतिपक्षितत्वेन च। यथा नित्यः शब्दोऽमूर्त्तत्वादिति। अत्रामूर्त्तत्वमनित्य- क्रियादि- साधारणत्वात् साध्यसन्देहं जनयति।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ३२, पङ्क्ति १३ से १९

सत्प्रतिपक्ष हेतु के द्वारा साध्य की सिद्धि में सन्देह उत्पन्न होने में दूसरा कारण हेतु में सत् प्रतिपक्षत्व-दोष का होना है। यदि किसी हेतु से किसी साध्य की सिद्धि की जा रही हो और दूसरा हेतु उसी साध्य के अभाव को सिद्ध कर रहा हो, इसी प्रकार यदि ये दोनों हेतु समान बल वाले हों तो ऐसे दोनों हेतु, एक दूसरे के प्रतिपक्षी होने से सत्प्रतिपक्षत्व-दोष से ग्रस्त हो जाते है फलतः दोनों के ही साध्यों की सिद्धि में सन्देह उत्पन्न हो जाता है। जैसे–

(१) वायु अप्रत्यक्ष है (प्रतिज्ञा)

(२) उसमें अरूपि-द्रव्यत्व होने से (हेतु)

यहाँ पर वायु में अरूपि-द्रव्यत्व-हेतु से अप्रत्यक्षत्व-साध्य की सिद्धि की जा रही है। इसी तरह–

(१) वायु प्रत्यक्ष है (प्रतिज्ञा)

(२) उसमें महत्त्व होते हुए उद्भूतस्पर्शवत्त्व होने से (हेतु)

यहाँ पर वायु में उक्त हेतु से अरूपिद्रव्यत्व-हेतु के साध्य अप्रत्यक्षत्व के अभाव रूप प्रत्यक्षत्व की सिद्धि की जा रही है अतः इससे अरूपिद्रव्यत्व-हेतु, सत्-प्रतिपक्षित हो जाता है। इसी तरह 'अरूपिद्रव्यत्व हेतु से' '**महत्त्वे सति उद्भूत-स्पर्शवत्त्वम्**' यह हेतु भी सत् प्रतिपक्षित हो जाता है इसलिए एक हेतु साध्य का तथा दूसरा हेतु साध्याभाव का व्याप्य होने से इन दोनों का ज्ञान होने पर साध्य एवं साध्यभाव की व्याप्यता का ज्ञान उत्पन्न हो जाने पर दोनों साध्यों की सिद्धि होने में संशय उत्पन्न हो जाता है और नैयायिकों की यह मान्यता है कि संशयाकार अनुमिति नहीं होती अतः दोनों असद्धेतुओं से जायमान अनुमिति परस्पर एक दूसरे से प्रतिबन्धित हो जाती है।[१]

---

१. एवं वायुरप्रत्यक्षोऽरूपिद्रव्यत्वात्। वायुः प्रत्यक्षो महत्त्वे सत्युद्भूतस्पर्शवत्वात्। अत्रोभयोः समबलत्वात्साध्यसन्देहजनकतेति। अत्र साध्यतदभावव्याप्यताज्ञानात्परस्परानुमितिप्रतिबन्धो न संशयाकारानुमितिरित्यक्षपादीयाः।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३२, पङ्क्ति १६ से १९

अनैकान्तिकं द्विविधम्-सव्यभिचारं सप्रतिसाधनञ्च नित्यः शब्दोऽमूर्त्तत्वादिति कर्मादिष्वनित्येष्वप्यमूर्तस्य सम्भवाद् व्यभिचार्यमूर्त्तत्वम्। 'अप्रत्यक्षो वायुर्द्रव्यत्वे सत्यरूपत्वात्' 'प्रत्यक्षो वायुर्महत्त्वे सति स्पर्शवत्वादिति' सत्प्रतिसाधनत्वादुभयमप्यनिर्णायकं संशये हेतुः।

–शास्त्रदीपिका, पृ० २४६, पङ्क्ति ५ से पृ० २४७, पङ्क्ति ३

रत्नकोशकार-मत-निरूपण

इस सम्बन्ध में रत्नकोशकार का कहना है कि सत्प्रतिपक्ष-द्वारा संशय उत्पन्न होने से सत्प्रतिपक्ष का निश्चय अनुमिति में प्रतिबन्धक मानने का नैयायिकों का सिद्धान्त समीचीन नहीं है, क्योंकि जैसे अन्धकार-स्थित पुरुष को **'अयं पुरुषो न वा'** ऐसा पुरुषत्व तथा पुरुषत्वाभाव उभयव्याप्यत्ता-ज्ञान होने पर भी अर्थात् यह पुरुषत्वव्याप्याकरादि अवयवों वाला है या पुरुषत्व के अभाव (स्थाणु) के व्याप्य शाखादि अवयवों वाला है, ऐसा पुरुषत्व तथा पुरुषत्वाभावरूप दोनों ही कोटियों का प्रत्यक्षात्मक संशय होता है। इस प्रत्यक्षात्मक संशय के ही समान विरुद्धकोटिद्‌वय-व्याप्यवत्ताज्ञानरूप **'वायुः प्रत्यक्षो अप्रत्यक्षो वा'** इस अनुमिति-स्थल में सत्प्रतिपक्ष का निश्चय होने पर भी संशयकार अनुमिति हो जाती है।

जहाँ पर एक कोटि-व्याप्य-दर्शन में प्रबलता होती है वहाँ द्वितीय कोटि के भान का प्रतिबन्ध हो जाने से एक कोटि-व्याप्य-दर्शन-स्थल में संशय नहीं होता। फल के बल से प्रबलता या समबल-भाव की कल्पना की जाती है।

अभिप्राय यह है पुरुषत्व तथा पुरुषत्वाभाव दोनों कोटियों का प्रत्यक्ष होने पर यदि पुरुषत्व की भावरूप प्रमा उत्पन्न हो तो इसे पुरुषत्वा-भाव-प्रमा से प्रबल समझना चाहिए, यदि अभाव-कोटि की प्रमा उत्पन्न हो तो उसे भाव-कोटि की प्रमा से प्रबल समझना होगा। और जब तक दोनों में से कोई एक निश्चय नहीं हो जाता तब तक दोनों ही कोटियों को प्रबल समझना चाहिए।[१]

रत्नकोशकार-मत-निराकरण

संशयाकार अनुमिति मानने के रत्नकोशकार के उपर्युक्त मत का निराकरण करते हुए नव्य नैयायिक कहते हैं कि तद् अभाववत्ता-ज्ञान के ही समान

---

१. अत्राहुः स्थाणुत्व-पुरुषत्वव्याप्यवत्ताज्ञाने प्रत्यक्षरूपसंशयवत्सत्प्रतिपक्षस्थलेपि संशयाकारानुमितिरस्तु। यत्रैककोटिव्याप्यदर्शनं प्रबलं तत्राधिकबलतया द्वितीयकोटि-भानप्रतिबन्धान्न संशयः। फलबलेन चाधिकसमबलभावः कल्प्य इति।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३२, पङ्क्ति २० से २३

एवं कोटिद्वय-व्याप्यदर्शनेऽपि कोटिद्वयस्य प्रत्यक्षरूपः संशयो भवति, तथा सत्प्रतिपक्षस्थले संशयरूपानुमितिर्भवत्येव। यत्र चैककोटि-व्याप्यदर्शनं तत्राधिकबलतया द्वितीय-कोटि-भान-प्रतिबन्धान्न संशयः। फलबलेन चाधिकबलसमबलभावः कल्प्यत इत्याहुः।

-न्या० सिद्धान्त-मुक्तावली, पृ० २६७, पङ्क्ति १ से ४।

तद्-अभाव-व्याप्यवत्ता-ज्ञान का भी लौकिक सन्निकर्ष से अजन्य ज्ञानत्व ही प्रतिबध्यतावच्छेदक है अतः संशयकार अनुमिति नहीं होती।[1]

(७) बाधकः

जो हेतु, साध्य का साधक न होकर इसके विपरीत साध्य के अभाव का साधक होता है वह बाध-दोष से ग्रस्त होने के कारण 'बाधक-हेत्वाभास कहलाता है। जैसे–

(१) शब्द नित्य है (प्रतिज्ञा)

(२) उसमें कृतकत्व (कार्यत्व) होने से (हेतु)

यहाँ पर कृतकत्व हेतु, नित्यत्व का व्याप्य न होकर, "जो कृतक होता है, वह अनित्य ही होता है, जैसे घटादि हैं," इस व्याप्ति से साध्य नित्यत्व के अभाव अनित्यत्व का व्याप्य होने से बाधक-हेत्वाभास है।

नैयायिकों के मतानुसार जो हेतु साध्य-सामान्य का व्याप्य न होकर साध्य के विरोधी साध्याभाव-सामान्य का व्याप्य होता है वह विरुद्ध हेत्वाभास है।

यह कृतकत्व हेतु भी साध्य-सामान्य-नित्यत्व का व्याप्य न होकर साध्य-सामान्य-नित्यत्व के विपर्यय (विरुद्ध) साध्याभाव-सामान्य अनित्यत्व का व्याप्य होने से अनित्यत्व का साधक है अतः 'कृतकत्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है।[2]

अनुमान-भेद-निरूपण

इस प्रकार विवेचित अनुमान प्रमाण के, "स्वार्थानुमान" एवं "परार्थानुमान" ये दो भेद हैं।

---

१. अत्र नव्याः-तदभाववत्ताज्ञानस्यैव तदभावव्याप्यवत्ताज्ञानस्यापि लौकिकसन्निकर्षाजन्य-ज्ञानत्वमेव प्रतिबध्यतावच्छेदकं तेन न संशयाकारानुमितिरित्याहुः।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३२, पङ्क्ति २४ से २६

२. बाधकस्तु साध्याभावसाधकः। अयं विरुद्ध इत्यक्षपादीयाः। यथा शब्दो नित्यः कृतकत्वादिति। अत्र कृतकत्वमनित्यत्वव्याप्यं नित्यत्वं बाधते। अयं साध्यसामान्यविपर्यय-साधक इत्युच्यते इति दिक्।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३२, पङ्क्ति २७ से २९

तथा बाधको नाम हेत्वाभासो यो विरुद्ध इति तार्किकैरभिधीयते।

–शास्त्रदीपिका, पृ० २५२, पङ्क्ति १ से २

(१) स्वार्थानुमान

जिसके द्वारा स्वयं अनुमान-कर्त्ता को अपने विवाद का विषय बने हुए साध्य की अनुमिति होती है उसे स्वार्थानुमान कहते है।

(२) परार्थानुमान

जब कोई मनुष्य स्वयं धूमादि से अग्न्यादि का अनुमान कर दूसरे मनुष्य को अनुमिति कराने के लिए प्रतिज्ञा, हेतु उदाहरणादि अवयवों का प्रयोग करता है तथा इनसे दूसरे मुनष्य को जो अनुमिति रूप ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे परार्थनुमान कहते हैं।[1]

अवयव-विचार

यह परार्थानुमान जिन अवयवों से सम्पन्न होता है उन्हें नैयायिकों ने प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन, इस भेद से पाँच प्रकार का माना है।[2]

(१) प्रतिज्ञा

साध्य से विशिष्ट पक्ष का प्रतिपादक वाक्य प्रतिज्ञा है। जैसे- 'पर्वत वह्निमान् है,' इस वाक्य में पक्ष पर्वत साध्य वह्नि से विशिष्ट (युक्त) है, इस तथ्य का प्रतिपादन किया गया है अतः यह वाक्य प्रतिज्ञा वाक्य है।[3]

(२) हेतु

तृतीयान्त तथा पञ्चम्यन्त, इन दोनों में से किसी एक रूप में अनुमिति का प्रयोजक वाक्य हेतु है। जैसे '**पर्वतो वह्निमान्-धूमवत्वात्**' (पर्वत वह्निमान् है, (उसमें) धूमवत्व होने से) यहाँ पर '**धूमवत्वात्**' यह पञ्चम्यन्त हेतु का उदाहरण है। तृतीयान्त हेतु के उदाहरण के रूप में '**धूमेन पर्वतो वह्निमान्**'

---

२. तच्चानुमानं द्विविधं, स्वार्थं परार्थञ्च। परामर्शेन स्वस्यैव साध्यज्ञानजनकं स्वार्थम्। प्रतिज्ञाद्यवयवप्रयोगेण परस्य साध्यज्ञानजनकं परार्थम्।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ३०, पङ्क्ति २० से २४

१. ते च प्रतिज्ञा-हेतूदाहरणोपनयनिगमनरूपाः पञ्च। -भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ३०, पङ्क्ति २५।
अक्षपादीयास्तावत्-प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनैः पञ्चावयवं साधनं मन्यते।

-शास्त्रदीपिका, पृ॰ २३८, पङ्क्ति ५

३. साध्यविशिष्टपक्षप्रतिपादकवाक्यत्वं प्रतिज्ञात्वं, यथा पर्वतो वह्निमानिति।

(धूम होने से पर्वत वह्निमान है।) ऐसा ही कह सकते हैं, परन्तु तृतीयान्त-हेतु की अपेक्षा पञ्चम्यन्त-हेतु ही अधिक प्रचलित है।[१]

(३) उदाहरण

दृष्टान्त-सहित हेतु में साध्य की व्याप्ति का प्रतिपादक वाक्य उदाहरण है। जैसे 'जो धूमवान् होता है, वो वह्निमान् (अवश्य) होता है, जैसे कि महानस (रसोईघर) है। इस वाक्य में जो धूमवान् है वह वह्निमान् है, इतना अंश धूम में वह्निमान की व्याप्ति का प्रतिपादन करता है तथ महानस यह धूम में वह्नि व्याप्ति का दृष्टान्त है अतः यह पूरा वाक्य सदृष्टान्त हेतु में साध्य की व्याप्ति का प्रतिपादक उदाहरणवाक्य है।[२]

(४) उपनय

साध्य की व्याप्ति से विशिष्ट हेतु के पक्ष में वैशिष्ट्य (पक्षवृत्ति) का प्रतिपादक वाक्य 'उपनय' है। जैसे **"वह्निव्याप्य-धूमवानयं पर्वतः"** इस वाक्य में वह्नि की व्याप्ति से विशिष्ट धूम की पर्वत में पक्षधर्मता का निश्चय होता है।[३]

(५) निगमन

साध्य की व्याप्ति से विशिष्ट पक्षवृत्ति-हेतु से युक्त साध्य से विशिष्ट पक्ष का प्रतिपादक वाक्य 'निगमन' है। जैसे **"वह्निव्याप्यधूमवत्वात् पर्वतोऽयं वह्निमान्"** (वह्नि के व्याप्य धूम से युक्त होने के कारण यह पर्वत वह्निमान् है।) यह वाक्य है। इस वाक्य द्वारा व्याप्ति तथा पक्षधर्मता से युक्त पक्ष में साध्य के सम्बन्ध का ज्ञान होता है।[४]

उदाहरण-भेद

प्रतिज्ञादि पञ्चावयव वाक्यों में विवेचित उदाहरण-वाक्य के साधर्म्योदाहरण तथा वैधर्म्योदाहरण ये दो भेद हैं।[५]

---

१. तृतीययान्तपञ्चम्यन्तान्यतरानुमितिप्रयोजकवाक्यत्वं हेतुत्वं, यथा धूमवत्वादिति।

२. सदृष्टान्तव्याप्ति-प्रतिपादकवाक्यत्वमुदाहरणत्वं, यथा यो धूमवान् सोऽग्निमान् यथा महानस इति। –भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३०, पङ्क्ति २७ से ३२

३. व्याप्तिविशिष्ठवैशिष्ट्यावगाहिपक्षप्रतिपादकवाक्यत्वमुपनयत्वं, यथा तथा चायमिति।

४. व्याप्तिविशिष्टवैशिष्ट्यहेतुक-साध्यविशिष्टपक्षप्रतिपादकवाक्यत्वं निगमनत्वं, यथा वह्निव्याप्य-धूमवत्वाद् वह्निमानिति।

५. उदाहरणं साधर्म्योदाहरणं वैधर्म्योदाहरणं चेति द्विविधम्।
–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३१, पङ्क्ति १ से ५

उदाहरणं द्विविधम्- साधर्म्योदाहरणं वैधर्म्योदाहरणञ्च।
–शात्रदीपिका, पृ० २६२, पङ्क्ति १

(१) साधर्म्योदाहरण

हेतुमान् को उद्देश्य करके जिसके द्वारा साध्यवान् का ग्रहण होता है, वह उदाहरण साधर्म्योदाहरण है। जैसे-जो धूमवान् हैं वे वह्निमान हैं, जैसेकि महानस, चत्वर, अग्निशाला आदि हैं।

यहाँ पर जिनमें हेतु विद्यमान है ऐसे हेतुमान् महानसादि को उद्देश्य करके 'जो हेतुमान् हैं वे साध्यवान् हैं, इस अन्वय-व्याप्ति से साध्यवान् का ग्रहण किया गया है। यहाँ पर जहाँ धूम रहता है वहाँ वह्नि रहती है' इस अन्वय-व्याप्ति रूप साधर्म्य का ग्रहण होता है।

(२) वैधर्म्योदाहरण

साध्याभाव के उद्देश्य से हेत्वभाववान् का जिसके द्वारा ग्रहण होता है, वह वैधर्म्योदाहरण है। जैसे-'जहाँ वह्नि का अभाव रहता है वहाँ धूम का भी अभाव रहता है' इस व्यतिरेक-व्याप्ति द्वारा धूमादि-हेतुनिष्ठ वह्नि आदि साध्यनिरूपित व्यतिरेक-व्याप्ति का जिन उदाहरणों द्वारा ग्रहण होता है वे वैधर्म्योदाहरण हैं। जैसे-ह्रद, महाह्रद, सागर आदि धूम में वह्नि की व्यतिरेक व्याप्ति के प्रतिपादक वैधर्म्योदाहरण हैं।[1]

भाट्टचिन्तामणिकार का कहना है कि अन्वय तथा व्यतिरेक, इन दोनों में से किसी एक व्याप्ति का निश्चय हो जाने पर भी अनुमिति उपपन्न हो जाती है अतः हेतु में साध्य की अन्वय एवं व्यतिरेक व्याप्ति का ज्ञान कराने वाले साधर्म्योदाहरण तथा वैधर्म्योदाहरण इन दोनों में से किसी एक से ही हेतु में साध्य की व्याप्ति का ज्ञान सम्भव होने के कारण दोनों को मानने की आवश्यकता नहीं है।[2]

अवयव-त्रय का प्रतिपादन

मीमांसा-सम्प्रदाय में अनुमान के तीन ही अवयव मान्य हैं। इस विषय में

---

१. हेतुमदुद्देशेन साध्यवदुपादानमाद्यम्। साध्याभाववदुद्देशेन हेत्वभाववदुपादानं द्वितीयम्।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३१, पङ्क्ति ५ से ७

२. तत्रैकेनैव गतार्थत्वान्न द्वयोरावश्यकतेति।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३१, पङ्क्ति ५ से ७

भाट्टचिन्तामणिकार का कहना है कि प्रतिज्ञा, हेतु तथा उदारहण, इन तीन अवयवों से ही 'धूमज्ञानज्ञाप्य वह्निमान् से अभिन्न पर्वत वह्निव्याप्य धूमवान् महानस के सदृश हैं इस प्रकार प्रतिज्ञा, हेतु तथा उदाहरण वाक्यों से उत्पन्न इस वाक्यार्थ ज्ञान से अनुमिति उत्पन्न हो जाने से 'उपनय तथा निगमन' इन दो अधिक अवयवों को मानना व्यर्थ है।[1]

नैयायिकों के मत का खण्डन करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि **'पर्वतो वह्निमान, धूमात्'** इन प्रतिज्ञा तथा हेतु रूप दो अवयवों से ही हेतु धूमादि के वैशिष्ट्य (पक्षधर्मता) का ज्ञान उपपन्न हो जाता है अतः उपनय मानना व्यर्थ है।

इसी तरह 'निगमन' मानना भी व्यर्थ है, क्योंकि 'निगमन' से पक्ष में साध्य के सम्बन्ध का ही ज्ञान होता है और यही ज्ञान प्रतिज्ञा से भी उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार 'उपनय' तथा 'निगमन' दोनों ही निरर्थक हैं।[2]

दूसरा पक्ष यह भी है कि उदाहरण, उपनय एवं निगमन ये तीन अवयव ही माने जाएं। इन तीनों से साध्य की सिद्धि हो जाती है क्योंकि हेतु तथा प्रतिज्ञा का कार्य उपनय तथा निगमन से ही सिद्ध हो जाता है अतः इस पक्ष में प्रतिज्ञा तथा हेतु इन दो अवयवों का कोई प्रयोजन न होने से इन्हें मानना व्यर्थ है।[3]

उक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि प्रतिज्ञा तथा हेतु इन दो अवयवों को मानने पर उपनय और निगमन इन अवयवों को मानने की आवश्यकता नहीं रहती। इसी प्रकार उपनय तथा निगमन को स्वीकार करने पर प्रतिज्ञा तथा हेतु रूप अवयवों की आवश्यकता नहीं होती। दोनों पक्षों में किन्हीं तीन ही अवयवों से अनुमिति उपपन्न हो जाने से अनुमान के पाँच अवयव मानना समीचीन नहीं है।

---

१. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणैरेव धूमज्ञानज्ञाप्यवह्निमदभिन्नः पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवान्महानस-सदृश इति वाक्यार्थज्ञानादनुमिति-जननादुपनय-निगमने व्यर्थे।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३१, पङ्क्ति ११ से १३

२. न च पर्वते धूमवैशिष्ट्यज्ञानार्थमुपनयः। प्रतिज्ञा-हेतुभ्यामेव सिद्धेः। निगमनप्रयोगस्तु सर्वथैव व्यर्थः। एवञ्चोपनय-निगमनानवयवाविति।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३१, पङ्क्ति १४ से १६

३. यद्वोदाहरणप्रभृतिभिरैव साध्यसिद्धेः प्रतिज्ञाहेत्वोर्न किञ्चित्प्रयोजनमिति दिक्।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३१, पङ्क्ति १६ से १७

अनुमान-प्रमाण-निरूपण का प्रयोजन

धर्म निरूपणार्थ प्रवृत्त मीमांसाशास्त्र में विवेचित अनुमान-प्रमाण के विशद प्रतिपादन का क्या प्रयोजन है? इस आशङ्का को ध्यान में रखते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि 'व्याप्य में व्यापक की व्याप्ति का निश्चय होने पर ही अनुमान-प्रमाण से व्यापक की अनुमिति हुआ करती है। यतः धर्म का कोई व्याप्य नहीं है, जिसमें धर्म की व्याप्ति का ग्रहण हो सके अतः धर्म का अनुमान-प्रमाण से ज्ञान असम्भव है फलतः धर्म का ज्ञान मात्र वेद से ही सम्भव है। इस तथ्य का ज्ञान कराना ही मीमांसाशास्त्र के इस प्रकरण-ग्रन्थ में विवेचित अनुमान का प्रयोजन है।[१]

३. उपमान प्रमाण एवं उपमिति प्रमाण

पूर्व-दृष्ट अर्थ का स्मरण होने पर सामने दिखलाई पड़ने वाले अर्थ में उस पूर्वदृष्ट अर्थ के सादृश्य का ज्ञान 'उपमान' है। 'उपमान' प्रमाण का यह स्वरूप स्पष्ट करने के अनन्तर आचार्य विश्वेश्वर भट्ट 'उपमिति' प्रमा का निरूपण करते हुए कहते हैं कि दृश्यमान गवय-निरूपित सादृश्य जिसमें प्रकार अर्थात् विशेषण है ऐसी (गवय-निरूपित सादृश्य प्रकारक '**अनेन सदृशी मदीया गौः**' यह गो-विशेष्यक प्रमा उपमान का फल 'उपमिति' है।

इस उपमान के विषय में मीमांसकों का कहना है कि अपने घर में स्थित गाय को जिसने अच्छी तरह देखा है, ऐसा व्यक्ति जब किसी आरण्यक (वनवासी) से (नीलगाय, गाय के समान होती है) '**गोसदृशो गवयः**' ऐसा वाक्य सुनता है और फिर वन में जाकर गवय को देखता है तब उसे आरण्यक द्वारा कथित अतिदेश-वाक्य का स्मरण होने पर 'यह गवय गाय के सदृश है' इस प्रकार गवय में गो-निरूपित सादृश्य का जो ज्ञान होता है, वही उपमान-प्रमाण है। गवय में गो-निरूपित सादृश्य का ज्ञान होने पर '**अनेन सदृशी मदीया गौः**' (मेरी गाय इस पशु जैसी है) ऐसा जो अप्रत्यक्ष-गोनिष्ठ-गवय-निरूपित सादृश्य-ज्ञान उत्पन्न होता है, वही उपमान-प्रमाण का फल, 'उपमिति-प्रमा' है।

इस प्रकार अरण्य में गवयदर्शन, यह उपमान-प्रमाण, आरण्यक के वाक्य

---

१. तदिदमनुमानं न धर्मप्रमिति-जनकं व्याप्याभावेन व्याप्त्यग्रहादिति।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३२, पङ्क्ति ३०

के अर्थ का स्मरण, अवान्तर-व्यापार तथा गोनिष्ठ गवय-सादृश्य-ज्ञान, उपमिति-प्रमा है।[१]

उपमान प्रमाण तथा उपमिति का स्वरूप प्रदर्शित करने के अनन्तर ग्रन्थकार विश्वेश्वर भट्ट धर्मात्मक कर्म में इसकी उपयोगिता को प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार उपमान प्रमाण से गवय-दर्शन होने पर गृहस्थित गौ का स्मरणात्मक ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार किसी 'विकृति' याग को देखकर उसके सदृश प्रकृतियाग का स्मरण होने पर प्रकृति याग में प्रतिपादित अङ्गों की अतिदेश द्वारा विकृति में 'प्राप्ति' ही इस उपमान प्रमाण का वास्तविक प्रयोजन है। यथा - '**सौर्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकामः**,'[२] (जिसे ब्रह्मवर्चस् की कामना हो वह सूर्य देवता के लिए चरु का निर्वाप करे।) इस विधि द्वारा आग्नेय याग के इस विकृति रूप सौर्य याग की प्राप्ति होने पर चूँकि यह याग आग्नेय याग का विकृति याग है अतः इसमें अतिदेश वाक्य से आग्नेय याग के अङ्गों की प्राप्ति का बोध हो जाता है। परिणाम-स्वरूप आग्नेय याग में पढ़े गये '**अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि**'[३] इस मन्त्र की विभक्ति-विपरिणाम-ज्ञानस्वरूप ऊह के बल पर सौर्य याग में '**सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामि**' इस रूप में सङ्गति होना ही इस उपमान प्रमाण तथा तज्जन्य उपमिति प्रमा की सार्थकता है।[४]

नैयायिक-मतोपस्थापना

इस उपमान के विषय में नैयायिकों का कहना है कि उपमान अङ्गाङ्गिभाव

---

१. उपमानं पूर्वदृष्टेऽर्थे स्मर्यमाणे दृश्यमानार्थसादृश्यज्ञानम्। दृश्यमानगवयनिरूपित-सादृश्य-प्रकारकगोविशेष्यकप्रमा उपमितिः। तत्करणं गवयपिण्डदर्शनमित्यर्थः। एवं-चारण्यकवाक्यार्थज्ञानवतोऽरण्ये गवयदर्शनं तत्करणं, तत्सादृश्य-विशिष्टो गौरिति ज्ञानं प्रमा, वाक्यार्थस्मरणमवान्तरव्यापार इति।

—भाट्टचिन्तामणि पृ० ४५ पङ्क्ति १८ से २२

"पूर्वदृष्टे स्मर्यमाणार्थे दृश्यमानार्थस्मरणमवान्तरव्यापार इति।"

—शास्त्रदीपिका पृ० २८५ पङ्क्ति ०४

२. मैत्रायणी संहिता १.१.४.२।

३. तैत्तिरीय-संहिता २.२.२।

४. एवञ्च प्रत्यक्षसौर्यविधिसादृश्यस्याग्नेयविधानुपमत्योपस्थिताग्नेयविधिविहितेतिकर्तव्यताया अपेक्षितायाः सौर्याङ्गत्वबोधफलमिति जीर्णाः।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४५ पङ्क्ति २७ से २८

का बोधक नहीं होता अपितु शब्द की शक्ति का ग्राहक होता है। इसलिए यदि उपमान में अङ्गाङ्गिभाव का बोधकत्व माना जाए तो उसमें जो शक्तिग्राहकत्व है उसकी अनुपपत्ति हो जाती है।

इसी प्रकार चूँकि **'गो सदृशो गवयः'** इस अतिदेश वाक्य के अर्थ-ज्ञान से गो में गवयनिरूपित सादृश्य-ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो पाती अतः वाक्यार्थ का ज्ञान होने पर जो गवय-रूप पिण्ड का दर्शन होता है उसे उपमान-प्रमाण नहीं माना जा सकता। परिणामतः गोसादृश्य से विशिष्ट गवय-दर्शन ही उपमान-प्रमाण है तथा **'गोसदृशो गवयः'** इस अतिदेश वाक्य का अर्थस्मरण, गो सादृश्य-विशिष्ट-गवय-प्रत्यक्ष-रूप-करण से उपमिति रूप फल उत्पन्न होने में अवान्तर-व्यापार है। यह पिण्ड गवय-पद का वाच्य है या गवय, गवयपद का वाच्य है, इस प्रकार संज्ञा-संज्ञि के वाच्यवाचक-सम्बन्ध का जो ज्ञान है, वही उपमिति-प्रमा है।[१]

नैयायिकमत-निराकरण

नैयायिकों के इस संज्ञासंज्ञि-सम्बन्ध-ज्ञान को उपमान का फल मानने के सिद्धान्त का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती मीमांसकों का कहना है कि उक्त मान्यता में **'अनेन सदृशी मदीया गौः'** यह लोकसिद्ध अनुभव बाधक है फलतः **'गोसदृशो गवयः'** इस अतिदेश-वाक्य के स्मृतिरूप व्यापार की पहले कल्पना करना तथा फिर उसके आधार पर गवय, गवय-शब्द का वाच्य है, ऐसे ज्ञान की कल्पना सर्वथा अनुभव के विपरीत है।

इसके अतिरिक्त **'गोसदृशो गवयः'** ऐसा अतिदेश-वाक्य सुनकर वन में गवयदर्शन होने के पश्चात् उत्पन्न गवय, गवय पद-वाच्य है इस संज्ञासंज्ञि-सम्बन्ध की प्रतीति को यदि उपमिति मानते हैं तो यह प्रतीति **'गोसदृशो गवयः'** इस

---

१. सम्बन्धस्य परिच्छेदः संज्ञायाः संज्ञिना सह
प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वात् उपमानं फलं विदुः।।
—न्याय-कुसुमाञ्जलि, तृतीय-स्तबक, १०

ग्रामीणस्य प्रथमतः पश्यतो गवयादिकम्।
सादृश्यधीर्गवादीनां या स्यात्सा करणं मतम्।।
—न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली, कारिका ७९

वाक्यार्थ-स्यातिदेशस्य-स्मृतिर्व्यापार उच्यते।
गवयादिपदानां तु शक्ति-धीरुपमाफलम्।।
—न्याय-सिद्धान्तमुक्तावली, कारिका ८०।

अतिदेशवाक्य द्वारा सम्पन्न हो जाने से इसे उपमिति ही नहीं माना जा सकेगा। इसके अतिरिक्त 'जिस शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग होता है वह पदार्थ उसका वाच्य होता है इस व्याप्ति-सम्बन्ध से संज्ञासंज्ञि के वाच्यवाचक-सम्बन्ध-ज्ञान की उपपत्ति हो जाने से इसका अनुमान में अन्तर्भाव हो जाएगा अतः उपमान के पृथक् प्रामाण्य की उपपत्ति के लिए अनुभव के अनुरूप' गोनिष्ठ गवय-सादृश्यज्ञान को ही उपमान का फल मानना युक्तिसङ्गत है।

उपमान के पृथक् प्रमाणत्व की कल्पना में युक्ति

सांख्य-दार्शनिकों का कहना है कि गवय का चाक्षुष-प्रत्यक्ष होने पर उसमें विद्यमान गोसादृश्य का ज्ञान प्रत्यक्ष-ज्ञान ही है और इस प्रकार इस प्रत्यक्ष-ज्ञान के अनन्तर स्वगृह-स्थित गो का स्मरण होने पर गो में गवय-सादृश्य का होने वाला ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही है, उपमिति रूप नहीं अतः इसके कारण के रूप में उपमान को पृथक् प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है।[१]

सांख्य दार्शनिकों के इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए मीमांसकों का कहना है कि सादृश्याान प्रत्यक्षज्ञान नहीं है। सादृष्य यह व्यासज्यवृत्ति धर्म है। यह परस्पर भिन्न जाति के दोनों धर्मों में रहता है। चूँकि 'गवय' में विद्यमान सादृश्य धर्म गो में भी विद्यमान रहता है अतः मात्र गवय का प्रत्यक्ष होने पर सादृश्य के यावदाश्रय का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। प्रकृत स्थल में मात्र गवय का प्रत्यक्ष हो रहा है। गौ का नहीं। चूँकि गोनिष्ठ गवयनिरूपति 'सादृश्य-ज्ञान' का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है अतः इसके ज्ञान के लिए उपमान को पृथक् प्रमाण मानना आवश्यक है।[२]

इसी प्रकार गोनिष्ठ-गवय-सादृश्य-ज्ञान को शब्दजन्य प्रमा मानकर उपमान-प्रमाण का शब्द-प्रमाण में भी अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि शब्दज्ञान में पदज्ञान करण होता है लेकिन गोनिष्ठ-गवय-निरूपित-सादृश्य-ज्ञान, गवय तथा गवयनिष्ठ गोनिरूपत सादृश्य के प्रत्यक्ष ज्ञान से ही उत्पन्न होता है। **'गोसदृशो गवयः'** (गवय गाय के समान है।) यह

१. न चेदं सादृश्यं प्रत्यक्षम्। अर्थान्तरयोगिभिर्धर्मैरर्थान्तरस्य तादृशयोगरूपसादृश्यस्य व्यासज्य-वृत्तितया यावदाश्रयप्रत्यक्षा-भावेन तदयोगात्।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४५, पङ्क्ति २३ से २५

२. नेदमुपमानं प्रत्यक्षान्तर्गतम्, अनिन्द्रियसन्निकृष्टत्वान्नगरस्थस्य गौः।

—शास्त्रदीपिका, पृ० २८७ पङ्क्ति २ से ३

आरण्यक के शब्दों का स्मरण-रूप-ज्ञान, इस उपमिति में अवान्तर-व्यापार-मात्र है। उसकी इस गोनिष्ठ-गवयनिरूपित सादृश्य-ज्ञान में करणता नहीं है अतः इस सादृश्य-ज्ञान में पदज्ञान का अभाव होने से इसे पदज्ञान-जन्य शब्दप्रमा मानना भी सम्भव नहीं है अतः इसका शब्दप्रमा में अन्तर्भाव न होने से इस सादृश्य-ज्ञान के करण उपमान को शब्द-प्रमाण से पृथक् मानना आवश्यक है।[१]

४. अर्थापत्ति-प्रमा एवं अर्थापत्ति-प्रमाण

प्रत्यक्ष या शब्द से ज्ञात अर्थ की अनुपपत्ति होने पर उसकी उपपत्ति के लिए उपपादक रूप में जिस अर्थान्तर की कल्पना की जाती है उसे 'अर्थापत्ति-प्रमा' कहते हैं।[२]

अर्थापत्ति-शब्द से अर्थापत्ति-प्रमाण तथा प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमानादि से विजातीय प्रमा, इन दोनों अर्थों का बोध होता है।

'**अर्थस्य आपत्तिः यस्मात्**' जिससे अर्थ की आपत्ति (यथार्थ प्रतीति) हो, इस व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थापत्ति-शब्द से अर्थापत्ति प्रमाण का ज्ञान होता है एवं **अर्थस्य आपत्तिः** अर्थ-उपपादक ज्ञान की आपत्ति-प्रमा, इस व्युत्पति के अनुसार अर्थापत्ति-शब्द अर्थापत्ति-प्रमा का भी बोधक है।

'देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता लेकिन फिर भी वह पीन (मोटा) है,'[२] ऐसा प्रत्यक्ष से या शब्द से ज्ञान हो जाने पर दिन में भोजन न करने वाले का पीनत्व (मोटापा) रात्रि-भोजन के बिना अनुपपन्न होने से प्रत्यक्ष या शब्द से उत्पन्न देवदत्त के पीनत्व-ज्ञान की उपपत्ति के लिए देवदत्त के रात्रि-भोजन रूप अर्थान्तर की जो कल्पना की जाती है, वही अर्थापत्ति प्रमा है।[३]

इस लौकिक उदाहरण के ही समान विश्वजित् याग जिसमें करण है

---

१. नानुमानम्-उपमानमीत्यनुव्यवसायेनानुमितिवैलक्षण्य-प्रतीतेः।
नापि शब्दम्-पदज्ञानाद्यमावादिति अत इदं मानान्तरम्।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ४५, पङ्क्ति २५ से २६

२. अर्थापत्तिः प्रत्यक्षेण शब्देन वा प्रमितस्यार्थस्योपपादकार्थान्तरकल्पनम्।
- भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ४६, पङ्क्ति ६ से ७
दृष्टेनार्थेनाऽदृष्टस्यार्थस्याऽर्थान्तरकल्पनायामसत्यामनुपपत्तिमापादयता याऽर्थान्तर-कल्पना, साऽऽर्थापत्तिः। - प्रकरण-पञ्चिका, पृ॰ २७३, पङ्क्ति १ से ३

३. यथा देवदत्तनिष्ठं दिने भोजनाभावः पीनत्वं च प्रत्यक्षदृष्टं स्वोपपादकं रात्रि-भोजनं कल्पयति। -भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ४६, पङ्क्ति ७ से ८

ऐसी '**विश्वजिता यजेत**'[१] इस विधि से बोधित भावना (प्रवर्त्तना) से ज्ञात श्रुत्यर्थ तथा विश्वजित् याग में होने वाली पुरुष-प्रवृत्ति बिना किसी फल के अनुपद्यमान होने के कारण इस अनुपपत्ति के निवारणार्थ अर्थापत्ति-प्रमाण से ही इस विधि-बोधित भावना के साध्य रूप में सर्वाभिलषित स्वर्ग-सुख की फलरूप में कल्पना होती है।

भावना में साध्य, साधन तथा इतिकर्त्तव्यता इन तीनों की अपेक्षा होती है। प्रकृत-स्थल में साधन रूप में विश्वजित् याग तथा इतिकर्त्तव्यता के रूप में विधि-श्रवण से पुरुष में उत्पन्न प्रवृत्ति, बिना साध्य के अनुपपन्न होने के कारण इस विधि-बोधित भावना का भी कोई न कोई फल अवश्य होना चाहिए इस उपपादक ज्ञानरूप अवान्तर-व्यापार से इस विधि के फल के रूप में जो स्वर्ग की कल्पना होती है, वही अर्थापत्ति-प्रमा है।[२]

इसी प्रकार कारणों में कर्योत्पादन की जनक सहज-शक्ति के अस्तित्व में भी यह अर्थापत्ति ही प्रमाण है। इस अर्थापत्ति-प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि कारणों में कार्योत्पादन की एक शक्ति है जो उन कारणों से भिन्न होती है जैसे बीज यह अङ्कुर रूप कार्य की उत्पति में कारण होता है, लेकिन बीज में अङ्कुर की उत्पत्ति की जनक सहज-शक्ति होने पर ही उससे अङ्कुरोत्पत्ति होती है।

बीज में बीजत्व रूप में अङ्कुर रूप कार्य की कारणता का ज्ञान हो जाने पर मूषिका-द्वारा सूँघ लिए जाने से वह बीजनिष्ठ कारणता नष्ट हो जाने से बीज में अङ्कुररूप कार्य की कारणता उसमें मूषिका द्वारा सूँघने पर नष्ट होने वाली सहज-शक्ति माने बिना अनुपपन्न होने से इस अनुपपत्ति के निवारणार्थ उपपादक रूप में अङ्कुरोत्पत्ति की जनक, मूषिका द्वारा सूंघने पर नष्ट होने वाली एक सहज-शक्ति है, यह कल्पना हो जाती है, अतः सहज-शक्ति की सिद्धि में भी अर्थापत्ति-प्रमाण की आवश्यकता है।[३] इसी तरह अपूर्व की सिद्धि में भी अर्थापत्ति-प्रमाण आवश्यक है।

---

१. अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यर्थकल्पना यथा जीवितो देवदत्तस्य गृहाभावदर्शनेन बहिर्भावस्यादृष्टस्य परिकल्पना। प्रमितस्यार्थस्यार्थान्तिरेण विनाऽनुपपत्तिमालोच्य तदुपपत्तये याऽर्थान्तरकल्पना साऽर्थापत्तिः।
-शास्त्रदीपिका, पृ० २८९, पङ्क्ति ३ से पृ० २९०, पङ्क्ति ४

२. तथा विश्वजिद्यागकरणकभावनाविषयकप्रवर्त्तना विधिप्रमितेष्टोद्देश्यकत्वं बिनाऽनुपपद्यमाना स्वर्गाद्युद्देश्यकत्वं कल्पयति। -भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४६, पङ्क्ति ८ से १०

३. इदमेव सहजशक्तावाधेयशक्तौ च मानम्। तथाहि-बीजत्वावच्छेदनाङ्कुरजनकत्वे गृहीते मूषिका-घ्रातेषु तददर्शनेन कारणत्वसन्देहे मूषिकाघ्राणनाश्या व्रीहिनिष्ठा कारण-शक्तिः कल्प्यते। -भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४६, पङ्क्ति १६ से १९
एतेन बीजादष्विङ्कुरजननन-शक्तिकल्पना व्याख्याता।
-शास्त्रदीपिका, पृ० ३०६, पङ्क्ति ४

'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः'[१] इस विधि वाक्य से याग स्वर्ग का साधन है ऐसा ज्ञान होता है यदि अर्थापत्ति प्रमाण न माना जाए तो इस श्रुत्यर्थ की अनुपपत्ति हो जाती है। कारण यह है कि क्रिया क्षणिक होती है तथा देवता को उद्देश्य करके हवि-प्रदान-क्रिया ही याग है अतः दर्शपूर्णमासादि याग क्षणिक होने से इनका अनुष्ठान होते ही ये नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार इनका अनुष्ठाता भी अनुष्ठान करते ही स्वर्ग को प्राप्त करता हुआ नहीं दीखता, अपितु मरने पर ही वह यागजन्य फल स्वर्ग को प्राप्त करता है, लेकिन उस समय स्वर्ग का साधन याग उसके अनुष्ठान के अनन्तर नष्ट हो जाने से विद्यमान नहीं रहता। कारण याग ही जब नहीं है तब स्वर्ग-प्राप्ति रूप कार्य भी कैसे उत्पन्न होगा? इस प्रकार श्रुतिप्रतिपादित यागनिष्ठ स्वर्ग-साधनता अनुपपन्न हो जाती है जिसकी उपपत्ति के लिए अपूर्व नामक पदार्थान्तर की कल्पना करनी पड़ती है। अर्थापत्ति-प्रमाण द्वारा इस अपूर्व की कल्पना कर लेने पर श्रुत्यर्थ की अब उपपत्ति हो जाती है। अपूर्व मान लेने पर याग के विनाश-शाली होने पर भी उसके द्वारा उसके स्थिति क्षण में ही एक अपूर्व की उत्पत्ति मान ली जाती है जो याग रूप साधन तथा स्वर्ग रूप फल के बीच एक मध्यवर्ती-व्यापार है अतः इस अपूर्व से याग के नष्ट हो जाने पर भी मृत्यूपरान्त यागकर्त्ता को स्वर्ग-प्राप्ति के बोधक श्रुत्यर्थ की उपपत्ति हो जाती है।[२]

अर्थापत्ति के पृथक् प्रमाणत्व की कल्पना में युक्ति

अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण मानने के सिद्धान्त के विरुद्ध नैयायिकों का कहना है कि दिन में भोजन न करने पर भी पीन देवदत्त में रात्रि-भोजनात्मिका जो प्रमा है, उसका अनुमिति में ही अन्तर्भाव हो जाता है। इस अनुमिति में देवदत्त यह पक्ष, रात्रिभोजन साध्य तथा दिनभोजनाभावविशिष्ट पीनत्व यह हेतु है। यहाँ पर रात्रि-भोजन रूप साध्य के अभाव में दिन-भोजनाभाव-विशिष्ट-पीनत्व रूप हेतु के अभाव की व्यतिरेक-व्याप्ति से देवदत्त में दिन-भोजनाभाव-विशिष्ट-पीनत्व-हेतु से रात्रि-भोजनरूप साध्य की अनुमिति हो जाती है। पञ्चावयव-वाक्यों में अनुमिति का स्वरूप इस प्रकार बनेगा—

१. शतपथ-ब्राह्मण २/६/४/१७

२. एवं यागजन्यं स्वर्गजनकमपूर्वं कल्प्यत इति। -भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४६, पङ्क्ति १९
एवं यागादेरपूर्वस्वर्गादिसाधनशक्तिकल्पनमूहनीयम्।
— शास्त्रदीपिका, पृ० ३०८, पक्ति ६ से ७

(१) यह देवदत्त रात्रि-भोजी है (प्रतिज्ञा)
(रात में भोजन करता है।)

(२) क्योंकि इसमें दिनभोजनाभावविशिष्ट
पीनत्व है – (हेतु)

(३) जो रात में नहीं खाता वह दिन में न
खाते हुए पीन (मोटा) भी नहीं होता।
जैसे कि दिन तथा रात में न खानेवाला व्रतादि
का आचरण करने वाला व्यक्ति पीन नहीं होता
है। (व्याप्ति सहित उदाहरण) (उपनय)

(४) यह देवदत्त दिन तथा रात में न खाने वाले व्यक्ति
के समान अपीन नहीं है अपितु अच्छा खासा
मोटा है–

(५) अतः यह दिन तथा रात में न खाने वाले
व्यक्ति के समान नहीं है (रात में खाने-वाला
है।)[१] (निगमन)

अर्थापत्ति-प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव मानने के नैयायिकों के इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती मीमांसक कहते हैं कि यदि अर्थापत्ति में दिन के भोजन से विशिष्ट पीनत्व का ज्ञान करण होता तब तो अर्थापत्ति-प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव सम्भव था किन्तु यहाँ अर्थापत्ति रूप जो प्रमिति उत्पन्न हो रही है उसमें दिन के भोजनाभाव से विशिष्ट पीनत्व-ज्ञान की करणता ही नहीं है अपितु भोजनाभाव तथा पीनत्व ये दोनों एक ही देवदत्त में विद्यमान होने से इनके सामानाधिकरण्यरूप-सम्बन्ध की अनुपपत्ति का ज्ञान ही करण है, इस भोजनाभाव तथा पीनत्व के सामानाधिकरण्यरूप-सम्बन्ध की अनुपपत्ति का ज्ञान ही देवदत्त के रात्रि-भोजनरूप अर्थापत्ति-प्रमा को उत्पन्न करता है।

---

१. अयं देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते। दिवाभुञ्जानत्वे पीनत्वात्, यस्तु नरात्रौभुङ्क्ते नासौ दिवाभुञ्जानत्वे सति पीनो यथा दिवा रात्रावभुञ्जानोऽपीनो, न चायं तथा, तस्मान्न तथेति।
-तर्कभाषा, पृ० १७२, पङ्क्ति १ से ४

इसी प्रकार जीवित देवदत्त का घर में प्रत्यक्ष न होने पर जो घर में तथा बाहर भी नहीं है उसका जीवित होना अनुपपन्न होने के कारण जीवित देवदत्त का घर में प्रत्यक्ष न होने से वह अवश्य ही बाहर कहीं होगा। इस प्रकार जीवित देवदत्त के घर में दृष्ट न होने पर उसके अप्रत्यक्ष बहिर्भाव की जो कल्पना है वह अर्थापत्ति-प्रमा तथा उसके जीवन की अनुपपत्ति का ज्ञान अर्थापत्ति-प्रमाण है।

देवदत्त में जीवन तथा गृहाभाव, इन दोनों का सामानाधिकरण्य-सम्बन्ध बिना उसके बहिर्भाव के अनुपपन्न हो जाता है। यहाँ पर देवदत्त के बहिर्भावरूप प्रमिति में देवदत्त के गृहाभाव की करणता न होकर उसमें विद्यमान गृहाभाव तथा जीवित्व के सामानाधिकरण्य रूप सम्बन्ध के अनुपपत्तिज्ञान की ही करणता है। अतः अर्थापत्ति-प्रमाण का अनुमान-प्रमाण में अन्तर्भाव सम्भव नहीं है।[१] इसके अतिरिक्त अनुमान में उपपादक 'गम्य' तथा उपपादक के बिना जिसकी उपपत्ति नहीं होती वह अनुपपन्न, उपपादक का 'गमक' (बोधक) होता है। जैसे **'पर्वतो वह्निमान् धूमात्'** इस अनुमिति में वह्नि के अभाव में अनुपपन्न हो जाने वाले धूम से उसके उपपादक वह्नि की अनुमिति होने के कारण अनुपपन्न धूम, गमक (बोधक) तथा उपपादक वह्नि, गम्य (बोध्य) है।

इसके विपरीत **'पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते'** (देवदत्त दिन में न खाने पर भी मोटा है।) इस अर्थापत्ति में रात्रि-भोजन रूप अर्थ की कल्पना के बिन देवदत्त में विद्यमान दिवाभोजनत्वाभाव तथा पीनत्व, इन दोनों के सामानाधिक की अनुपपत्ति हो जाने से इन दोनों का सामानाधिकरण्य अनुपपन्न रात्रि-भोजन इस अनुपपत्ति का उपपादक है। अनुमिति के समान यहाँ अनु दिवाभोजनत्वाभाव तथा पीनत्व के सामानाधिकरण्य से रात्रिभोजनरूप उपपाद का बोध नहीं होता, अपितु उपपादक रात्रिभोजन के द्वारा ही दिवाभोजनत्वाभा तथा पीनत्व के सामानाधिकरण्य रूप अनुपपन्न का बोध होता है। अर्थापत्ति अनुमिति के विपरीत उपपादक ही अनुपपन्न का गमक होने के कारण अर्थाप

---

१. अत्र दिनभोजना-भावविशिष्ट-पीनत्वज्ञानं न करणं, येनानुमानान्तर्भावः शङ्क्येत, किन्तु भोजनाभावपीनत्वयोः समानाधिकरण्यरूपसम्बन्धानुपपत्तिज्ञानम्। रात्रि-भोजन-ज्ञानं प्रमा। उपपादकत्वज्ञानमवान्तर-व्यापारः। एवं जीवतो देवदत्तस्य गृहेऽदर्शनेनादृष्टबहिर्भाकल्पना। तेन नानुमानान्तर्गतिरिति।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४६, पङ्क्ति १० से १४

तथा अनुमिति में परस्पर भेद सिद्ध हो जाता है फलतः अर्थापत्ति का अनुमान-प्रमाण में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता।[१]

इस विषय में भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि 'न अनुमान करता हुँ, न उपमान करता हूँ अपितु अर्थापन करता हूँ अर्थात् अर्थापत्ति-प्रमाण से जन्य अनुमानादि से विलक्षण अर्थापत्ति रूप प्रमा मुझे हो रही है। इस लोकसिद्ध अनुव्यवसायात्मक अनुभव से ही अर्थापत्ति-प्रमा के करण रूप में एक पृथक् प्रमाण के रूप में अर्थापत्ति-प्रमाण की सिद्धि हो जाती है।[२]

५. अनुपलब्धि-प्रमाण-निरूपण

घटपटादि पदार्थों का अभाव जिसके द्वारा ज्ञात होता है, उसे 'अनुपलब्धि-प्रमाण' कहते हैं।[३] 'अभाव' का ज्ञान पूर्व-विवेचित प्रत्यक्षादि पाँचों प्रमाणों में से किसी के भी द्वारा नहीं हो पाता इसलिए इस अभाव-पदार्थ के ज्ञान के लिए अनुपलब्धि (अभाव) नामक छठा प्रमाण मानना भी आवश्यक हो जाता है।[४]

---

१. यद्यनुपपन्नादुपपादककल्पनाऽर्थापत्तिः? अनुमानमेव तर्हि, तत्रापि वह्निमन्तरेणानुपपन्नाद्धूमाद्वह्निः कल्प्यते। स्यादेवम्-यद्यनुपपन्नं गमकं स्यात्? इह तु यन्नोपपद्यते तदेव गम्यम्। -शास्त्र-दीपिका, पृ० २९०, पङ्क्ति ५ से ८

किञ्चानुमाने उपपादकस्य गम्यत्वम्, अनुपपन्नस्य धूमादेर्गमकत्वम्। अर्थापत्तावनुपपन्नस्य गम्यत्वम्। उपपादकस्य गमकत्वमित्येतयोर्वैलक्षण्यम्।

-प्रकरण-पञ्चिका-टिप्पणी, पृ० २७६, पङ्क्ति १९ से २०

अस्या अर्थापतेरनुमान एवान्तर्भावमिच्छन्ति नैयायिकाः। तदनुपपन्नम्, अर्थापत्तावनुपद्यमानस्य गम्यत्वमुपपादकस्य गमकत्वम्। अनुमितावुपपादकस्यैव गम्यत्वमनुपपन्नस्य च गमकत्वमिति तयोरत्यन्तभेदात्।

—तन्त्रसिद्धान्तरत्नावलि, पृ० ७०, पङ्क्ति ४ से ७

२. वस्तुतस्तु नानुमिनोमि नोपमिनोमि न शाब्दयामि किन्त्वार्थापयामीत्यनुभवादेव मानान्तरत्वं युक्तम्। -भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४६, पङ्क्ति १५ से १६

३. एवमनुपलब्धिरभावग्राहकं मानान्तरम्। -भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४६, पङ्क्ति २०

४. एवञ्च प्रवृत्तियोग्यानां पञ्चानामपि प्रत्यक्षादीनां प्रमाणानां यत्राप्रवृत्तिः, सा योग्यानुपलब्धिर्नामाभावरूपं षष्ठं प्रमाणं घटाद्यभावविषयकमिति सिध्यति।

- तन्त्र सिद्धान्त-रत्नावलि, पृ० ७०, पङ्क्ति १५ से १७

गुरुमत-निरूपण

गुरु प्रभाकर अभाव को अधिकरण से पृथक् न मानकर अधिकरण-स्वरूप ही मानते हैं अतः अधिकरण भूतलादि का प्रत्यक्ष द्वारा ही ज्ञान हो जाने के कारण इनके मत में अभाव के ग्रहणार्थ अनुलब्धि नामक अन्य प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।[१]

गुरुमत-निराकरण

अभाव को अधिकरण स्वरूप मानने के गुरु प्रभाकर के मत का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि अभाव को अधिकरण-स्वरूप मानने पर **'भूतले घटाभावः'** (भूतल में घटाभाव है) इस स्थल में भूतल में घटाभाव होने से भूतल तथा घट के जिस आधाराधेय-भाव की प्रतीति होती है, उसकी अनुपपत्ति हो जाती है।

इसी प्रकार भूतल में घट नहीं है, यह पट नहीं है इत्यादि व्यवहारों का घटयुक्त भूतल में भी प्रसङ्ग उपस्थित हो जाएगा। कारण यह है कि अभाव को अधिकरणस्वरूप मान लेने पर घट से युक्त भूतल भी घटाभाव रूप अधिकरण रूप में उपलब्ध हो जाएगा। फलतः भूतल में घट विद्यमान रहने पर भी भूतल में घट नहीं है, ऐसा व्यवहार होने लगेगा अतः घट-रहित भूतल को घटाभावज्ञान का विषय मानने पर अभाव से अतिरिक्त घटादि का विवेक (भेद) असम्भव होने के कारण अभाव की अधिकरण से पृथक्ता तथा उसके ग्राहक रूप में अनुपलब्धि-प्रमाण का अस्तित्व सुतरां सिद्ध हो जाता है।[२]

पृथक् प्रमाणत्व की कल्पना में युक्ति

नैयायिकों का कहना है कि अनुपलब्धि-सहकृत इन्द्रिय से ही

---

१. नन्वस्तु अभावानामधिकरणात्मकत्वं लाघवादिति चेत्।

–न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली, पृ० ६६, पङ्क्ति १

२. न चाभावस्य केवलाधिकरणात्मतया प्रत्यक्षेण ग्रह इति वाच्यम्। तस्याधिकरणात्मकत्वे भूतले घटाभाव इत्याधाराधेयभावप्रतीत्यनुपपत्तेः। किञ्च 'घटो नास्ति नायं पट' इत्यादि व्यवहारस्य सघटे प्रसङ्गान्न भूतलमात्रं विषयः, घटविविक्तस्य विषयत्वे अभावातिरिक्तस्य विवेकस्यासम्भवात्सिद्धमभावेन। तद्ग्रहाकञ्च योग्यानुपलब्धिर्मानान्तरम्।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४६, पङ्क्ति २० से २५

विशेषण-विशेष्यभाव-सन्निकर्ष से अभाव का प्रत्यक्ष-ज्ञान सम्भव होने से उस अभाव (अनुपलम्भात्मक) प्रमिति के करण रूप में अनुपलब्धि नामक पृथक् प्रमाण की कल्पना सर्वथा असङ्गत है।[१]

नैयायिक-मत-निराकरण

नैयायिकों के इस सिद्धान्त के निराकरणार्थ सिद्धान्ती मीमांसकों का कहना है कि विशेषण-विशेष्य-भाव-सन्निकर्ष के आधार पर अभाव का प्रत्यक्ष-प्रमाण से ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि विशेषण तथा विशेष्य-भाव, सन्निकर्ष (सम्बन्ध) ही नहीं हैं। इसका कारण यह है कि विशेषणता के मात्र विशेषण तथा विशेष्यता के मात्र विशेष्य में रहने से विशेषण-विशेष्य-भाव उभयनिष्ठ नहीं हैं, जब कि सन्निकर्ष (सम्बन्ध) के लिए यह आवश्यक है कि वह सम्बन्धियों से भिन्न हो, उभयाश्रित हो तथा एक हो, लेकिन विशेषण-विशेष्य-भाव में न तो सम्बन्धियों से भिन्नता है, न उभय-निष्ठता है एवं न ही एकता है। इसलिए अभाव का ग्राहक योग्यानुपलब्धि-नामक पृथक् प्रमाण मानना आवश्यक है।

यदि यहाँ पर घटादि के अभाव का स्मरण हो जाएगा, नैयायिक ऐसा कहें तो यह भी सम्भव नहीं है क्योंकि स्मरण उसी पदार्थ का होता है जिसका पहले अनुभव हो चुका हो अतः अभाव का प्रथम ग्रहण होने के लिए अनुपलब्धि नामक एक पृथक् प्रमाण मानना नितान्त आवश्यक है।[२] इस अभाव-ग्राहक योग्यानुपलब्धि-प्रमाण में जो योग्यता है उसे संसर्गाभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोगी की प्रत्यक्षयोग्यता के रूप में तथा अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष में, अधिकरण की योग्यता के रूप में स्वीकार करता पड़ेगा। प्रतियोगी तथा अधिकरण अनेक होने से अभाव के ग्रहण में योग्यता भी अनेक रूप माननी अपेक्षित है।

---

१. अनुपलब्धिसहकृतेनेन्द्रियेनैवाऽभावप्रत्यक्षसम्भवे अनुपलम्भात्मक-प्रमित्यन्तरं तत्करणत्वेन अनुपलब्ध्यात्मकं प्रमाणं च न स्वीकार्यं गौरवादिति भावः।

–न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली की किरणावली व्याख्या, पृ० २०५, पङ्क्ति ३६

२. अभावो नेन्द्रियग्राह्यः। सन्निकर्षाभावात्। न च विशेषणत्वादिसन्निकर्षः। तस्य प्रत्येकवृत्तितयोभयनिष्ठत्वाभावेन सन्निकर्षत्वायोगात्।

–भाट्ट चिन्तामणि, पृ० ४६, पङ्क्ति २५ से २७

सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नोभवत्युभयसम्बन्ध्याश्रितश्चैकश्च। यथा भेरीदण्डयोः संयोगः।

– तर्कभाषा, पृ० १७५

'वायौ यदि रूपं स्यात् तर्हि चक्षुषा उपलभ्येत' (यदि वायु में रूप होता तो आँख से उपलब्ध होता।) इस संसर्गाभाव की ग्राह्यता में जैसे प्रतियोगी रूप की प्रत्यक्ष-योग्यता अपेक्षित है, वैसे ही अन्योन्याभाव के ग्रहण में अधिकरण की योग्यता भी अपेक्षित है अतः 'यह स्तम्भ हैं, पिशाच नहीं,' इस प्रकार स्तम्भ में पिशाच आदि के भेद के ग्रहण में प्रतियोगी 'पिशाच' में प्रत्यक्ष-योग्यता न होने पर भी अधिकरण 'स्तम्भ' में प्रत्यक्ष-योग्यता होने से उस अधिकरण में पिशाच के भेद रूप अभाव का अनुलब्धि-प्रमाण से ग्रहण हो जाता है।

इस अभाव के ग्रहण में प्रतियोगी के प्रत्यक्ष का अभाव करण है तथा 'प्रत्यक्ष-योग्य घट यदि होता तो अवश्य दीखता, घट नहीं है, इसलिए उसका प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है' यह अनुमान अवान्तर-व्यापार है एवं घट के अभाव का जो ज्ञान उत्पन्न होता है वही इस योग्यानुपलब्धि-प्रमाण का फल है।[१]

अन्य प्रमाणों का निराकरण

भाट्टचिन्तामणिकार ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि तथा शब्द, इन छह प्रमाणों का अस्तित्व स्वीकार किया है। इनके अतिरिक्त पौराणिकों को अभिमत सम्भव, ऐतिहाह्य, प्रातिभ तथा लोकप्रसिद्धि रूप प्रमाणों का इनमें ही अन्तर्भाव मानकर उन्हें पृथक् प्रमाणों के रूप में स्वीकार नहीं किया है। इन्हें न मानने के पक्ष में इनके तर्क इस प्रकार हैं।

(१) पृथक् प्रमाण के रूप में 'सम्भव' का निराकरण

'सम्भव' को प्रमाण मानने वालों का यह तर्क है कि किसी अधिक संख्या में उसकी घटक कम संख्या के अवबोध का साधक 'सम्भव' प्रमाण है। यह पूर्वोक्त प्रमाणों से एक भिन्न प्रमाण है। इस पक्ष के खण्डन में 'गागा भट्ट' का कहना है कि-

सहस्र संख्या के अन्तर्गत शतसंख्या की प्रमा के करण सम्भव-प्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव होता है। जिस प्रकार वह्नि के बिना न होने वाला वह्नि-व्याप्य-धूम वह्नि की सत्ता का अनुमापक होता है, उसी प्रकार दस-शत

---

१. योग्याता च योग्य-प्रतियोगिकत्वयोग्याधिकरणत्वादिरूपा तत्तदभावग्रहे नानैव। अतः सिद्धमभावग्राहकमनुपलब्धिरूपं मानान्तरम्। अत्र प्रतियोगिप्रत्यक्षाभावः करणम्। अनुमितिरवान्तरव्यापारः। अभावज्ञानं फलम्।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४७, पङ्क्ति ५ से ८

संख्या की अविनाभूत अर्थात् दस शतसंख्या के बिना न होने वाली सहस्त्र संख्या अपने में विद्यमान शतसंख्या रूप अल्पसंख्या की अनुमापक हो जाती है अतः सम्भव नामक पृथक् प्रमाण की कल्पना अनावश्यक है।[1]

(२) पृथक् प्रमाण के रूप में ऐतिह्य का निराकरण

'वट में यक्ष है,' ऐसा ऐतिह्य-प्रमाण परम्परागत प्रवाद-रूप होने से तथा इस कथन का कोई निश्चित वक्ता न होने के कारण ऐसे कथनों से कोई प्रमिति-यथार्थज्ञान उत्पन्न नहीं होता अतः ऐसे कथन रूप ऐतिह्य को प्रमाण ही नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत यदि कोई यथार्थ कथन है जिसका कोई निश्चित आप्त-वक्ता भी है तो ऐसे यथार्थ ज्ञानोत्पादक ऐतिह्य-प्रमाण का शब्द-प्रमाण में अन्तर्भाव सम्भव होने से इस स्थिति में भी ऐतिह्य को पृथक् प्रमाण मानने में गौरव दोष हो जाता है।[2]

३. प्रतिभा-प्रमाण-तथा लोक प्रसिद्धि प्रमाण का निराकरण

प्रतिभा-प्रमाण का निराकरण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि इस प्रतिभा-प्रमाण से किसी भी तथ्य का निश्चय पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता अतः यह प्रमाण ही नहीं है। इस प्रतिभा-प्रमाण के निरस्त हो जाने से ऋषियों द्वारा विरचित स्मृत्यादि ग्रन्थों में विद्यमान प्रमा प्रतिभा-प्रमाण से मानने का सिद्धान्त भी निरस्त हो जाता है। वस्तुतः इन ऋषियों द्वारा विरचित स्मृत्यादि में विद्यमान प्रामाण्य, स्मृत्यादि के श्रुतिमूलक होने के कारण ही है, प्रतिभाजन्य नहीं है।[3] लोक-प्रसिद्धि-प्रमाण का प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भाव हो जाता है अतः प्रमोत्पादक प्रमाण छह ही हैं, यह तथ्य सिद्ध हो जाता है। हे राम। लोक में छह युक्तियां (प्रमाण) हैं, जिनसे सभी (पदार्थों) का दर्शन (ज्ञान) हो जाता है।[4] इस

---

१. यतु सहस्त्र-संख्यान्तर्गतशतसंख्याप्रमाकरणं सम्भवाख्यम्प्रमाणं तदनुमानान्तर्गतम्।
– भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४७, पङ्क्ति १४ से १५

२. वटे वैश्रवणमिति चैतिह्यं न प्रमितिकरणं, तत्त्वेऽप्यागमान्तर्गतम्।
–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४७, पङ्क्ति १४ से १५

३. श्वो मे भ्राताऽऽगन्तेति प्रतिभाख्यमनिश्चायकत्वान्न मानम्। तेनर्षीणां प्रतिभया धर्माधर्मप्रमेति परास्तम्। लोक-प्रसिद्धिः प्रत्यक्षान्तर्गतैव। अतः षडैव प्रमाणानि।
–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४७, पङ्क्ति १४ से २०

४. राम षड् युक्तयो लोके याभिः सर्वोऽनुदृश्यते इति रामायणाच्चेति।
–वही, पृ० ४७, पङ्क्ति २१

राम षड् युक्तयो लोके याभिः सर्वं विमृश्यते।
–वाल्मिकी-रामायण, अरण्यकाण्ड, सर्ग ७७, श्लोक ८

वाल्मिकी रामायण वाक्य से भी उपर्युक्त विवेचित प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि तथा शब्द इन छह प्रमाणों का ही अस्तित्व सिद्ध होता है।

६. शब्द-प्रमाण-निरूपण

शब्द-लक्षण-निरूपण

इन्दियार्थ-सन्निकर्ष के बिना भी पदज्ञान मात्र से होने वाले अवबोध को शाब्दी प्रमा तथा इसके साधक प्रमाण को 'शब्द' कहते हैं।[१]

भाष्यकार के इस शाब्दी-प्रमा के लक्षण का अर्थ स्पष्ट करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि शब्दज्ञान से उत्पन्न तथा जिसके साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष सम्भव नहीं है ऐसे असन्निकृष्ट अर्थ को विषय करने वाला जो यथार्थ ज्ञान है, वही शब्द-प्रमाण से उत्पन्न होने वाला शाब्द-ज्ञान है। इस शाब्द-ज्ञान (शाब्दी-प्रमा) का कारणीभूत शब्द (ज्ञान) ही शब्द-प्रमाण है।[२]

शाब्दबोध-सामग्री-निरूपण

शब्द-प्रमाण से होने वाले वाक्यार्थ ज्ञानरूप शाब्दबोध के प्रति पदज्ञान को करण माना गया है पदज्ञान से जो पदार्थोंस्थिति होती है उसे अवान्तर-व्यापार तथा पदों की उनके अर्थों में विद्यमान शक्ति के ज्ञान को शाब्द-बोध रूप फल के प्रति सहकारी कारण माना गया है।[३]

पूर्वपक्ष-मत-निराकरण

घटादि अर्थों के शाब्द-बोध में घटादि पदज्ञानों में किस रूप से कारणता है? इस प्रश्न पर विचार आरम्भ करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि घटादि पदज्ञानों में घटादि के शाब्द-बोधों के प्रति जो कारणता है उसे यदि

---

१. शाब्दं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम् इति भाष्यं-शब्दज्ञानजन्य-मसन्निकृष्टार्थविषकं यथार्थज्ञानं शाब्दप्रमा, तत्करणीभूतशब्दः प्रमाणमित्यर्थः।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४७, पङ्क्ति २३ से २५

२. 'शास्त्रं (शाब्दं) शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्' इति विज्ञाताच्छब्दात् पदार्थाभिधानद्वारेण यद्वाक्यार्थविज्ञानं तच्छाब्दं नाम प्रमाणम्।
-शास्त्रदीपिका, पृ० २७६, पङ्क्ति ७ से ९ कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, १९८८

३. पदज्ञानं तु करणं, द्वारं तत्र पदार्थधीः।
शब्दाबोधः फलं, तत्र शक्तिधीः सहकारिणी।।
-न्यायसिद्धान्तमुक्तावली-कारिका ८१, पृ० २९१

पूर्वपक्षी पदज्ञानत्व रूप से मानें तो यह सम्भव नहीं होगा क्योंकि घटादि पदज्ञानों के समान पटादि से भी पदज्ञानत्व विद्यमान रहने से इस स्थिति में पटादि-पदों में भी घटादि का शाब्दबोध होने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाएगा अतः घटादि पदों में पदज्ञानत्व रूप में घटादि शाब्द-बोध के प्रति कारणता नहीं मानी जा सकती।[१]

शक्ति-निरूपण

मीमांसकों द्वारा शाब्द-बोध के प्रति पदज्ञान में शक्त-पदज्ञानत्वरूप से कारणता मानी है। इस पर पद में विद्यमान शक्ति क्या है? यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित हो जाता है। इस प्रश्न के समाधानार्थ भाट्टचिन्तामणिकार ने 'शक्ति' का निम्नलिखित लक्षण उपस्थापित किया है–

बिना व्यवधान के, शब्दजन्य प्रतीति की उत्पादिका वृत्ति को शक्ति कहते हैं।[२]

शक्ति के इस लक्षण में अव्यवधान पद का निवेश होने से इस 'अव्यवधान' पद में विद्यमान' 'अव्यवहितत्त्व' का स्पष्टीकरण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि–

किसी अन्य अर्थ की प्रतीति कराए बिना, पद से पदार्थ का बोध होना ही अव्यवहितत्व है।[३] 'अव्यवहितत्व' के इस लक्षण की सङ्गति शक्ति के लक्षण में पूर्णतया समन्वित हो जाती है क्योंकि घटादि शक्त पदों से उनके अर्थों के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ की प्रतीति हुए बिना ही उन अर्थों का बोध होता है।

'अव्यवधान' पद का, शक्ति-लक्षण में निवेश होने से शक्तिलक्षण की लक्षणा में अतिव्याप्ति नहीं होती। कारण यह है कि लाक्षणिक पद, अव्यवधान से अपने अर्थ की प्रतीति नहीं करा पाते अपितु शक्त-पद के व्यवधान से इनके द्वारा लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है अतः लाक्षणिक पदों में अर्थान्तर-प्रतीति का अद्वारकत्वरूप अव्यवहितत्व नहीं रहता जैसे–

---

१. इदं तु बोध्यम्। पदज्ञानस्य घटशाब्दे केन रूपेण हेतुत्वम् न तावत्पदज्ञानत्वेन, व्यभिचारात्। –भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५५, पङ्क्ति ३२ से ३३

२. ननु शक्तपदज्ञानत्वेन हेतुतेत्युक्तं, तत्र केयं शक्तिरिति चेत्। अव्यवधानेन शब्दजन्यप्रतीत्यनुकूला वृत्तिः शक्तिः। –भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५६, पङ्क्ति १० से ११

३. अव्यवहितत्वञ्चार्थान्तरप्रतीत्यद्वारकत्वम्। –वही, ५६, पङ्क्ति ११ से १२

'गङ्गायां घोषः' यहाँ पर लाक्षणिक गङ्गा पद से पहले गङ्गा पद के शक्यार्थ प्रवाह की उपस्थिति होती है, जिसके साथ घोष-पदार्थ के अधिकरणत्व रूप अन्वय की अनुपपत्ति होने के कारण फिर 'तीर' रूप लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है अतः लक्षणा में अव्यवधान से शब्दजन्य प्रतीति की अनुकूला (उत्पादिका) वृत्तिता न होने से अव्यवधान-पद-घटित शक्ति के लक्षण की इसमें अति-व्याप्ति नहीं होती। लक्षणा में शक्ति-लक्षण की अतिव्याप्ति न हो इसलिए लक्षण में अव्यवधानेन' इस पद का निवेश किया गया है। इसी प्रकार हस्त-चेष्टादि के द्वारा होने वाले बोध में लक्षण की अतिव्याप्ति न हो इसीलिए लक्षण में 'शब्दजन्य' पद का भी निवेश किया गया है।[१]

शक्तिस्वरूप-निरूपण

शक्ति के विषय में प्राचीन नैयायिकों का कहना है कि पद के साथ अर्थ का सम्बन्ध ही शक्ति है तथा यह शक्ति द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव, इन सप्त पदार्थों से पृथक् नहीं है, अपितु 'इस पद से यह अर्थ समझना चाहिए' इस प्रकार की जो ईश्वरेच्छा है वही शक्ति है। 'ईश्वरेच्छा, के इच्छा रूप आत्मा का गुण होने से गुणपदार्थ में 'शक्ति' का अन्तर्भाव हो जाता है फलतः इसे पृथक् पदार्थ नहीं माना जा सकता।[२]

नवीन नैयायिक शक्ति को ईश्वरेच्छा रूप गुण पदार्थ नहीं मानते, अपितु उसे केवल इच्छा रूप गुण मानकर ही गुण पदार्थ में इसका अन्तर्भाव मान लेते हैं अतः नवीन नैयायिकों के मत में भी शक्ति पृथक् पदार्थ नहीं है।[३]

मीमांसकों का कहना है कि पद के मुख्य अर्थ को बताने वाली अभिधा ही शक्ति है तथा वह सप्त-पदार्थों से एक पृथक् पदार्थ है।[४]

---

१. इदञ्च लक्षणावारणाय, तादृशचेष्टावारणाय चावशिष्टम्।
- भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५६, पङ्क्ति १२ से १३

२. सा चास्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इत्याकारिकेश्वरेच्छेति न्यायविदः।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५६, पङ्क्ति १४

सा चाऽस्मच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छारूपा।
-न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली, पृ० २९३, पङ्क्ति ३

३. नव्यास्तु ईश्वरेच्छा न शक्तिः किन्तु इच्छैव।
-न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली, पृ० २९५, पङ्क्ति २

४. पदार्थान्तरमिति मीमांसकाः।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५६, पङ्क्ति १५

शक्तिग्रहोपाय-निरूपण

पद में विद्यमान इस शक्ति का व्याकरणादि-साधनों द्वारा ग्रहण होता है। इन शक्तिग्रह के साधनों का समाकलन उपस्थित करते हुए उदयनाचार्य कहते हैं कि व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृत्ति (विवरण) तथा सिद्ध-पद (प्रसिद्ध पद) का सान्निध्य या सामानाधिकरण्य, इन आठ साधनों से आचार्य, शक्ति का निश्चय मानते हैं।[१] जिनका न्याय शास्त्र के ग्रन्थों में विस्तार प्रतिपादन किया गया है।

लक्षणा-निरूपण

शक्ति के अतिरिक्त शाब्द-बोध में कारणीभूत लक्षणा तथा गौणी ये दोनों भी पदवृत्तियां हैं। इनमें शक्यार्थ के साथ सादृश्य से अन्य सामीप्यादि-सम्बन्धों के द्वारा अशक्य अर्थ की उपस्थिति लक्षणा है जैसे **'गङ्गायां घोषः'** यहाँ पर गङ्गा पद के शक्यार्थ प्रवाह के साथ तीर-रूप लक्ष्यार्थ की सादृश्य से भिन्न सामीप्य सम्बन्ध से उपस्थिति होती है।[२]

गौणी-निरूपण

शक्य अर्थ के साथ सादृश्य रूप-सम्बन्ध से अशक्य अर्थ की जो उपस्थिति होती है, उसे गौणी वृत्ति कहते हैं जैसे **'आदित्यो यूपः'**-'यूप आदित्य (सूर्य) यूप तेजस्वी है।' यहाँ पर आदित्य-पद का शक्यार्थ आदित्य है जिसके साथ यूप का किसी भी प्रकार से सम्बन्ध नहीं बनता है। इस स्थल में जैसे आदित्य तेजस्वी है, वैसा ही यूप भी तेजस्वी है। दोनों में तेजस्विता की समानता (सादृश्य) है फलतः शक्यार्थ आदित्य के साथ यूप का सादृश्य होने से इस सादृश्य-सम्बन्ध से आदित्य-पद की 'तेजस्वी'- अर्थ में उपस्थिति गौणी वृत्ति हो जाती है।

इसी प्रकार **'सिंहो देवदत्तः'** यहाँ भी सिंह-पद के शक्यार्थ सिंह पशु के साथ देवदत्त नामक मनुष्य का तादात्म्य-सम्बन्ध असम्भव है। जैसे सिंह क्रूर शूर है वैसे ही देवदत्त भी क्रूर तथा शूर है इस तरह दोनों में सादृश्य होने से एक

१. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृत्तेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपस्य वृद्धाः।।
-न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली, पृ० २९६, पङ्क्ति १ से २

२. लक्षणा गौणी च अपरा पदवृत्तिः। तत्र सादृश्यान्यशक्यसम्बन्धेनाशक्योपस्थितिर्लक्षणा।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५७, पङ्क्ति ६

ही सिंह पद से क्रूर, शूर रूप से देवदत्त रूप अर्थ की उपस्थिति गौणी वृत्ति से होती है।[१]

मीमांसक-मत-निरूपण

शक्यार्थ के साथ सादृश्य से अन्य सम्बन्ध से अशक्यार्थ की उपस्थिति को लक्षणा तथा शक्यार्थ के साथ सादृश्य-सम्बन्ध से अशक्यार्थ की उपस्थिति को गौणी मानने के सिद्धान्त का भाट्टचिन्तामणिकार अपने मीमांसासम्प्रदाय-सम्मत सिद्धान्त के अनुसार खण्डन करते हुए कहते हैं कि लक्षणा तथा गौणी, ये अशक्य अर्थ की जो उपस्थिति होती है, उसमें कारण होती हैं, क्योंकि वृत्ति-द्वारा ही अशक्य अर्थ की उपस्थिति हुआ करती है। अतः इनमें अशक्य अर्थोपस्थिति की कारणता रहने से इन्हें स्वयं उपस्थिति रूप मानना सम्भव नहीं है अत: '**सादृश्यान्यशक्यसम्बन्धेनाशक्योपस्थितिर्लक्षणा**' तथा '**सादृश्यरूप-शक्य-सम्बन्धेनाशक्योपस्थितिर्गौणी**' ये दोनों लक्षण उपस्थिति रूप होने से अनुपयुक्त हैं। लक्षणा का 'स्व-शक्यसम्बन्धत्वं लक्षणा' ऐसा ही लक्षण मानना उपयुक्त है। इस लक्षण के अनुसार लक्षित पद अपने शक्य अर्थ के साथ सामीप्यादि सम्बन्ध से युक्त होने के कारण स्वशक्य-सम्बन्धवान् होते हैं अतः अपने शक्य अर्थ के साथ सम्बन्धित पदों में विद्यमान धर्म ही लक्षणा है।

लक्षणा किस रूप से पदनिष्ठ होगी? इस प्रश्न के समाधानार्थ मीमांसक-मत उपस्थित करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि यह लक्षणा स्वाश्रय-सम्बन्धिवाचकत्व रूप सम्बन्ध से लक्षित-पदनिष्ठ रहती है। स्व-शक्यार्थ के आश्रय शक्त पद क सम्बन्धि लक्षित-पद के अर्थ का वाचकत्व लक्ष्य-पद में विद्यमान रहता है। इसी स्वाश्रय-सम्बन्धि-वाचकत्व-सम्बन्ध से लक्षणा पदनिष्ठ रहती है। जैसे '**गङ्गायां घोषः**' इत्यादि स्थलों में गङ्गापद के शक्यार्थ प्रवाह के सम्बन्धी तीररूप अर्थ के वाचकत्व रूप सम्बन्ध से गङ्गापद की तीररूप अर्थ में होने वाली लक्षणा गङ्गापद में रहती है।[२]

लक्षणावृत्ति से होने वाले लक्ष्यार्थ ज्ञान रूप कार्य में विद्यमान कार्यतावच्छेदक धर्म गङ्गा सम्बन्धिवान् तीरत्व प्रकारक तीरविशेष्यक शाब्दत्व है। '**गङ्गायां**

१. सादृश्यरूपशक्यसम्बन्धेनाशक्योपस्थितिर्गौणी।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५७, पङ्क्ति ६ से ८

२. तत्र-वृत्तेरुपस्थितिहेतुत्वेनोपस्थितिरूपहेतुत्वानुपपत्तेः। अतः स्वशक्यसम्बन्धवत्त्वं लक्षणा। तस्याश्च पदनिष्ठत्वं स्वाश्रयसम्बन्धिवाचकत्वसम्बन्धेन। यथा गङ्गायां घोष इत्यादौ गङ्गापदशक्यप्रवाहसम्बन्धो लक्षणा।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५७, पङ्क्ति १२

घोषः' यहाँ पर लक्ष्य गङ्गापदनिष्ठ लक्षणा से गङ्गा पद से जिस तीर रूप लक्ष्यार्थ का बोध होता है, वह बोध इस लक्षणा रूप वृत्ति से युक्त गङ्गा पद से होने वाला कार्य है तथा **'गङ्गातीरे घोषः'** (गङ्गा के तीर पर घोष है) इस ज्ञानरूप कार्य में तीररूप लक्ष्यार्थ गङ्गापद से सम्बन्धित है तथा तीरत्व इसमें प्रकार है। इस गङ्गा-सम्बन्धवत्तीरत्वप्रकारकतीरविशेष्यक-शाब्दज्ञान में विद्यमान गङ्गा-सम्बन्धवत्तीरत्वप्रकारक तीर विशेष्यक जो शाब्दत्व धर्म है वही लक्षणावृत्तिजन्य लक्ष्यार्थज्ञानरूप कार्य में विद्यमान कार्यतावच्छेदक है अतः 'गङ्गायां घोषः' इसका गङ्गा-सम्बन्धी तीर अर्थ निर्गलित होता है।

भाट्टचिन्तामणिकार-मत-निरूपण

इस विषय में भाट्टचिन्तामणिकार का कहना है कि **'गङ्गायां घोषः'** इस स्थल में गङ्गापद से तीरत्वमात्र प्रकारक तीरविशेष्यक 'तीर' अर्थ का ही बोध मानना चाहिए। इस प्रकार मात्र तीरत्व-प्रकारक तीरविशेष्यक 'तीर' अर्थ का बोध मानने पर गङ्गा के तीर पर घोष? या समुद्र के तीर पर? इस प्रकार की जो आशङ्का उपस्थित होती है, उसके निराकरणार्थ भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि चूँकि तीरत्वप्रकारक तीर-विशेष्य 'तीर' इस शाब्दबोध में 'तीरत्व' यह प्रकार-विशेषण है, अतः इसमें प्रकारता रहती है तथा तीरत्वनिष्ठ इस प्रकारता से निरूपित जो विशेष्यता है, वह 'तीर' में रहती है। इसलिए इस तीरत्वनिष्ठ-प्रकारता निरूपित-विशेष्यतारूप सम्बन्ध से लाक्षाणिक गङ्गापद से तीरत्व-प्रकारकतीरविशेष्यक 'तीर' रूप अर्थ के बोध होने में समवाय सम्बन्ध से संयोगवत्त्वज्ञान की कारणता मान लेने पर गङ्गापद से मात्र तीरत्वप्रकारक-तीरविशेष्यक-तीररूप अर्थोपस्थिति होने पर भी उसके साथ गङ्गा के संयोग का ज्ञान हो जाता है अतः 'गङ्गा से संयुक्त तीर' ऐसी अर्थोपस्थिति हो जाने से उपर्युक्त गङ्गा का तीर या समुद्र का तीर, ऐसी आशङ्का के लिए अवसर नहीं रहता। उपर्युक्त आशङ्का निरस्त हो जाने के कारण गङ्गा-सम्बन्धवत् तीरत्व प्रकारक-तीरविशेष्यक शाब्दबोध की अपेक्षा तीरत्वमात्र प्रकारक तीर, विशेष्यक शाब्दबोध मानने में वर्ण-प्रयुक्त लाघव भी है। अतः गङ्गापद से तीरत्व-प्रकारक तीरविशेष्यक 'तीर' अर्थ मानना ही समीचीन है।[१]

---

१. वस्तुतो गङ्गापदात्तीरत्वमात्रप्रकारको बोधः। तीरत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यता-सम्बन्धेन गङ्गापदजन्यशाब्दे समवायेन गङ्गासंयोगवत्त्वज्ञानस्य हेतुत्वकल्पनया न संशयाद्यापत्तिरिति युक्तम्।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५७, पङ्क्ति २४ से २६

लक्षणा-भेद-निरूपण

उपर्युक्त विवेचित लक्षणा के अजहत् स्वार्था तथा जहत्स्वार्था, ये दो भेद हैं।

१. अजहत्स्वार्था

अपना शक्य अर्थ जिसमें विशेष्य हो ऐसे अन्वय के बोध की प्रयोजिका लक्षणा अजहत् लक्षणा है। जैसे '**यष्टीः प्रवेशय**' यहाँ पर लाक्षणिक यष्टी-पद का शक्यार्थ जो यष्टी है, वह यष्टीत्व-प्रकारक यष्टी-विशेष्यक है। इस स्थल में अपना (लक्षित पद का) शक्य अर्थ यष्टी विशेष्य होने से तथा इस शक्य अर्थ 'यष्टी' का भी लक्षित यष्टीधारी के साथ प्रवेश-क्रिया के साथ अन्वय का बोध होने के कारण यहाँ पर अजहत् लक्षणा है। आलङ्कारिक या साहित्यिक इसे ही उपादान-लक्षणा भी कहते हैं।

२. जहत्-स्वार्था

अपना शक्य अर्थ जिसमें विशेष्य न हो, ऐसे अन्वयबोध की प्रयोजिका लक्षणा जहत्-लक्षणा है। जैसे '**गङ्गायां घोषः**' यहाँ पर गङ्गापद का शक्यार्थ प्रवाह, प्रवाहत्व-प्रकारक प्रवाहविशेष्यक है तथा लक्ष्यार्थ तीर, तीरत्व-प्रकारक तीरविशेष्यक है। यहाँ पर घोष पदार्थ के साथ गङ्गापद के प्रवाह-विशेष्यक प्रवाह रूप शक्य अर्थ के अधिकरणत्व रूप अन्वय का बोध नहीं होता, अपितु इस शक्यार्थ का पूर्णतः परित्याग होकर मात्र तीरत्व-प्रकारक तीर रूप अर्थ के ही घोष पदार्थ के साथ अधिकरणत्व-संसर्ग का बोध होने के कारण, इसमें शक्यार्थ विशेष्य न होकर लक्ष्यार्थ ही विशेष्य है अतः यहाँ अपने शक्यार्थ का पूर्णतः परित्याग करके मात्र लक्ष्यार्थ के अन्वय की बोधक जहत् लक्षणा है।[१]

लक्षित-लक्षणा

लक्षितलक्षणा का भी इसी में अन्तर्भाव होता है। 'परम्परा-सम्बन्ध से

---

१. सा च लक्षणा द्वेधाऽजहत्स्वार्था जहत्स्वार्था च। स्वशक्यार्थविशेष्यकान्वयबोधप्रयोजिका, अजहत्स्वार्था। यथा यष्टीः प्रवेशयेत्यादौ। अत्र शक्यार्थस्यापि क्रियान्वयात्। इयमेवोपादानलक्षणेत्यालङ्कारिकाः। स्वशक्यार्थाविशेष्यकान्वयबोधप्रयोजिका जहत्स्वार्था, गङ्गायां घोष इत्यादौ।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५७, पङ्क्ति २७ से ३१

लक्षितार्थ के अन्वय-बोध की प्रयोजिका लक्षणा लक्षितलक्षणा है। 'द्विरेफ' पद से 'भ्रमर' पदार्थ की परम्परा सम्बन्ध से इस लक्षित लक्षणा द्वारा ही उपस्थिति होती है। यहाँ पर स्ववाच्य भ्रमर पद के घटक रेफद्वय रूप वर्ण-द्वय से घटित भ्रमर-पद का भ्रमर वाच्य होने से इसमें स्ववाच्यपद-घटक वर्णद्वय-घटितपदवाच्यत्व रूप परम्परा सम्बन्ध से ही द्विरेफ पद में लक्षितलक्षणात्व धर्म रहने के कारण इस लक्षणात्व-धर्म से अवच्छिन्न 'द्विरेफ' यह लक्षित लाक्षणिक पद है फलतः द्विरेफ पद से प्रथम लक्षणा द्वारा भ्रमर पदार्थ की उपस्थिति होती है तथा फिर शक्ति द्वारा भ्रमररूप अर्थ का बोध होता है, इस सिद्धान्त का भी खण्डन हो जाता है, क्योंकि यदि द्विरेफ पद में भ्रमररूप अर्थ की शक्ति मानेंगे तो द्विरेफ पदार्थ के बाद **'द्विरेफाः उड्डयन्ति'** इत्यादि में विभक्त्यर्थ का इस द्विरेफ पदार्थ के साथ ही अन्वय होने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाएगा जबकि विभक्त्यर्थ का अन्वय द्विरेफ-पदार्थ के साथ होना अभीष्ट नहीं है। द्विरेफ पद का शक्यार्थ मात्र 'दो रेफ वाला' इतना ही होता है और ऐसा अर्थ शर्करा आदि भी हो सकता है जिसके साथ 'उड्डयन' क्रिया का अन्वय अनुपपन्न हो जाता है अतः द्विरेफ-पद को शक्ति द्वारा भ्रमर रूप अर्थ का उपस्थापक नहीं माना जा सकता, अपितु इसे परम्परा-सम्बन्ध रूप लक्षित-लक्षणा द्वारा भ्रमर रूप अर्थ का उपस्थापक मानना ही युक्ति-सङ्गत है। इस स्थल में द्विरेफ पद का दो रेफ रूप अर्थ में शक्ति रूप सम्बन्ध है, उन दो रेफों का लक्षणा के द्वारा भ्रमरपद से सम्बन्ध है तथा भ्रमर पद का भ्रमर पदार्थ (मधुकर, भौंरे रूप अर्थ) में शक्ति सम्बन्ध है। इस प्रकार परम्परा-सम्बन्ध से लक्षणा द्वारा ही द्विरेफ पद से भ्रमर (मधुकर) रूप अर्थ की उपस्थिति होती है।[१]

लक्षणा-बीज-निरूपण

वेदान्ती तथा नैयायिक लक्षणा में अन्वयानुपपत्ति को बीज न मानकर तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा में बीज (कारण) मानते हैं। उनका तर्क यह है कि यदि अन्वयानुपपत्ति को ही लक्षणा में बीज (कारण) मानें तो **'यष्टीः**

---

१. लक्षितलक्षणायाऽऽप्यत्रैवान्तर्भावः। स्ववाच्यपदघटकवर्णद्वयघटितपदावाच्यत्व-रूपसम्बन्धस्यैव द्विरेफादिपदलक्षितलक्षणात्वात्। एतेन द्विरेफपदेन भ्रमरपदं लक्ष्यते। तेन शक्त्या भ्रमरबोध इत्यपास्तम्। द्विरेफपदोत्तरविभक्त्यर्थस्यानन्वयापतेः।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५७, पङ्क्ति ३१ से ५८, पङ्क्ति १

प्रवेशय' यहाँ पर यष्टी पद की यष्टीधर रूप अर्थ में लक्षणा नहीं हो सकेगी, क्योंकि यष्टियों में प्रवेश-क्रिया का कर्मतया अन्वय उपपन्न रहने से अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज नहीं माना जा सकेगा, लेकिन कहने वाले ने भोजन के तात्पर्य से याष्टियों के प्रवेश की आज्ञा की है अतः यहाँ पर यष्टियों के प्रवेश में भोजन के तात्पर्य की अनुपपत्ति ही यष्टी पद से यष्टीधर रूप अर्थ में लक्षणा होने में कारण है। इसी तरह **'गङ्गायां घोषः'** इस वाक्य में जिस प्रकार अन्वयानुपपत्ति है, वैसे ही तात्पर्यानुपपत्ति भी है। गङ्गापद का प्रवाह रूप मुख्य अर्थ करने पर उससे तीर-प्रतीतिजननयोग्यत्व-तात्पर्य असम्भव हो जाता है अतः यहाँ भी तात्पर्यानुपपत्ति ही लक्षणा में बीज (कारण) है। इसलिए भिन्न-भिन्न उदाहरणों में लक्षणा के भिन्न-भिन्न प्रयोजक मानने की अपेक्षा सर्वत्र तात्पर्यानुपपत्ति रूप एक ही लक्षणा-बीज मानने में लाघव है।[१]

भाट्टचिन्तामणिकार-मत-निरूपण

उपर्युक्त सिद्धान्त का खण्डन करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि वेद अपोरुषेय हैं अर्थात् वेद किसी पुरुष की रचना नहीं है। इनमें किसी का तात्पर्य होना असम्भव होने के कारण तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा-बीज मानने पर वैदिक स्थलों में मुख्यार्थ की अनुपपत्ति होने पर लक्षणा नहीं हो पाएगी अतः अन्वयानुपपत्ति ही लक्षणा में बीज है।

इसके अतिरिक्त **'यष्टीः प्रवेशय'** इस स्थल में पूर्वपक्षियों का जो यह कहना है कि अन्वयानुपपत्ति यहाँ नहीं है, सो ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ पर प्रवेश पद का अर्थ मात्र प्रवेशन-क्रिया न मानकर भोजन जिसका प्रयोजन है, ऐसी भोजन प्रयोजनिका प्रवेशन-क्रिया मान लेने पर यष्टियों का भोजन प्रयोजनिका प्रवेशन-क्रिया में अन्वय अनुपपन्न होने से यहाँ भी यष्टी पद की यष्टीधर रूप अर्थ में लक्षणा होने में अन्वयानुपपत्ति ही बीज (कारण) है।[२]

---

१. लक्षणा शक्य-सम्बन्धः तात्पर्यानुपपत्तितः।

—न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली, पृ० ३१९, पङ्क्ति ३ कारिका ८२

लक्षणा-बीजं तु तात्पर्यानुपपत्तिरेव न त्वन्वयानुपपत्तिः।

—वेदान्त-परिभाषा, पृ० २३६, पङ्क्ति १५

२. लक्षणा-बीजं शक्यार्थान्वयानुपपत्तिः न तु तात्पर्यानुपपत्तिः। वेदे तदसम्भावात् यष्टीः प्रवेशयेत्यादौ तु प्रवेशन-पदस्य भोजन-प्रयोजनकप्रवेशनपरत्वग्रहा-दन्वयानुपपत्तिरेव।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५८, पङ्क्ति ६ से ८

वस्तुतः मुख्य (शक्य) अर्थ की अनुपपत्ति होने का ज्ञान मुख्यार्थ (शक्यार्थ) का ज्ञान होने में प्रतिबन्धक तो है लेकिन लक्ष्यार्थ-बोध में कारण नहीं है। अभिप्राय यह है कि यदि मुख्यार्थ अनुपपन्न है तो मुख्यार्थ का बोध नहीं होगा, लेकिन मुख्यार्थ की अनुपपत्ति के ज्ञान से ही लक्ष्यार्थ का ज्ञान होगा, ऐसा मानना समीचीन नहीं है अतः मुख्यार्थानुपपत्तिरूप तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा में कारण न मानकर अन्वयानुपपत्ति को ही लक्षणा में कारण मानना युक्तिसङ्गत है।[१]

गौणी-निरूपण

गौणी के विषय में नैयायिकों का कहना है कि सादृश्य रूप शक्य सम्बन्ध से अशक्यार्थ की उपस्थापक होने से यह पृथक् पदवृत्ति नहीं है, अपितु लक्षणा में ही इसका अन्तर्भाव हो जाता है।[२]

भाट्टचिन्तामणिकार-मत-निरूपण

इस गौणी वृत्ति के विषय में भाट्टचिन्तामणिकार का कहना है कि अपने शक्य अर्थ के सम्बन्धि-गुणों के सजातीय (सदृश) गुणों से युक्त शब्द की वृत्ति गौणी है तथा इसमें विद्यमान धर्म गौणत्व है।

गौणीवृत्ति के स्थल में अपने शक्य अर्थ के साथ गौण अर्थ का सम्बन्ध एकार्थ वृत्ति (एक ही अर्थ में समवाय से वृत्ति) रूप है।

सिंहो माणवकः (माणवक-बटु सिंह है।) इत्यादि वाक्यों से होने वाले सिंहत्व-जाति के साथ सिंहरूप एक अर्थ में समवेत क्रौर्यादिगुणों के सजातीय (सदृश) गुणवान् जिसमें प्रकार (विशेषण) तथा माणवक विशेष्य हैं, ऐसे **'क्रौर्यादि गुणवान् देवदत्तः'** इस शाब्दबोध में सिंह पद से जन्य गौणीवृत्ति द्वारा क्रौयादिगुणवान् के उपस्थिति की कारणता है।

यहाँ पर शाब्द-बोध में सिंह पद के श्रवण से इन क्रौर्यादि गुणों के एक सम्बन्धी सिंह के ज्ञान से इन्हीं गुणों के अपर (दूसरे) सम्बन्धी माणवक का

---

१. वस्तुतो मुख्यार्थानुपपत्तिज्ञानं मुख्यार्थबोधे प्रतिबन्धकं न लक्ष्यार्थबोधकारणम्।
 -भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५८, पङ्क्ति ९ से १०

२. सादृश्य-रूप-शक्य-सम्बन्धो गौणी, तेन लक्षणान्तर्गतिरिति नैयायिकाः।
 -भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५८, पङ्क्ति १६ से १७

गौणी वृत्ति-द्वारा स्मरण हो जाता है फलतः सिंह के क्रौर्यादि गुणों के सजातीय क्रौर्यादि गुणों की देवदत्त में लक्षणा से उपस्थिति हो जाने पर '**सिंहो माणवकः**' इस वाक्य से क्रौर्यादिगुणवान् माणवक है या माणवक में क्रौर्यादि गुण हैं, यह गौणबोध उपपन्न हो जाता है।[1]

इसी प्रकार '**योषा वाव गौतमाग्निः**' (हे गौतम! यह योषास्त्री अग्नि है।) यहाँ पर अग्नि शब्द योषा (स्त्री) में गौण है। अग्नि शब्द का शक्यार्थ अग्नि, सब पदार्थों का दाहक होने में उसमें दाहकत्व धर्म है, इस दाहकत्व धर्म का सजातीय जो दाहकत्व-धर्म है, वह योषा (स्त्री) में है, क्योंकि स्त्री भी ब्रह्मचर्य, तपस्या आदि साधनों का दहन कर देती है, अतः स्वशक्य-सम्बन्धि-गुण-सजातीय गुणवान् योषा (स्त्री) में अग्नि शब्द की वृत्ति से होने से अग्नि शब्द यहाँ पर गौण है अतः 'योषा अग्नि' इसका स्त्री, तपस्यादि साधनों की विघातक है, ऐसा गौण बोध होता है।[2]

भाट्टचिन्तामणिकार कृत गौणी के इस लक्षण में शक्यार्थ का त्याग नहीं करना पड़ता अतः वैदिक गौणीवृत्तियों के स्थल में इसकी पूर्ण सङ्गति हो जाती है।

'**यजमानः प्रस्तरः**' यहाँ पर यजमान (यागकर्त्ता) तथा प्रस्तर (दर्भ-मुष्ठि) इन दोनों में यागकारणत्व गुण है यहाँ यजमान पद से अपने शक्य अर्थ यजमान् में समवाय से सम्बन्धित जो याग-करणत्व गुण है, उसके ही सजातीय (सदृश) यागकरणत्व रूप गुण की प्रस्तर में वृत्ति होने से यजमान् पद प्रस्तर रूप अर्थ में गौण है अतः गौणी लक्षणा से भिन्न है।[3]

---

१. स्वशक्यसम्बन्धिगुणसजातीयगुणवत्वृत्तित्वं गौणत्वं, शक्यसम्बन्धश्च एकार्थवृत्तित्व-समवेतत्वादिः। एवं सिंहो माणवक इत्यादिवाक्यजन्ये सिंहत्वैकार्थ-समवेत-क्रौर्यादिसजातीय-गुणवत्प्रकारके गुणप्रकारके वा माणवकादिविशेष्यके शाब्दे सिंहपदजन्य-गुणवदुपस्थितेर्गुणोपस्थितेर्वा हेतुत्वम्। तत्र च सिंह-पदेनैकसम्बन्धिज्ञाना-दपरसम्बन्धि-स्मरणमिति रीत्या सिंहगुणतत्सजातीय-गुणानां लक्षणयोपस्थितिः।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५९, पङ्क्ति १२ से १८

२. 'एवं योषा वाव गौतमाग्निः' इत्यादावग्निशब्दो योषायां गौणः।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५९, पङ्क्ति १८ से १९

३. एवं विधिगौणात्वाङ्गीकारे च शक्यार्थत्यागाभावेन न वेदाप्रामाण्यापत्तिलेशोऽपि। अतएव यजमानः प्रस्तर इत्यादौ यजमानप्रस्तरयोर्यागकारणत्वरूप-गुणयोगेन यजमान-पदं प्रस्तरे गौणमतो भिन्ना लक्षणातो गौणी। तन्निमित्तानि तत्सिद्ध्यादीनीति दिक्।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५९, पङ्क्ति २२ से २६

वेद में इस गौणी वृत्ति के होने में तत्सिद्धि, जाति, सारूप्य, प्रशंसा, भूमा तथा लिङ्ग-समवाय ये छह कारण होते हैं।[1]

पदभेद-निरूपण

उपर्युक्त शक्ति, लक्षणा तथा गौणीवृत्ति से युक्त जिन पदज्ञानों में शाब्द-बोध की कारणता मानी गई है वे पद रूढ़, यौगिक, योगरूढ़ तथा यौगिकरूढ़, इस भेद से चार प्रकार के हैं।[2]

१. रूढ़-पद

उपर्युक्त चारों प्रकार के पदों में अवयव-शक्ति की अपेक्षा न रखकर मात्र समुदाय शक्ति से जो अर्थ के बोधक होते हैं, वे पद रूढ़ पद हैं। जैसे 'घट पद से समुदाय शक्ति के द्वारा ही घटरूप-व्यक्ति का बोध होता है, अतः 'घट' पद रूढ़-पद है।

२. यौगिक-पद

अवयव-शक्ति के द्वारा जो पद अर्थ के बोधक होते हैं, वे पद यौगिक पद हैं। जैसे '**चित्रगु**' शब्द से '**चित्रा गौः यस्य सः**' इस अवयव-शक्ति के द्वारा ही चितकबरी गाय वाले व्यक्ति का बोध होने से 'चित्रगुः' शब्द यौगिक है।

३. योगरूढ़-पद

समुदाय शक्ति तथा अवयव शक्ति, इन दोनों के द्वारा एक ही अर्थ के बोधक-पद योगरूढ़ पद कहे जाते हैं। जैसे-'पङ्कज' पद से '**पङ्कात् जायते इति पङ्कजः**' इस प्रकार अवयव शक्ति के द्वारा पङ्क (कीचड़) में उत्पन्न होने वाली वस्तु का बोध होता है तथा समुदाय शक्ति-द्वारा पद्मत्व रूप से पङ्क में उत्पन्न होने वाली वस्तु पद्म (कमल) है, यह अर्थ भी पङ्कज पद से ही प्राप्त होता है। यहाँ अवयव-शक्ति तथा समुदाय-शक्ति, इन दोनों के द्वारा पद्म रूप एक अर्थ का ही बोधक होने से पङ्कज-पद, योगरूढ़ है।

---

१. तस्यां च गौण्यां वृत्तौ वेदे षट् निमित्तानि तत्सिद्धिः, जातिः सारूप्यम्, प्रशंसा, भूमा लिङ्गसमवाय इति।

-तंत्र-सिद्धान्त-रत्नावलि, पृ० २७, पङ्क्ति २०

२. तच्च पदं चतुर्विधम्। रूढं, यौगिक, योगरूढं यौगिकरूढञ्च।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५९, पङ्क्ति २७

6. यौगिक रूढ़-पद

जिन पदों से समुदाय शक्ति तथा अवयव शक्ति, इन दोनों के द्वारा भिन्न अर्थों का बोध होता है, उन भिन्नार्थ-बोधक पदों को यौगिक रूढ़-पद कहते हैं। जैसे 'मण्डप' पद यौगिक रूढ़ है, क्योंकि 'मण्डप' पद से **'मण्डं' पाति** इस अवयवशक्ति द्वारा माड़ पीने वाला, इस अवयवार्थ का बोध होता है तथा समुदाय शक्ति द्वारा 'चन्दोवे' रूप अर्थ का बोध होता है अतः मण्डप-पद यौगिक रूढ़ पद है।

योगरूढ़ि-विचार

योगरूढ़ि के विषय में भाट्टचिन्तामणिकार का कहना है कि **'पङ्कात् जायते'** इस अवयव शक्ति तथा समुदाय शक्ति, इन दोनों के द्वारा पद्म (कमल) के बोधक पङ्कज पद में योगरूढ़ि मानना आवश्यक है, क्योंकि पङ्कज पद से मात्र पङ्कजनिकर्तृत्व-पङ्क (कीचड़) से होने वाली उत्पत्ति के कर्ता में विद्यमान कर्तृत्व प्रकारक-पद्मविशेष्यक पद्म, ऐसी उपस्थिति नहीं होती, अपितु पङ्कज-पद का श्रवण होने पर पङ्कजनिकर्तृत्व (पङ्क से होने वाली उत्पत्ति के कर्त्ता (पद्म) में विद्यमान कर्तृत्व तथा पद्मत्व, ये दोनों जिसमें विशेषण हैं तथा पद्म जिसमें विशेष्य है, ऐसे पङ्कजनिकर्तृत्व तथा पद्मत्व, उभय प्रकारक पद्मविशेष्यक पद्म की ही उपस्थिति का अनुभव होता है।[१]

यदि उपर्युक्त प्रकार से 'पङ्कज' पद को योगरूढ़ न मानकर **'पङ्कात् जायते'** इस अवयव शक्ति द्वारा पङ्कजनिकर्तृत्व मात्र प्रकारक पद्मविशेष्यक पद्म का बोधक यौगिक-पद मानें तो (भेक) मेढ़क आदि की भी पङ्क से उत्पत्ति होने के कारण इनमें भी पङ्कजनिकर्तृत्व प्रकार (विशेषण) रहने से पङ्कज-पद से पङ्कजनि-कर्तृत्व की प्रकारकता से जैसे पद्म का बोध होता है, उसी तरह पङ्कजनिकर्तृत्व की प्रकारता से भेक (मेढ़क) आदि का भी बोध होने लगेगा

---

१. समुदायशक्त्याऽर्थ-प्रत्यायकत्वं रूढ़त्वम्। अवयवशक्त्यार्थप्रत्यायकत्वं यौगिकत्वम् समुदायशक्त्या अवयवशक्त्या चैकार्थप्रत्यायकत्वं योगरूढ़त्वम्। तथैव भिन्नार्थ-प्रत्यायकत्वं यौगिकरूढ़त्वम्। यथा घटः, चित्रगुः, पङ्कजं, मण्डप, इत्यादि शब्देषु।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५९, पङ्क्ति २७ से ३१

अत: पङ्कज पद में योगरूढ़ि मानना आवश्यक है। योगरूढ़ि मान लेने पर पङ्कज पद से जो पद्म का बोध होता है, वह मात्र पङ्कजनिकर्तृत्व प्रकारक पद्मविशेष्यक बोध नहीं होता, अपितु इसमें पङ्कजनिकर्तृत्व के साथ ही साथ पद्मत्व भी प्रकार (विशेषण) होने के कारण पङ्कजनिकर्तृत्व तथा पद्मत्व, उभय प्रकारक पद्मविशेष्यक पद्म का ही बोध होता है। भेक (मेढ़क) आदि में पङ्कजनिकर्तृत्व की प्रकारता होने पर भी पद्मत्व की प्रकारता न रहने के कारण पङ्कजपद को योगरूढ़ि द्वारा पद्म का बोधक मानने पर ही उसकी पद्म से इतर भेक (मेढ़क) आदि के बोधन में अतिव्याप्ति नहीं होती अत: 'पङ्कज' पद को योगरूढ़ि द्वारा ही पद्म रूप अर्थ का बोधक मानना नितान्त आवश्यक है।[१]

यौगिक रूढ़ पद-विचार

योगरूढ़-पद का विवेचन करने के लिए उपरान्त यौगिक रूढ़ पद का विवेचन करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि मण्डप-पद से '**मण्डं पाति**' इस अवयव शक्ति से माड़ पीने वाले की तथा समुदाय शक्ति से 'चन्दोवे' (आयतन) की उपस्थिति होने से यद्यपि अवयव-शक्ति तथा समुदाय-शक्ति से भिन्न-भिन्न अर्थों की उपस्थिति होती है तथापि योग शक्ति की अपेक्षा रूढ़ि-शक्ति प्रबल होने के कारण उस रूढ़िशक्ति से होने वाले चन्दोवे (आयतन) रूप अर्थ का ही 'मण्डप' पद से बोध होता है। इसी प्रकार रथकारादि शब्दों में '**रथं करोति**' इस अवयव-शक्ति से रथकर्त्ता की तथा समुदाय-शक्ति से सौधन्वन् जिसका अपर नाम है, ऐसी ऋभु रूप एक जाति विशेष की उपस्थिति होती है, फिर भी योग की अपेक्षा रूढ़ि की प्रबलता होने के कारण रूढ़ि द्वारा बोधित सौधन्व्न अपर नामधेय ऋभु रूप एक जाति विशेष का ही 'रथकार' पद से ग्रहण होता है।[२]

---

१. पङ्कजपदात् पङ्कजनिकर्तृत्वपद्मत्वोभयप्रकारकोपस्थितेरानुभविकत्वात्। अन्यथा पङ्कजपदात् भेकादि बोधोऽपि स्यात्। यतो योगरूढ़िरावश्यकी।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५९, पङ्क्ति ३१ से ३३

२. एवं यौगिकरूढं मण्डपाति पदं योगेन रूढ्या च भिन्नार्थ-प्रत्यायकत्वात् योगापेक्षया रूढे: प्राबल्यमप्येतद्विषयमेव। अत एव रथकारादि-वाक्ये सौधन्वनामापरपर्याय-ऋभुरूपजात्यन्तर-ग्रहणमेव सिद्धान्तमिष्यति इति दिक्।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६०, पङ्क्ति १४ से १७

वाक्यार्थ-बोधक सामग्री-निरूपण

कुमारिल भट्ट के मतानुसार वाक्यार्थ-बोध में सर्वप्रथम पदों के अभिहित (मुख्य) अर्थ का बोध होता है। इसके अनन्तर उन पदार्थों के परस्पर संसर्ग रूप वाक्यार्थ का लक्षणा से ज्ञान होता है। सर्वप्रथम पदों के अभिहित अर्थ का ज्ञान एवं तदनन्तर वाक्यार्थ का ज्ञान होने से कुमारिल भट्ट के इस सिद्धान्त को अभिहितान्वयवाद कहते हैं।[1]

कुमारिल-भट्ट के विपरीत प्रभाकर पदों के अभिहित अर्थ के ज्ञान के अनन्तर वाक्यार्थ ज्ञान न मानकर वाक्यार्थ ज्ञान के साथ पदों के अभिहित अर्थ का भी ज्ञान मानते हैं। इनके इस सिद्धान्त को अन्विताभिधानवाद कहते हैं। इनके मतानुसार **'घटमानय'** इत्यादि स्थल में घट-पद का तथा आनयन क्रिया का पहले पृथक्-पृथक् ज्ञान नहीं होता, अपितु आनयन-क्रिया से अन्वित घट का ही ज्ञान होता है तथा आनयन क्रिया का भी घट से अन्वित रूप में ही ज्ञान होता है।[2]

कुमारिल भट्ट के अभिहितान्वयवाद में पदजन्य-पदार्थ ज्ञान के अनन्तर वाक्यार्थ ज्ञान होने में पदों के समूह रूप वाक्य का श्रवण होने पर उस वाक्य में स्थित अनेक पदों के संसर्ग (अन्वय) का ज्ञान रूप वाक्यार्थ ज्ञान होने में आकाङ्क्षा, योग्यता तथा आसत्ति ज्ञान, ये सहकारि कारण हैं।[3]

आकाङ्क्षा-निरूपण

नैयायिकाभिमत आकाङ्क्षा का निरूपण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि आकाङ्क्षा पद में रहती है तथा जिस पद का व्यतिरेक (अभाव) होने पर उस पद के कारण दूसरे पद के साथ होने वाले अन्वय-(संसर्ग)-ज्ञान

---

१. अत्राभिधीयते यद्यप्यस्तिमूलान्तरं न नः।
पदार्थानान्तु मूलत्वं युक्तं तद्भावभावतः। —श्लोक वार्तिक, पृ० ८७६
अतस्सिद्धं पदैरभिहिताः पदार्था लक्षणया वाक्यार्थमवबोधयन्तीति।
—तंत्र-सिद्धान्त-रत्नावलि, पृ० ६४, पङ्क्ति ११ से १२।

२. प्राभाकरास्तु कार्यान्विते पदानां शक्तिः। —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६२, पङ्क्ति २१

३. तत्र वाक्येनान्वयानुभवजनने आकाङ्क्षा-योग्यतासत्तिज्ञानं सहकारि।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५०, पङ्क्ति १ से २

का न हो पाना ही प्रथम पद में द्वितीय पद की आकाङ्क्षा है।[१] जैसे **'गामानय'** यहाँ पर **गाम्** इस प्रथम-पद को द्वितीय **'आनय'** पद की आकाङ्क्षा है। यदि आनय पद का अभाव कर दिया जाए तो इस 'आनय' पद के कारण प्रथम 'गाम्' पद के साथ इसके गोनिष्ठ-कर्मत्व तथा आनयन क्रिया रूप संसर्ग का ज्ञान न हो पाना ही गाम् पद में आनय-पद की आकाङ्क्षा है।

'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरूषोऽपसार्यताम्' (यह राजा का पुत्र आ रहा है, पुरुषों को हटाओ।) इस अंशद्वयात्मक वाक्य में राजापद का पुत्र पद के साथ षष्ठी विभक्ति-वाच्य-जनित (क्लृप्त) संसर्ग (अन्वय) का प्रथम वाक्यांश के श्रवण से ही बोध हो जाने के कारण प्रथम पद को द्वितीय वाक्यांश स्थित पुरुष-पद की आकाङ्क्षा न होने से पुरूष पद निराकाङ्क्ष रहता है।[२]

'घटम्' यहाँ पर घट तथा कर्मत्व, दोनों के अभेद रूप अन्वय का बोध होने में घट को कर्मत्व की आकाङ्क्षा है लेकिन घट तथा कर्मत्व दोनों के भेदरूप अन्वय (संसर्ग) का बोध होने में घट तथा कर्मत्व दोनों अलग-अलग होने के कारण दोनों में से किसी को भी एक दूसरे की आकाङ्क्षा नहीं है फिर भी जिस प्रकार लाक्षणिक **'गङ्गायां घोषः'** इस स्थल में तीर रूप लक्ष्यार्थ वाले गङ्गा-पद की घोष-पद के साथ संसर्ग-ज्ञान होने में कारणता मानी जाती है, उसी प्रकार **'घटम्'** यहाँ पर भेदान्वय-बोध में भी घट तथा कर्मत्व में एक दूसरे की आकाङ्क्षा है। यदि लक्षणिक स्थल में गङ्गा पद घोषपद के अधिकरणत्व संसर्ग का बोधक है, ऐसा नहीं मानें तो तीर अर्थ की उपस्थापना करने वाले गङ्गापद का अभाव होने पर गङ्गापदलक्ष्य तीर तथा घोष में संसर्ग का अनुभव न होने से यहाँ घोष पद में भी तीरोपस्थापक-पदव्यतिरेक-प्रयुक्त अन्वय की अननुभावकत्व रूप गङ्गापद की आकाङ्क्षा माननी चाहिए।

---

१. आकाङ्क्षा च पदनिष्ठा तत्पदव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वरूपा।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५०, पङ्क्ति ६ से ७

यत्पदेन विना यस्याननुभावकता भवेत्। आकाङ्क्षा।
-न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली कारिका ८४

२. **अयमेति** पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यतामित्यत्र राजपदस्य पुत्रेण सह जनितान्वयबोधस्य न पुरुषसाकाङ्क्षत्वम्। -भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५०, पङ्क्ति ७ से ८

इसी प्रकार श्रुत **'द्वारं'** इस पद में भी अध्याहृत **पिधेहि** पदनिरूपित आकाङ्क्षा समझनी चाहिए। लेकिन जिस स्थल में सभी पद लाक्षणिक होते हैं ऐसे वाक्यों से शाब्दबोध नहीं होता।[१]

मीमांसकों के मतानुसार आकाङ्क्षा पदनिष्ठ नहीं होती, अपितु अर्थनिष्ठ ही होती है। यदि आकाङ्क्षा को अर्थनिष्ठ न मानकर पदनिष्ठ माना जाए तो **'गङ्गायां घोषः'** तथा 'द्वार' का उच्चारण होने पर **'पिधेहि'** इस अध्याहतृत स्थल में आकाङ्क्षा की अनुपपत्ति हो जाती है। **'गङ्गायां घोषः'** यहाँ पर गङ्गापद एवं घोष पद, इन दोनों में घोष-पद में **'गङ्गायाम्'** इस सप्तमी विभक्ति-वाच्य अधिकरण रूप संसर्ग से गङ्गापद के साथ अन्वित होने की योग्यता न होने से उसे गङ्गापद की तथा गङ्गा पद को भी घोष पद की आकाङ्क्षा न रहने से यहाँ पर आकाङ्क्षा की अनुपपत्ति हो जाती है। लेकिन आकाङ्क्षा को अर्थनिष्ठ मानने पर यह अनुपपत्ति नहीं होती, क्योंकि गङ्गापद के लक्ष्यार्थ तीर के साथ अन्वित होने के लिए घोष पदार्थ में गङ्गापदनिरूपित तीर अर्थ-विषयक आकाङ्क्षा होने की उपपत्ति हो जाती है। इसी तरह **'द्वारं'** इस पद के अर्थ कर्मत्व के संसर्ग का बोध हो सके इसलिए इस **'द्वारं'** पद के अर्थ में अध्याहृत **'पिधेहि'** पद के अर्थ पिधान रूप क्रिया की आकाङ्क्षा होने की भी उपपत्ति हो जाती है।[२]

दो वाक्यों की परस्पर एकवाक्यता-स्थल में उस वाक्य के न रहने के कारण वाक्यार्थ-ज्ञानरूप कार्य की उत्पत्ति न होना ही उस प्रथम वाक्य में द्वितीय वाक्य की आकाङ्क्षा है। इस प्रकार अर्थवाद वाक्य तथा विधिवाक्य, इन दोनों में किसी एक के न रहने पर यजमान की कर्म में प्रवृत्ति न होने से विधिवाक्य में अर्थवाद वाक्य की तथा अर्थवादवाक्य में विधिवाक्य की

---

१. घटः कर्मत्व-मित्यादेरभेदान्वयबोधे साकाङ्क्षत्वेपि भेदान्वयबोधे न साकाङ्क्षत्वम्, लाक्षणिकगङ्गादिपदस्याप्यनुभावकत्वस्वीकारात्। तत्रापि साकाङ्क्षत्वम्। यदि च लाक्षणिकस्य नानुभावकत्वं तदा तीरोपस्थापकपदव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभाव-कत्वरूपाकाङ्क्षात्राप्यङ्गीकार्या। एवं श्रुतपदेऽध्याहृतपदनिरूपिताकाङ्क्षापि बोध्या। यत्र सर्वाणि पदानि लाक्षणिकानि तादृशवाक्याद् न बोधः।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५०, पङ्क्ति ८ से १४

२. अन्ये तु तत्पदोपस्थाप्यस्य येन विना नान्वयबोधविषयत्वं तस्य तेनाकाङ्क्षा सा चार्थनिष्ठा तेन लाक्षणिकेऽध्याहारस्थले च नानुपपतिरित्याहुः।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५०, पङ्क्ति १५ से १७

आकाङ्क्षा है। जैसे **'स एतं प्राजापत्यं तूपरमालभेत'**[१] (वह इस प्रजापति देवताक शृङ्गरहित पशु का आलम्भन करे) इस विधि वाक्य के श्रवण मात्र से यजमान की इस पशुयाग 'प्राजापत्य' याग में प्रवृत्ति नहीं होती अपितु **'स (प्रजापति) रात्मनोवपामुदखिदत्'**[२] इस अर्थवाद वाक्य से (तूपर पशु का हनन कर प्राजापत्य याग करने से विपुल पशुओं की प्राप्ति होती है।') इस श्रुतविधि के प्राशस्त्य का ज्ञान होने पर ही उस यजमान की विधि-बोधित 'प्राजापत्य' याग में प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार जिनका विधि के प्राशस्त्य-बोधन में ही तात्पर्य है, ऐसे अर्थवाद वाक्यों के श्रवण मात्र से भी विधिवाक्य के अभाव में कर्म का ज्ञान ही न होने से प्रवृत्ति नहीं होती। प्रवृत्ति के लिए दोनों की एकवाक्यता आवश्यक होने के कारण दोनों विधिवाक्य तथा अर्थवाद् वाक्यों को एक दूसरे की आकाङ्क्षा है।

इसी प्रकार प्रधानविधि के अर्थ प्रधान एवं उसकी अङ्गविधि के अर्थ अङ्ग, इन दोनों में एक के न रहने पर मात्र दूसरे के अनुष्ठान से फल उत्पन्न न होने के कारण दोनों में परस्पर एक दूसरे की फलाजनकत्व रूप आकाङ्क्षा है।

जैसा कि **'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः'**[३] इस विधि का अङ्ग रूप इतिकर्त्तव्यता के बिना अनुष्ठान होने पर फलोत्पत्ति नहीं होती। इस प्रधान को इतिकर्त्तव्यता रूप अङ्ग **'इडो यजति,'**[४] **'समिधो यजति,'**[५] इत्यादि प्रयाजानु याजादि की आकाङ्क्षा है। इसी प्रकार प्रयाजों को भी इनमें साध्य-फल श्रुत न होने के कारण साध्य स्वर्ग जिसमें श्रुत है, ऐसे प्रधान दर्शपूर्णमास के अभाव में स्वर्ग रूप फल की उत्पत्ति न होने से इनमें प्रधान की आकाङ्क्षा है। इन दोनों प्रधान तथा अङ्गों में परस्पर एक दूसरे के न रहने पर फल उत्पन्न न होने से एक दूसरे की आकाङ्क्षा है।

---

१. तैत्तिरीय संहिता २।१।२।

२. वाक्यैकवाक्यतास्थले तु तद्व्यतिरेकप्रयुक्तकार्याजनकत्वमाकाङ्क्षा। एवञ्चार्थवादविधिवाक्ययोरन्यतरव्यतिरेकप्रयुक्तप्रवृत्यजनकत्वेनाकाङ्क्षा।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ५०, पङ्क्ति १८ से २०

३. एवं प्रधानविध्यर्थप्रधानस्याङ्गविध्यार्थाङ्गं विना फलाजनकत्वरूपाकाङ्क्षा।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ५०, पङ्क्ति २० से २१

४. तैत्तिरीय संहिता २।६।१।

५. तैत्तिरीय संहिता २।६।१।१।

योग्यता-निरूपण

अन्वय के प्रयोजक धर्मवान् में विद्यमान धर्म योग्यता है। '**पयसा सिञ्चति**' (जल से सींचता है।) इस स्थल में सेचन क्रिया रूप संसर्ग (अन्वय) का प्रयोजक जलत्व-धर्म पय (जल) में विद्यमान होने से जल में सेचन क्रिया का करण होने की योग्यता होने के कारण सेचन-क्रिया के साथ जलनिष्ठ करणत्व संसर्ग की उपपत्ति हो जाती है। फलतः '**पयसा सिञ्चति**' (जल से सींचता है) इस वाक्य में आकाङ्क्षा तथा आसत्ति के साथ योग्यता विद्यमान होने से इस वाक्य का 'पयनिष्ठ करणत्वनिरूपकसेचनक्रियानुकूलाकृति' ऐसा शाब्द-बोध हो जाता है। इसके विपरीत '**वह्निना सिञ्चति**' (वह्नि से सींचता है, इस स्थल में वह्नित्व सेचन-क्रिया का प्रयोजक धर्म न होने के कारण इससे अवच्छिन्न वह्नि में सेचन क्रिया का करण होने की योग्यता नहीं है अतः इस वाक्य से शाब्द-बोध नहीं होता।[१]

३. आसत्ति-निरूपण

आसत्ति (सन्निधि) का निरूपण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि "जिसका सम्बन्ध करना है ऐसे प्रतियोगी की जिसके साथ सम्बन्ध करना है, उस अनुयोगी के पास उपस्थिति होना ही आसत्ति है।" जैसे '**गाम् आनय**' यहाँ पर द्वितीयान्त गो पदार्थ का आनय पदार्थ के साथ निरूपकत्व संसर्ग है। इस संसर्ग का प्रतियोगी गोकर्मत्व एवं आनय अनुयोगी है। इस स्थल में गोकर्मत्व-रूप प्रतियोगी की अनुयोगी आनय के समीप अव्यवधान से उपस्थिति होने के कारण आसत्ति होने से '**गाम् आनय**' इस वाक्य के श्रवण से '**गोनिष्ठ कर्मतानिरूपक-आनयनानुकूलकृतिमांस्त्वम्**' यह शाब्द-बोध हो जाता है।

आसत्ति के इस लक्षण में आए हुए अव्यवधान-पद का स्पष्टीकरण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि प्रस्तुत अन्वय (संसर्ग) के अबोध (अज्ञान) के जो अनुकूल नहीं हैं ऐसे अननुकूल (प्रस्तुत अन्वय (संसर्ग) के बोध के अनुकूल) क्षण में संसर्ग के प्रतियोगी की अनुयोगी के समीप उपस्थिति होना ही दोनों में अव्यवधानरूप आसत्ति है।[२]

---

१. योग्यता च अन्वयप्रयोजकधर्मवत्वम्। अस्ति च पयसा सिञ्चतीत्यत्र सैकान्वयप्रयोजक-धर्मजलत्वस्य पयसि सत्वाद्योग्यता, न तु वाह्निना सिञ्चतीत्यत्र।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५०, पङ्क्ति ३१ से ३३

२. आसत्तिस्तु अव्यवधानेनान्यवयप्रतियोग्युपस्थितिः। अव्यवधानञ्च प्रकृतान्वया-बोधाननुकूलक्षणेन। —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५२, पङ्क्ति १२ से १३

इस प्रकार आसत्ति का लक्षण निर्धारित होने के कारण '**गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन**' इस पदसमूह में यद्यपि क्रिया-कारकादि समस्त पद उपस्थित हैं और उनमें परस्पर-आकाङ्क्षा तथा संसर्ग होने की योग्यता भी है तथापि यहाँ पर संसर्ग के प्रतियोगी की अनुयोगी के समीप अव्यवधान से उपस्थिति न होने के कारण इस वाक्य के श्रवण से 'देवदत्त ने भोजन किया' तथा 'पर्वत अग्निमान् हैं, इस अर्थ की प्रतीति नहीं होती।

भाट्टचिन्तामणिकार का कहना है कि यदि बीच में शाब्द-बोध के अनुकूल (जनक) पदार्थ उपस्थित हों तो वे व्यवधायक नहीं होते। जैसे श्लोकादि में विशेषण-विशेष्य, कर्ता, कारकादि के बीच में अन्यान्य-पदार्थ उपस्थित रहते हैं, तथापि उन सभी पदार्थों की उस पूरे श्लोक के बोध में अनुकूलता ही रहती है! इनके व्यवधान से भी श्लोकादि का शाब्दबोध हो जाता है। जैसे '**अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः**'[१] यहाँ पर अस्ति तथा हिमालय, इन दोनों के बीच में अनेक पदार्थ रहने पर भी ये अन्वय के अनुकूल (जनक) होने के कारण बीच में इनकी उपस्थिति होने पर भी अर्थ की प्रतीति हो जाती है।[२]

तात्पर्य-निरूपण

अमुक वाक्य से अमुक अर्थ हो, इस प्रकार वाक्यों में वक्ता का अभिप्राय रहना तात्पर्य है। जैसे '**घटम्**' यहाँ पर '**घटम्**' यह पद आधेयता-संसर्गक घट-प्रकारककर्मताविशेष्यक बोध उत्पन्न करे, इस प्रकार अपने अभिप्राय की श्रोताओं को प्रतीति हो ऐसा वक्ता का '**घटम्**' पद में अभिप्राय या तात्पर्य विद्यमान है।[३]

भाट्टचिन्तामणिकार ने यद्यपि तात्पर्यज्ञान का शब्दतः खण्डन नहीं किया है, तथापि वायक्यार्थ ज्ञान में इन्होंने सहकारि कारणों के रूप में आकाङ्क्षा, योग्यता तथा आसत्ति का ही उल्लेख किया है।[४] यदि इन्हें तात्पर्य ज्ञान की

---

१. कुमारसम्भव प्रथमसर्ग श्लोक १।

२. तेन गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेने-त्यादौ नासत्तिः। अत एवान्तरालिकानुकूलपदार्थोपस्थितेर्न व्यवधायकत्वम्। -भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५२, पङ्क्ति १४ से १५

३. तात्पर्यं तु तत्प्रतीतिच्छया वाक्यानुसंहितत्वम्। -भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५२, पङ्क्ति १९

४. तत्र वाक्येनान्वयानुभवजनने आकाङ्क्षायोग्यतासत्तिज्ञानं सहकारि।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५०, पङ्क्ति १

शाब्दबोध में सहकारि-कारणता अभिप्रेत होती तो वे इसका भी चतुर्थ कारण के रूप में उल्लेख करते। चूँकि इन्होंने ऐसा नहीं किया है, अतः इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्हें तात्पर्यज्ञान की शाब्दबोध में सहकारिकारणता अभिमत नहीं है।

वाक्यार्थ-विचार

उपर्युक्त विवेचित आकाङ्क्षादि-सहकारि-कारणों से उत्पन्न होने वाले वाक्यार्थ के विषय में दर्शनिक सम्प्रदायों में परस्पर पर्याप्त मतभेद है। वैयाकरण वाक्य में वाक्यार्थ बोधन की शक्ति मानते हैं। इनके मतानुसार वाक्य की शक्ति से ही वाक्यार्थ का बोध होता है।[१] इसके विपरीत प्रभाकर के मत में कार्यान्विताभिधानवाद स्वीकृत होने के कारण कार्यान्वय रूप से ही वाक्य में वाक्यार्थ-बोधन की शक्ति मानी जाती है।[२] इतरान्विताभिधान मानने वाले वेदान्ती अन्वयरूप वाक्यार्थ की शक्ति मानते हैं।[३]

यद्यपि वैयाकरण, प्रभाकर तथा वेदान्ती तीनों ही वाक्य मे वाक्यार्थ-बोधन की शक्ति मानते हैं, तथापि वैयाकरणों के मत में वाक्यार्थ विशेष्य होता है तथा इतर दोनों के मत में यह विशेषण रूप है। यही वैयाकरणों का प्रभाकर एवं वेदान्तियों के सिद्धान्त के साथ मतभेद है।[४]

इस विषय में नैयायिकों का कहना है कि पदार्थों का परस्पर-सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ का भान संसर्ग मर्यादा से ही होता है।[५]

उपर्युक्त सभी सिद्धान्तों के विपरीत मीमांसक पदार्थों का स्मरण होने पर लक्षणा द्वारा ही उनसे वाक्यार्थ का भान मानते हैं। इनके मत में वाक्यों में वाक्यार्थ-बोधन की शक्ति न होकर स्मृत पदार्थों की लक्षणा रूप वृत्ति ही होती है।[६]

---

१. वाक्यार्थे वाक्यस्य शक्तिरिति वैयाकरणाः। -भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६०, पङ्क्ति ३२।

२. कार्यान्विताभिधानाङ्गीकारेण कार्यान्वयरूपेण वाक्यार्थे शक्तिरिति गुरवः।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६१, पङ्क्ति १ से २

३. इतरान्विताभिधानाङ्गीकारेणान्वयरूपे वाक्यार्थे शक्तिरिति वेदान्तिनः।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६१, पङ्क्ति ३ से ४

४. वैयाकरणानां वाक्यार्थो विशेष्य इतरयोस्तु विशेषणभूत इति भेदः।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६१, पङ्क्ति ५ से ६

५. संसर्गमर्यादया वाक्यार्थभानमिति गौतमीयाः। -भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६१, पङ्क्ति ७

६. वाक्यार्थे लक्षणेति सिद्धान्तः। -भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६१, पङ्क्ति ८

उपर्युक्त सभी मतों का भाट्टचिन्तामणिकार ने क्रमशः विवेचन किया है।

वैयाकरण-मत-निरूपण

वाक्यार्थ-बोधन की वाक्य में शक्ति मानने वाले वैयाकरण कहते हैं कि '**कृष्णेहि रक्षैनम्** (कृष्ण आओ इसकी रक्षा करो)' इत्यादि वाक्यों में कृष्ण तथा एहि में इण् धातु तथा आगमन वाचक में विभाग असम्भव होने के कारण एकार-घटित आनुपूर्वी वाले आगमन-वाचक इण् धातु का यहाँ अस्तित्व होने में कोई प्रमाण न होने से '**कृष्णेहि**' इस वाक्य में ही आगमन-क्रिया से विशिष्ट कृष्णरूप अर्थ की शक्ति है। इसे ही वाक्य स्फोट कहते हैं।[1]

यह वाक्य स्फोट् सखण्ड वाक्य स्फोट् तथा अखण्डवाक्यस्फोट् के भेद से दो प्रकार का है। इनमें भी सखण्डवाक्यस्फोट के पदरूप खण्डवाक्यस्फोट तथा वर्णरूप खण्डवाक्यस्फोट ये दो भेद हैं। इनमें प्रथम पदरूप खण्डवाक्यस्फोट् का उदाहरण प्रदर्शित करते हुए वैयाकरण कहते हैं कि 'विष्णोऽव' इत्यादि वाक्यों में विष्णु तथा रक्षणार्थक अव् इन दोनों में परस्पर एक दूसरे के अन्वय की आकाङ्क्षा, योग्यता, सन्निधि, आदि सहकारि कारण विद्यमान होने से इन आकाङ्क्षादि से सहकृत विष्णु तथा अव् पदों से विष्णु तथा रक्षण रूप पदार्थों का स्मरण हो जाने पर इन पदार्थों के परस्पर संसर्ग रूप वाक्यार्थ का भान हो जाता है, तथापि यह संसर्गरूप वाक्यार्थ शाब्द-प्रमा के रूप में सिद्ध हो सके इसलिए इस वाक्यार्थ-ज्ञान में वाक्य के शक्ति की कल्पना की जाती है। यही पदरूप खण्डवाक्य स्फोट् है।[2]

'हरेऽव' यहाँ पर' 'हरे + अव' 'इस स्थिति में '**एङः पदान्तादति**[3] इस

---

१. एवं कृष्णेहि रक्षैनमित्यादौ वाक्येंऽश-विभागाभावादेकारघटितानुपूर्वीकस्यागमनवाचकस्यात्र सत्त्वे मानाभावाद्वाक्यस्यैव विशिष्टार्थे शक्तिरिति वाक्यस्फोटः।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६१, पङ्क्ति १९ से २१

२. स द्विविधः सखण्डवाक्यस्फोटोऽखण्डवाक्यस्फोटश्च। आद्यो द्विधा। पदरूपखण्डवाक्यस्फोटो, वर्णरूपखण्डवाक्यस्फोटश्च। तथाहिविष्णोवेत्यादिवाक्येषु आकाङ्क्षादिसहकृततत्तत्पदस्मारितपदार्थानां संसर्गरूपवाक्यार्थावगमेपि तस्य शाब्दत्वसिद्धये वाक्यस्य शक्तिः, कल्प्यते। सैव वाक्यस्फोटः।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६१, पङ्क्ति २२ से २६

३. हरेऽवेत्यादौ पदविभागानिर्णयाद्वर्णत्रयात्मकवाक्यस्य सम्बोध्यहरिकर्तृकरक्षणे यरक्तिरूपः स्फोटः। तदा वर्णरूपखण्डवाक्यस्फोटः। अस्याश्च व्यवहारकाले ग्रहः। न चैवं

सूत्र से पूर्वरूप हो जाने के कारण इस पद का हरे तथा अव ऐसा विभाग सम्भव न होने से ह, रे, तथा व, इन तीन वर्णों का समुदाय '**हरेव**' इत्याकारक जो एक वाक्य है, इस वर्णत्रयात्मक '**हरेऽव**' रूप एकवाक्य में ही 'हे हरि आओ, रक्षा करो, यहाँ सम्बोधन का विषयभूत हरि जिसका कर्त्ता है ऐसे अव पदवाच्य रक्षण रूप अर्थ में वाक्य का शक्ति रूप स्फोट होता है। यही वर्णरूप खण्डवाक्यस्फोट है।

जिस समय वाक्य द्वारा वाक्यार्थ ज्ञान रूप व्यवहार होने लगता है, उसी समय वाक्य की वाक्यार्थ में जो शक्ति है, उसका ज्ञान होता है।

पूर्वपक्षियों का कहना है शक्तिमत् पदों से पदार्थों के स्मरण के ही समान वाक्य से वाक्यार्थ का स्मरण होने के कारण उसमें अनुभावकता नहीं हो पाएगी।

इस आशङ्का का निराकरण करते हुए वैयाकरण कहते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान ही अनुभव माना जाता है अतः वाक्यों से यद्यपि वाक्यार्थ का स्मरण होता है, तथापि यह स्मरण प्रथम वाक्यार्थ का प्रत्यक्ष रूप ज्ञान हो चुकने के उपरान्त ही होता है। फलतः वाक्यों से वाक्यार्थ का अनुभव रूप प्रत्यक्ष-ज्ञान होने से वाक्यों में वाक्यार्थ की अनुभावकता उपपन्न हो जाती है।

उपर्युक्त प्रकार से विवेचित वाक्यों में जो वाक्य अपने द्वारा यथार्थ अर्थ का अनुभव कराते हैं, वे वाक्य ही प्रमाण होते हैं। उनमें आकाङ्क्षा, योग्यता, सन्निधि आदि सहकारि कारणों से सहकृत पद-ज्ञानों द्वारा उत्पन्न पदार्थ-स्मरणों से उत्पन्न जो अज्ञात, अनधिगत वाक्यार्थ ज्ञान है, उस वाक्यार्थ ज्ञान की वाक्य में विद्यमान जनकता, अनधिगतरूप वाक्यार्थ की जनकता होने के कारण वाक्य में अनधिगतार्थगन्तृत्वरूप प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है।

प्रभाकर-मत-निरूपण

इस विषय में गुरु प्रभाकर का कहना है कि '**गाम् अनय**' (गाय ले आओ), इत्यादि वाक्यों में आनयन क्रिया में अन्वित **गाम्** आदि पदों की शाब्दबोध में शक्ति है।

इस विषय का विशद रूप से विवेचन करते हुए प्रभाकर कहते हैं कि

वाक्यस्य पदवत्स्मारकत्वापत्त्याऽननुभावकत्वापत्तिः। अनुभवत्वस्य प्रत्यक्षमात्रवृत्तितयेष्टत्वात्। यथार्थज्ञानजनकत्वस्यैव वाक्यप्रमाणत्वात्। आकाङ्क्षादिसहकृतपदार्थस्मरणजन्यार्थज्ञानजनकत्वस्यैवानधिगतार्थगमकतया प्रामाण्याविघातः।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६१, पङ्क्ति २८ से ६२, पङ्क्ति २

पदों में स्मारिका तथा अनुभाविका, ये दो शक्तियां होती हैं। इनमें घटादि तथा गवादि-पदों से ज्ञात होने वाले घटादिनिष्ठ घटत्वादि जाति में स्मारिका शक्ति होती है तथा आनयन रूप कार्य में जिनका अन्वय होता है, उन कार्यान्वित घटादि गवादि अर्थों के ज्ञापक घटादि गवादि-पदों में अनुभाविका नामक शक्ति होती है। इसलिए '**गाम् आनय**' इस वाक्य का श्रवण होने पर सर्वप्रथम गोत्वरूप जातिनिष्ठ स्मारिका शक्ति से गोत्व (गाय) का स्मरणात्मक ज्ञान होता है। इसके पश्चात् आनयन क्रिया से अन्वित गोपदनिष्ठ अनुभावक शक्ति द्वारा क्रियान्वित गोरूप अर्थ का अनुभव होता है।

इसी प्रकार '**घटम् आनय**' इत्यादि स्थलों में घटादि पद अपने में विद्यमान स्मारिका शक्ति से घटत्वादि जातियों का स्मरण कराते हुए अपनी अनुभाविका शक्ति द्वारा घटादि के आनयन क्रिया में अन्वय रूप अनुभव उत्पन्न कराते हैं।[१]

कार्यान्वित-पदों में जो उपर्युक्त अनुभाविका शक्ति है, उसका निश्चय वृद्धजनों के व्यवहार द्वारा ही होता है। जैसे-

प्रयोजक-वृद्ध के द्वारा '**गामानय**' इस वाक्य के श्रवण के पश्चात् मध्मवृद्ध में गवानयन रूप कृति (क्रिया) के प्रति उत्पन्न होने वाली प्रवृत्ति को देखकर अव्युत्पन्न-श्रोता (बालक) प्रयोजक-वृद्ध के द्वारा कथित '**गामानय**' इस वाक्य के श्रवण के अनन्तर प्रयोज्य वृद्ध में गोकर्मक आनयन रूप क्रिया में होने वाली चेष्टा (क्रिया, कृति) को देखकर इस गोकर्मक आनयन रूप चेष्टा से उस प्रयोज्य-वृद्ध में तादृश गवानयन रूप कृति (गवानयन रूप क्रिया) के प्रति इच्छा का '**अयं गवानयनरूपकृतीच्छावान् चेष्टावत्वात्**' इस अनुमान मे निश्चय करके '**मया इदं कर्तुं शक्यते** या **मया इदं अवश्यं कार्यम्,**' इस प्रकार के कार्यता-ज्ञान होने के उपरान्त ही कार्यों में प्रवृत्ति होने से कार्यों में होने वाली अपनी प्रवृत्ति में कार्यताज्ञान की कारणता का निश्चय कर लेने के उपरान्त '**अयं मध्यमवृद्धः गवानयन-क्रिया-निरूपित-कार्यताज्ञानवान् प्रवृत्तिवत्वात्**' इस अनुमान से मध्यम वृद्ध में गवानयनरूप कार्य में कार्यताज्ञान का अनुमान करता है। तदनन्तर यह कार्यताज्ञान मध्यम वृद्ध में 'गाम्-आनय'

---

१. प्राभाकरास्तुकार्यान्विते पदानां शक्तिः। तथाहि पदेषु स्मारिका अनुभाविका चेति शक्तिद्वयं तत्र स्मारिका जातौ। अनुभाविका कार्यान्विते। एवञ्च घटादिपदानि घटत्वादिजातिस्मरण-द्वारा घटादेः कार्यान्वयानुभवजनकानि।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६२, पङ्क्ति २१ से २४

इन पदों द्वारा ही उत्पन्न होने से कार्यताज्ञान के प्रति पदों की कारणता का निश्चय करता है। इसके अनन्तर पदों में कार्यता-ज्ञान की कारणता का निश्चय हो जाने पर इस कार्यताज्ञान में पदों की शक्ति से अतिरिक्त अन्य कोई वृत्ति न रहने से इसमें आनयनरूप कार्य में गोरूप व्यक्ति के अन्वय की बोधक कार्यान्वय-बोधकरूप शक्ति माने बिना कार्यान्वय रूप वाक्यार्थ-बोध अनुपपन्न हो जाने से अर्थापत्ति-प्रमाण द्वारा कार्यान्वय रूप वाक्यार्थ में पदों की अनुभाविका शक्ति का निर्धारण करता है।[१]

गुरु प्रभाकर के अनुसार अपूर्व ही कार्य है तथा पदों द्वारा कार्यान्वित-वाक्यार्थ का ही बोध होने से जिस वाक्य में कार्यवाचक लिङ्, लोट् आदि पदों का अभाव रहता है, उस वाक्य से वाक्यार्थ-बोध नहीं होता, अपितु वहां पदार्थ का केवल स्मरण ही होता है।

इसके अतिरिक्त लिङ्-वाचक लोटादि से बोध्य **'गामानय'** इत्यादि लौकिक वाक्यों में चूँकि अपूर्व रूप कार्य से अन्वित अर्थ की बोधकता सम्भव नहीं है, इसलिए ऐसे स्थलों पर लक्षणा द्वारा आनयनादि रूप कार्य से अन्वित अर्थ की बोधकता ही मानी जाती है।

वेदान्त-मत-निरूपण

'गाम् आनय' इत्यादि वाक्यों में आनयन रूप कार्य से अन्वित गौ रूपादि वाक्यार्थों के बोधन की कार्यान्वित-पदों में शक्ति मानने के प्रभाकर के सिद्धान्त के विपरीत वेदान्तियों का कहना है कि कार्यान्वित पदों में शक्ति न मानकर अपने से इतर जो भी पद या कार्यादि हैं, उनमें अन्वित पदों में (इतरान्वित पदों में) ही वाक्यार्थ-बोध की शक्ति माननी चाहिए।

इस इतरान्वित-शक्ति का ग्रह प्रदर्शित करते हुए वेदान्ती कहते हैं कि प्रयोजक (उत्तम) वृद्ध द्वारा **'गाम् आनय', गाम् नय, अश्वम् आनय,** इत्यादि

---

१. तथाहि सर्वत्र व्यवहारेणैव शक्तिग्रहः, प्रयोज्यवृद्धस्य प्रयोजकवाक्यश्रवणानन्तरं गोकर्मकानयनचेष्टया तादृशकृतीच्छानुमानद्वारा स्वप्रवृत्तौ कार्यताज्ञानस्य हेतुत्व-दर्शनात्कार्यताज्ञानमनुमाय पदानां कार्यताज्ञानहेतुत्वमवधार्य तस्यासति वृत्त्यन्तरे तदर्थशक्तिं विनानुपपन्नतया कार्यान्वये अनुभाविकां शक्तिमवधारयति। कार्यं चापूर्वमेवेति यत्र कार्यवाचक-पदाभावस्तत्र न वाक्यार्थ-बोधः, किन्तु पदार्थस्मरणमात्रम् लिङ्गादियुक्त-लौकिकवाक्यस्य च लक्षणायाऽऽनयनादिरूपकार्यान्वितबोधकत्व-मित्याहुः। —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६२, पङ्क्ति २४ से ३२

वाक्यों के श्रवण के उपरान्त मध्यम-वृद्ध में होने वाली एतादृश-कार्यों के प्रति जो प्रवृत्ति होती है, उसे देखकर श्रोता-अव्युत्पन्न-बालक **'गाम् आनय'** इस वाक्य में प्रथम आनयन क्रिया-निरूपित कर्मत्व-विशिष्ट गो रूप अर्थ के बोधन की शक्ति का निश्चय करता है, इसके अनन्तर **'गाम् आनय'** ऐसा सुनने पर मध्यम वृद्ध द्वारा गो का ग्रहण तथा **'अश्वं नय'** सुनने पर गो का त्याग कर अश्व को ले जाने की क्रिया को देखकर इस आवाप्-तथा **'गाम् आनय'** कहने पर ही गो का ग्रहण तथा ऐसा न कहकर अन्य किसी वाक्य के कहे जाने पर गो का ग्रहण न होने के उद्वाप् (अन्वय व्यतिरेक या कार्य-कारण-भाव) से गवादि पदों में गोत्वादि अर्थों के बोधन की शक्ति का निश्चय करता है। इसके अनन्तर पहले **'गामानय'** इस स्थल में आनयन रूप पदार्थ में अन्वित गोरूप अर्थ में 'गामानय' इस वाक्य की शक्ति है, इस व्युत्पत्ति द्वारा गो रूप अर्थ की आनयन क्रिया में अन्वित कर्मत्व रूप अन्वयांश में जिस शक्ति का निश्चय हुआ था, उसे बिना छोड़े **'गाम् नय'** कहने पर नयन रूप पदार्थ में अन्वित गोरूप अर्थ के बोधन की भी वाक्य में शक्ति का ज्ञान हो जाने पर अव्युत्पन्न श्रोता (बालक आदि) 'अपने से इतर में अन्वित-गवादि पदार्थों के बोधन में ही **'गामानय'** इत्यादि वाक्यों की शक्ति का निर्धारण करता है।'[१]

नैयायिक-मत-निरूपण

नैयायिकों का इस विषय में कहना है कि **'घटम् आनय'** इत्यादि वाक्यों का श्रवण होने पर घट-पद के साथ आनयन पद का समभिव्याहार (सामीप्य) होने से ही घट तथा आनयन इनमें घटनिष्ठ कर्मत्वनिरूपित आनयन एतादृश घटादि-पदार्थों के साथ आनयनादि पदार्थों के संसर्ग (अन्वय) रूप वाक्यार्थ का बोध हो जाता है अतः **'घटम् आनय'** इस वाक्य के श्रवण से घटानयन-विशिष्ट-रूप संसर्ग-ज्ञान में अर्थात् आनयन-क्रिया से विशिष्ट घट, इस विशिष्टत्व-संसर्ग रूप वाक्यार्थ का बोध होने में उपर्युक्त वाक्य में घट के अव्यवहित-पूर्व क्षण में आनयन पद की उच्चारण रूप आनुपूर्वी-ज्ञान की ही

---

१. वेदान्तिनस्तु इतरान्वित एवशक्तिग्रहो न तु कार्यान्विते। तथाहि प्रयोजकवाक्यस्य आनयनकर्मत्वविशिष्टगोरूपेर्थे शक्तिमवधार्यावापोद्वापाभ्यां गवादि-पदस्य गोत्वादौ शक्तिमवधारयन्नाद्यव्युत्पत्तिगृहीतान्वयांशे शक्तिमत्यजन्नितरान्विते एव शक्तिमवधारयति। एवं चान्वयेपि शक्तिरित्याहुः।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ६२, पङ्क्ति ३२, पृ॰ ६३, पङ्क्ति ४

कारणता मानने में लाघव है। इस प्रकार नैयायिकों के मत में वाक्यार्थ-बोध की कारणता केवल आनुपूर्वी-ज्ञान में ही होती है। पदनिष्ठ शक्ति-ज्ञान या लक्षणा-ज्ञान में नहीं। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए नैयायिक कहते हैं कि 'शब्द-वृत्ति-विषयत्व ही शाब्दत्व है अर्थात् मात्र शब्द (पद) वृत्ति-शक्ति-लक्षणादि का विषय होना अर्थात् इनसे बोधित होना ही शाब्दी-प्रमा है, ऐसा नियम नहीं है, अपितु शब्द से उत्पन्न होने वाली प्रतीति का विषयभूत होना ही शाब्दी-प्रमा है। यही सिद्धान्त मान्य होने से उपर्युक्त '**घटम् आनय**' इत्यादि वाक्यों से घट एवं आनयनादि के अन्वय का ज्ञान पदनिष्ठ शक्तिलक्षणादि वृत्ति का विषय न होने के कारण शब्दवृत्ति का अविषय ही रहता है तथापि 'शब्द से जन्य प्रतीति का विषय होना ही शाब्दी-प्रमा होने के कारण '**घटम् आनय**' इस शब्द द्वारा घट तथा आनयन रूप पदार्थों के साथ ही साथ उनमें होने वाले कर्मत्व, विशिष्टत्व आदि अन्वय की प्रतीति उपपन्न हो जाने से इस अन्वयरूप वाक्यार्थ में भी शब्दजन्य प्रतीतिविषयत्व रूप शाब्दत्व की सिद्धि हो जाती है। अभिप्राय यह है कि शब्दजन्य अपनी प्रतीति का विषय होने से 'अन्वय' में भी शाब्दी-प्रमा होने की उपपत्ति हो जाती है।[१]

सिद्धान्तमत-(भाट्टचिन्तामणिकार)-मत-निरूपण

सिद्धान्ती मीमांसक (भाट्टचिन्तामणिकार) के मतानुसार '**गाम् आनय**' इत्यादि वाक्यों में शक्तिरूप व्यापार द्वारा गाम् तथा आनयरूप पदों से ज्ञात गोत्व (गो) तथा आनयन रूप पदार्थों से उनके परस्पर संसर्ग रूप वाक्यार्थ का लक्षणा द्वारा ही बोध होता है अतः पदसमूह रूप वाक्य की वाक्यार्थ में लक्षणा है।

पूर्वपक्षी नैयायिकों की इस पर यह आपत्ति है कि लक्षणा शक्यसम्बन्ध रूप[२] होने से वहीं पर लक्षणा होती है, जहाँ पर कोई शक्य विद्यमान हो। जैसे '**गङ्गायां घोषः**' यहाँ पर गङ्गा-पद में प्रवाह रूप शक्य के साथ सामीप्य-सम्बन्ध

---

१. नैयायिकास्तु समभिव्याहारेण वाक्यार्थबोध इति घटानयनविशिष्टसंसर्गज्ञाने तादृशानुपूर्वीज्ञानस्य हेतुतामात्रकल्पने लाघवात्। शाब्दत्वञ्च न शब्दवृत्तिविषयत्वं किं तु शब्दजन्य-प्रतीतिविषयत्वं तेन वृत्यविषयस्याप्यन्वयस्य शाब्दत्वोपपत्तिरित्याहुः।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६३, पङ्क्ति ५ से ८

२. लक्षणा शाक्यसम्बन्धः - - - - - - -।
न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली पृ० ३१९ पङ्क्ति ३

से तीर अर्थ की लक्षणा होती है। लेकिन **'घटम् आनय'** इत्यादि-वाक्यों में संसर्ग रूप वाक्यार्थ के बोधन की लक्षणा रूप वृत्ति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि शक्ति मात्र पदों में ही रहने से तथा वाक्य में वाक्यार्थ की शक्ति स्वीकार्य न होने के कारण शक्ति के अभाव में वाक्यार्थ जब शक्य ही नहीं हो पाएँगे, तब ऐसी स्थिति में वाक्यों में शक्य-सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ-बोधन की लक्षणा रूप वृत्ति भी कैसे रह सकती है?

पूर्वपक्षी नैयायिकों के द्वारा उपस्थापित इस आशङ्का का समाधान करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि वाक्यार्थ में शक्य-सम्बन्ध न होने से लक्षणा-वृत्ति नहीं हो सकती ऐसा जो नैयायिकों का कथन है वह सर्वथा अनुचित है। कारण यह है कि लक्षणा शक्य-सम्बन्ध रूप होती ही नहीं है। बोध्य-सम्बन्ध रूप में ही लक्षणा का स्वीकार किया गया है। अतएव वाक्यों से बोध्य गाम् आनयन आदि के साथ कर्मत्वादि संसर्ग का निरूपकत्वादि सम्बन्ध होने से संसर्ग (अन्वय) रूप वाक्यार्थ में बोध्यसम्बन्ध रूप लक्षणा की सङ्गति हो जाती है फलतः इस संसर्ग रूप वाक्यार्थ-बोधन की वाक्य में लक्षणावृत्ति सिद्ध हो जाती है।[१]

७. धर्म प्रमाण-निरूपण

सूत्रकार-कृत धर्म-लक्षण

धर्म का प्रतिपादन ही मीमांसा-दर्शन का चरम लक्ष्य है। इसलिए सूत्रकार जैमिनि ने धर्मजिज्ञासा-विषयक (**'अथाऽतो धर्मजिज्ञासा'**[२] इस) सूत्र के तत्काल अनन्तर **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'**[३] यह धर्म का लक्षण उपस्थापित किया है। इस सूत्र के अनुसार **'चोदनया लक्ष्यते यः सः अर्थरूपः धर्मः'** इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'विधि वाक्यों द्वारा जिसका विधान किया गया हो तथा जो अर्थ (साक्षात् या फल द्वारा अनर्थ से रहित एवं इष्ट साधन) हो– वही धर्म है। यह धर्मस्वरूप निर्धारित होता है।

---

१. सिद्धान्तस्तु वाक्यस्य वाक्यार्थे लक्षणा। न च शक्याभावात् कथं लक्षणेति वाच्यम्। बोध्यसम्बन्धस्यैव लक्षणत्वात्। –भाट्टचिन्तामणि पृ० ६३ पङ्क्ति ९ से १०

२. जैमिनि सूत्र १/१/१।

३. वही, १/१/२।

वार्तिककार ने चोदना-शब्द को 'विधि' का ही पर्यायवाची माना है। इनके मतानुसार चोदना (विधि) द्वारा प्रतिपादित अर्थ ही धर्म है।[१]

वार्तिककार के उपर्युक्त मत के विपरीत भाट्टचिन्तामणिकार ने यद्यपि चोदना-शब्द से विधि-प्रकरण-पठित समस्त वेद को धर्म में प्रमाण माना है तथापि प्रधान रूप से धर्म-प्रमाण के रूप में इन्होंने भी विधि को ही स्वीकार किया है।[२] अन्य वेद-भागों की विधि के साथ एकवाक्यता रहने के कारण इनमें धर्म प्रामाण्य की सङ्गति मानी गई है। इसी प्रकार श्रुतिमूलक होने से स्मृति तथा श्रुति-स्मृति-मूलक होने से शिष्टाचार में भाट्टचिन्तामणिकार ने धर्म-प्रामाण्य को स्वीकार किया है।[३]

भाट्टचिन्तामणिकृत धर्मलक्षण

धर्म के विषय में भाट्टचिन्तामणिकार का अपना मत यह है कि अलौकिक श्रेय-साधन के रूप में विहित क्रिया-याग या विहित (क्रिया, गुण, द्रव्य आदि जो भी) हो, वही धर्म है।[४]

पदकृत्य-प्रदर्शन

उपर्युक्त धर्म-लक्षण का पदकृत्य प्रदर्शित करते हुए सर्वप्रथम 'श्रेय' पद की उपयोगिता स्पष्ट करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि यदि धर्म के लक्षण में 'श्रेय' पद का निवेश न करके केवल अलौकिक-साधन-रूप से विहित क्रिया या अलौकिक श्रेय-साधन-रूप से विहित होना ही धर्म है, इतना ही धर्म का स्वरूप निर्धारित करें, तो कलञ्जभक्षणादि में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। **'न कलञ्जं भक्षयेत्'**[५] इस निषेध-वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता

---

१. 'चोदना चोपदेश्च विधिाश्चैकार्थवाचिनः' इति वार्तिकोक्तेः।
—द्रष्टव्य तन्त्र-सिद्धान्त रत्नावलि, पृ० ३, पङ्क्ति ३

२. तत्रापि प्राधान्येन विधिनिषेधौ। —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ८, पङ्क्ति १८

३. धर्म-प्रमाणानि विध्यर्थवादमन्त्रनामधेयस्मृतिशिष्टाचाररूपणि षट्।"
—भाट्टचिन्तामणि पृ० ११ पङ्क्ति २

४. "वस्तुतस्तु अलौकिकश्रेयः—साधनत्वेन विहितक्रियात्वं अलौकिक श्रेयः-साधनत्वेन विहितत्वं वा धर्मत्वम्।" — भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६, पङ्क्ति ११

५. इसका मूल कहीं निर्दिष्ट नहीं है। शाबर-भाष्य में भी यह 'न कलञ्जं भक्षयितव्यम्' इस रूप में उद्धृत है। —शाबर-भाष्य ६/२/१९।

है कि कलञ्ज-भक्षण अपने से होने वाले अनिष्ट का साधन है। अनिष्ट भी इष्ट के समान अलौकिक होने के कारण, कलञ्ज-भक्षण, इस अनिष्ट का साधन होने से, अलौकिक साधन रूप से विहितत्व की कलञ्ज-भक्षणदि में सङ्गति हो जाने से, अलौकिक-साधन रूप से विहित-क्रियात्व या विहितत्व 'इतना ही धर्म का लक्षण मानने पर इस लक्षण की अधर्मभूत कलञ्जभक्षणादि निषेध्यों में अति-व्याप्ति हो जाती है। इस अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ ही धर्म के लक्षण में श्रेय पद का निवेश किया गया है।[१]

श्रेय पद का लक्षण में निवेश कर दिये जाने पर 'अलौकिक श्रेयसाधन-रूप से विहित-क्रियात्व या विहितत्व रूप धर्म-लक्षण की अब कलञ्जभक्षणादि निषेध्यों में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि निषेध्य यद्यपि अलौकिक-अधर्मरूप अनिष्ट के साधन होने से अलौकिक साधन हैं, तथापि अलौकिक श्रेय इष्ट होने से यागादि ही इस अलौकिक श्रेय-इष्ट के साधन होने के कारण, ये कलञ्ज-भक्षणादि अलौकिक श्रेय के साधन नहीं है अत: इनमें श्रेय-पदघटित उपर्युक्त धर्म-लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

इसी प्रकार यदि धर्म के लक्षण में विहित पद का निवेश न करके 'अलौकिक श्रेय की साधन रूपा क्रिया या अलौकिक श्रेय का साधन रूप' इतना ही धर्म-लक्षण का स्वरूप निर्धारित करें तो इस लक्षण की 'अपूर्व' में अतिव्याप्ति हो जाती है। यद्यपि प्रथम-लक्षण में क्रियात्व भी है जो अपूर्व में नहीं है, लेकिन दूसरे लक्षण में विहित 'पद का निवेश न करने पर मात्र' अलौकिक श्रेय का साधन इतना ही लक्षण का स्वरूप निष्पन्न होता है तथा याग से अपूर्व होने पर ही उससे स्वर्गादि श्रेय की प्राप्ति हुआ करती है अत: अपूर्व अलौकिक श्रेय का साधन होने से उसमें धर्मलक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है। परन्तु अपूर्व विहित नहीं है। अपूर्व का विधान नहीं होता। विधान यागादि क्रिया, द्रव्य, गुणदि का ही होता है। विहित न होने से धर्म के लक्षण में 'विहित' पद का निवेश कर देने पर धर्मलक्षण की अपूर्व में होने वाली इस अतिव्याप्ति का निराकरण हो जाता है।[२]

---

१. 'अनिष्टसाधनकलञ्जभक्षणादौ व्याभिचारवारणाय श्रेय: पदम्।'
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७, पङ्क्ति १४

२. 'अपूर्वे व्यभिचारवारणाय विहितेति।'' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७, पङ्क्ति १४ से १५

धर्म के लक्षण में प्रयुक्त 'विहितत्व' क्या है? इसे स्पष्ट करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि विधि के विषय भावना में अन्वित होना ही विहित होना है। याग-क्रिया, द्रव्य, गुण, आदि का भावना में (करणत्वेन) स्वर्ग-फल के साधन रूप से अन्वय हो जाने से इनकी धर्मरूपता सिद्ध हो जाती है। चूँकि अपूर्व का भावना में किसी भी रूप से अन्वय नहीं होता अतः उसे धर्मरूप नहीं माना जा सकता।[१]

अपूर्व को धर्म मानने वाले प्रभाकर का यह आक्षेप है कि '**धर्मक्षरति कीर्तिनात्**'[२] (अपने धर्म का कथन करने से उसका (क्षरण) नाश हो जाता है।) इस वाक्य से धर्म के नाश का प्रतिपादन हो रहा है, लेकिन यागादि क्रियाओं का उनके अनुष्ठान के तत्काल बाद ही नाश हो जाने के कारण कथन-काल में वे स्वरूपतः विद्यमान ही नहीं रहती अतः कथन द्वारा उनका नाश सम्भव नहीं है, परन्तु अपूर्व, याग नष्ट हो जाने पर भी कथन-काल विद्यमान रहता है इसलिए कथन द्वारा अपूर्व का नाश सम्भव है। यदि अपूर्व को धर्म न मानकर यागादि को ही धर्म मानें तो इस वचन की अनुपपत्ति हो जाती है

इस आक्षेप के निराकरणार्थ भाट्टचिन्तामणिकार का कहना है कि इस वाक्य में धर्म का जो प्रयोग किया गया है, वह वास्तविक नहीं है, अपितु गौण-प्रयोग है। धर्म का वास्तविक तात्पर्य यागादि में ही है।[३]

भाट्टचिन्तामणिकार द्वारा 'अलौकिक श्रेय-साधन-रूप से विहितक्रिया इस प्रथम-लक्षण से याग को धर्म मानने पर पूर्वपक्षी यह आपत्ति उपस्थापित करते हैं कि यदि याग को धर्म माना जाएगा तो श्येन याग को भी धर्म मानना होगा, जो कि वास्तविकता में शत्रुहिंसा का कारण होने से अधर्म है। याग को धर्म मानने पर श्येन याग में धर्म-लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाएगी।[४]

---

१. 'तत्त्वं च विधिविषयभावनान्वयित्वम्। तेन फलसाधनत्वेन विहितक्रियाद्रव्यगुणादीनां धर्मत्वम्।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७ पङ्क्ति १५ से १६

२. कर्मनाशा-जलस्पर्शात्करतोयातिलङ्घनात्। गण्डकीबाहुतरणादिति आदिमं पादत्रयम्। —श्री सूर्यनारायण शुक्ल-कृत टिप्पणी-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७, पङ्क्ति ३० से ३१

३. 'एतेन विहितक्रियाजन्यत्वमपूर्वनिष्ठमेव धर्मत्वमित्यपास्तम्। धर्मः क्षरति कीर्तनादित्यादौ तु लाक्षणिकः प्रयोगः।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७ पङ्क्ति १६ से १८

४. न चैवं श्येने धर्मत्वापत्ति - - - - - । —वही, पृ० ७, पङ्क्ति २२

उपर्युक्त आपत्ति का निराकरण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि धर्म-लक्षण की श्येन याग में सङ्गति होना उन्हें इष्ट है। उनके मतानुसार श्येन याग धर्म ही है। इसे स्पष्ट करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि हिंसा का तात्पर्य प्राण-वियोग है और वह प्राणवियोग रूप हिंसा श्येनयाग का फल है। याग स्वयं हिंसा रूप नहीं है। अभिप्राय यह है कि श्येन याग का अनुष्ठान करने पर फलस्वरूप शत्रु-प्राणवियोग रूप हिंसा होती है, लेकिन यह हिंसा श्येन याग में नहीं है। यह तो उसके फल में है। इसलिए **'न हिंस्यात् सर्वाभूतानि'** इस निषेध की श्येन-याग में प्रवृत्ति न होने से श्येन याग निषेध्य नहीं है। साथ ही **'श्येनेनाभिचरन् यजेत्'**[१] इस वेद वाक्य से वह प्राप्त भी है। अतः वह धर्म है।[२] इसके अतिरिक्त "श्येन याग का फल भले ही हिंसा हो लेकिन वह स्वयं हिंसा रूप न होने से अपने से होने वाली हिंसा से असि (कटार) जिस प्रकार स्वरूपतः पृथक् होती है, वैसे ही पृथक् है।" इस वचन से भी श्येन याग की धर्मरूपता सिद्ध हो जाती है।[३]

इस प्रकार उपर्युक्त लक्षण के अनुसार अलौकिक श्रेय के साधन-रूप में विहित क्रिया या विहित-रूप में धर्म के स्वरूप का निर्धारण होने पर यह आशङ्का उपस्थित होती है कि गङ्गास्नानादि क्रियाएं अलौकिक-श्रेय की साधन होने से धर्म हैं, लेकिन स्वप्नावस्था में की जा रही गङ्गास्नानदि-क्रियाएं मिथ्या होने से उनमें धर्मत्व की उपपत्ति कैसे हो सकेगी?

इस आशङ्का का समाधान करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि स्वप्नावस्था में की जाने वाली गङ्गा स्नानादि क्रियाएं यद्यपि मिथ्या हैं, तथापि ये क्रियाएं श्रेय की साधन होने से धर्मरूप ही हैं।

'स्वप्नावस्था में किए गए कर्मों का फल जाग्रद्-अवस्था में भले ही उपलब्ध न हो तो भी वह स्वप्नावस्था में इष्टदेव-साक्षात्कार तथा सुखोपभोगरूप स्वप्न के रूप में प्राप्त हुआ करता है।

३. षड्विंश ब्राह्मण ३/८।

४. - - - - - - - - इष्टत्वात्। प्राणवियोगरूप हिंसायाः श्येन-फलत्वेन श्येने हिंसात्वाभावान्निषेधाप्रवृत्तेरधर्मत्वायोगात्।

५. हिंसा हि फलमेतेषां भिन्ना तेभ्यः स्वरूपतः।
सा हि प्राणवियोगात्मा श्येनस्तत्रासिवत्पृथक्।।
—श्लोकवार्त्तिक, चोदना सूत्र, श्लोक संख्या २०५

इसके अतिरिक्त स्वप्न में किए गए अच्छे या बुरे कर्मों का अच्छा या बुरा संस्कार जाग्रद अवस्था में भी विद्यमान रहता है, जो पुनः अपने अनुरूप कर्मों में प्रवृत्त कराता है। इस प्रकार उक्त स्मृतिवाक्य से भी याग तथा अन्य गङ्गास्नादि विहित क्रियाओं में धर्मरूपता सिद्ध हो जाती है।[१]

धर्म-प्रमाण-परीक्षा

अलौकिक श्रेय-साधन रूप से विहित क्रिया-यागदि रूप धर्म के यथार्थ ज्ञान के ज्ञापक-प्रमाण वेद तथा तन्मूलक स्मृति एवं शिष्टाचार हैं।[२] इनमें भी साक्षात् रूप से वेद ही धर्म में प्रमाण है। प्रत्यक्षादि सभी प्रमाण लौकिक-प्रमा के बोधक होने से वेद को छोड़कर अन्य किसी भी प्रमाण से धर्म का ज्ञान सम्भव नहीं है। वेदातिरिक्त उपर्युक्त लौकिक-प्रमाण धर्म के बोधक किस तरह नहीं हो पाते, इस तथ्य के स्पष्टीकरणार्थ भाट्टचिन्तामणिकार ने **'तस्य निमित्त-परिष्टिः'**[३] (धर्म के निमित्त-प्रमाण की परीक्षा करनी चाहिए) इस जैमिनी सूत्र की उपस्थापना कर इन लौकिक प्रमाणों के परीक्षणार्थ इनकी क्रमशः उपस्थापना भी की है।[४]

प्रत्यक्षादि-प्रमाणों की धर्म में अप्रामाणिकता

प्रत्यक्ष-प्रमाण धर्म में किस प्रकार प्रमाण नहीं बन पाता, इस तथ्य को प्रदर्शित करने हेतु भाट्टचिन्तामणिकार ने **'सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्'**[५] इस जैमिनि-कृत प्रत्यक्ष-

---

१. 'इदप्यवधेयम्। स्वप्नकृत-गङ्गास्नानादीनां मिथ्यात्वेपि श्रेयः-साधनतया धर्मत्वम्।
यस्यां यस्यामवस्थायां यद्यत्कर्म करोति यः।
तस्यान्तस्यामवस्थायां तत्तत्फलमुपाश्नुते।।'
इति वचनात्। अतः क्रियादीनां धर्मस्वरूपत्वम्।
–भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ८, पङ्क्ति १३ से १७

२. धर्मप्रमाणानि विध्यर्थवादमन्त्रनामधेयस्मृतिशिष्टाचाररूपाणि षट्।
–भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ११, पङ्क्ति २१

३. जैमिनि सूत्र १/१/३।

४. धर्मे वेदः प्रमाणमित्युक्तं, तत्सम्भवति नवेति परीक्षा, प्रत्यक्षादीनां धर्मप्रामाण्यासम्भव-निरूपण-द्वारा क्रियत इत्यर्थः। –भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ९, पङ्क्ति ३१ से ३२

५. जैमिनि सूत्र, १/१/४

सूत्र को स्वकीय ग्रन्थ में उपस्थापित किया है। इस सूत्र के अनुसार 'प्रत्यक्ष-ज्ञान उसे कहते हैं जो पुरुष को, उसकी इन्द्रियों का बाह्य पदार्थों से संयोग होने पर उत्पन्न होता है। यह प्रत्यक्ष-ज्ञान विद्यमान पदार्थों का केवल इन्द्रिय-संयोग होने पर ही प्रापक होता है। यह (अतीन्द्रिय) धर्म में प्रमाण नहीं है। चूँकि भाट्टचिन्तामणिकार ने 'अलौकिक श्रेय-साधन-रूप से, विहित क्रिया'[१] इस लक्षण के अनुसार याग-क्रिया को धर्म माना है तथा क्रिया का संयुक्त-समवाय (संयुक्त तादात्म्य) सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष भी इन्हें मान्य है[२] अतः याग-रूप धर्म, क्रिया-स्वरूप होने से इसका प्रत्यक्ष-प्रमाण से ज्ञान हो जाएगा, ऐसी यदि आशङ्का उपस्थित की जाए तो यह समीचीन नहीं होगी, क्योंकि यद्यपि याग-क्रिया, क्रिया होने से प्रत्यक्ष-गम्य है, तथापि अलौकिक श्रेय, स्वर्गादि के साधन-रूप से विहित उस याग क्रिया का प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान सम्भव नहीं है। इस प्रकार प्रत्यक्ष धर्म में प्रमाण नहीं हो सकता।

प्रत्यक्ष के समान अनुमान भी धर्म में प्रमाण नहीं हो सकता। कारण यह है कि अनुमान-प्रमाण द्वारा व्याप्य में व्यापक की व्याप्ति का निश्चय हो जाने के उपरान्त व्याप्य का दर्शन होने पर ही व्यापक की अनुमिति हुआ करती है। परन्तु धर्म का कोई व्याप्य ही नहीं है, जिसके साथ उसकी व्याप्ति का निश्चय हो सके। अतः अनुमान-प्रमाण से धर्म का ज्ञान सम्भव नहीं है।[३]

इसी प्रकार उपमान तथा अर्थापत्ति-प्रमाण से भी किसी ज्ञात अर्थ के आधार पर ही अर्थान्तर की प्रतीति हुआ करती है। गवय-पिण्ड में गो-सादृश्य का ज्ञान हो जाने पर इस ज्ञात गोसादृश्य के आधार पर ही

---

१. वस्तुतस्तु अलौकिकश्रेयः-साधनत्वेन विहितक्रियात्वं - - - - - - - -।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६, पङ्क्ति ११

२. 'सन्निकर्षश्च संयोगः, संयुक्त समवायः संयुक्त-समवेत-समवायश्चेति। द्रव्यं संयोगेन, तद्गत-गुणकर्म-जातयो द्वितीयेन - - - - - - - -'।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० १६, पङ्क्ति १० से ११

३. 'तदिदमनुमानं न धर्मप्रमितिजनकं व्याप्याभावेन व्याप्त्यग्रहादिति।'

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३२, पङ्क्ति ३०

'इस गवय (नील गाय) के सदृश मेरी गाय है' ऐसे गोनिष्ठगवय-सादृश्य का उपमान द्वारा ज्ञान होता है।[१] इसी प्रकार 'दिन में न खाने वाले देवदत्त के (पीनत्व) मोटापे का ज्ञान हो जाने पर बिना रात्रि-भोजन के यह पीनत्व अनुपपन्न हो जाने के कारण, इस ज्ञात पीनत्व के आधार पर ही इसके उपपादक अर्थान्तर-रात्रिभोजन की अर्थापत्ति-प्रमाण द्वारा प्रतीति होती है।[२] इनके द्वारा भी सर्वथा अज्ञात धर्म का ज्ञान सम्भव नहीं है। अनुपलब्धि-प्रमाण से केवल अभाव का ही ग्रहण होने से[३] भावरूप धर्म का ज्ञान इसके द्वारा भी सम्भव नहीं है। उपर्युक्त छहों प्रमाणों में केवल शब्द-प्रमाण ही अब अवशिष्ट रहता है। इसके भी लौकिक शब्द तथा वेदरूप अलौकिक शब्द ये दो भेद है। इनमें लौकिक शब्द पुरुष द्वारा उच्चरित होने से संशयादि की इनमें सम्भावना विद्यमान रहने से इनमें भी धर्म-प्रामाण्य सम्भव नहीं है।

वेद तथा वेदमूलक स्मृति एंव शिष्टाचार के धर्म-प्रामाण्य की सिद्धि

उपर्युक्त सभी प्रत्यक्षादि एवं लौकिक शब्द-प्रमाणों में धर्म-प्रामाण्य असम्भव होने के कारण परिशेषतः अपौरुषेय, अलौकिक शब्द-वेद में धर्म-प्रामाण्य की सिद्धि हो जाती है।

वेद विधि, मन्त्र, नामधेय, अर्थवाद तथा निषेध, इन पाँच भागों में विभक्त है। यद्यपि ये सभी प्रकारान्तर से धर्म तथा अधर्म के बोधक हैं, तथापि इन पाँचों वेद भागों में प्रधान रूप से विधि तथा निषेध-वाक्य ही क्रमशः धर्म तथा अधर्म के बोधक होते हैं।[४] **'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः'**[५] इस विधि-वाक्य से

---

१. 'उपमानं पूर्वदृष्टेऽर्थे स्मर्यमाणे दृश्यमानार्थ-सादृश्यज्ञानम्। दृश्यमान-गवयनिरूपित-सादृश्य-प्रकारक गोविशेष्यकप्रमा उपमितिः।'
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४५, पङ्क्ति १८ से १९

२. 'अर्थापत्तिः प्रत्यक्षेण शब्देन वा प्रमितस्यार्थस्योपपादकार्थान्तरकल्पनम्। यथा देवदत्तनिष्ठं दिने भोजनाभावः पीनत्वं च प्रत्यक्ष-दृष्टं स्वोपपादकं रात्रिभोजनं कल्पयति।'
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४६, पङ्क्ति ६ से ८

३. 'एवमनुपलब्धिरभावग्राहकं मानान्तरम्।' -भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४६, पङ्क्ति २०

४. एतत्प्रमितिकरणं वेदः। तत्रापि प्राधान्येन विधिनिषेधौ।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ८, पङ्क्ति १८

५. शतपथ ब्राह्मण २/६/४/१७।

स्वर्गरूप अलौकिक इष्ट का साधन होने से दर्शपूर्णमास-याग धर्म है, यह बोध तत्काल हो जाता है। इसी प्रकार **'न कलञ्जं भक्षयेत्'**[१] इत्यादि निषेध-वाक्यों से जिनका निषेध किया गया है, वे अनिष्ट-नर्क के साधन होने से अधर्म हैं, यह बोध भी तत्काल हो जाता है। अन्य वेदभागों में विधि तथा निषेध के द्वारा ही धर्म तथा अधर्म की बोधकता होती है। धर्माऽधर्म के बोध में इनकी प्रधानता नहीं है। इसलिए यह सिद्ध हो जाता है कि धर्म का प्रधान बोधक विधि तथा अधर्म का प्रधान बोधक निषेध है। निषेध वाक्य अधर्म के बोधक होने से धर्म-बोधक वेद-भाग विधि, अर्थवाद, मन्त्र तथा नामधेय, ये चार हैं। इनके अतिरिक्त वेद के अनुकूल होने से स्मृति वाक्य तथा वेद एवं स्मृति के अनुकूल आचरणकर्त्ता-शिष्टों के आचार (शिष्टाचार) को भी धर्मबोधक प्रमाण माना गया है। उपर्युक्त विवेचनानुसार विधि, अर्थवाद, मन्त्र, नामधेय, स्मृति तथा शिष्टाचार, इन छहों प्रमाणों की धर्म-प्रमाण के रूप में सिद्धि हो जाती है। भाट्टचिन्तामणिकार ने इन छहों धर्म-प्रमाणों का निम्नलिखित रूप से क्रमशः विवेचन किया है।

(१) विधि

साक्षात् रूप से धर्म के बोधक वेदभाग को विधि कहते हैं। लिङ्, लेट्, लोट् तथा तव्य आदि प्रत्ययों से इसके अर्थ का अभिधान होता है। नैयायिकों ने इष्टसाधनत्व, कृतिसाध्यत्व तथा बलवदनिष्टाननुबन्धित्व, इन तीनों को विध्यर्थ माना है। उनके मतानुसार इन तीनों अर्थों का विधि-द्वारा एक साथ बोध होने के कारण ही पुरुष की विधेय (यागादि) धर्म में प्रवृत्ति होती है।[२]

नैयायिकों के इस सिद्धान्त के विपरीत मीमांसकों का कहना है कि उपर्युक्त तीनों अर्थों की आक्षेप (लक्षणा) द्वारा उपस्थिति हो जाने से तथा

---

१. इसका मूल कहीं निर्दिष्ट नहीं है। शाबर-भाष्य में भी यह 'न कलञ्जं भक्षयितव्यम्' इस रूप में उद्धृत है। -शाबर-भाष्य ६/२/१९

२. 'नैयायिकास्तु इष्टसाधनत्वकृतिसाध्यत्वबलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानानामन्यतमाभावे चिकीर्षाऽजननात्सर्वेषां तज्जनकत्वमविवादम्। एवञ्च प्रवृत्ति-जनक-लिङ्गादीनां विनिगमना-विरहेण त्रितयेऽपि शक्तिः।'

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६७, पङ्क्ति २२ से २५

अनन्य लभ्य (अन्य किसी प्रकार से प्राप्त न होना) ही शब्दार्थ होने के कारण[१] आक्षेप द्वारा लभ्य इन तीनों को शब्दरूप विधि का अर्थ मानना सम्भव नहीं है। फलतः विधि (लिङ्) की शक्ति प्रवर्त्तना में होने से प्रवर्त्तना ही इनके मतानुसार विध्यर्थ' (लिङर्थ) है।[२]

उपर्युक्त तीनों अर्थों की आक्षेप (लक्षणा) द्वारा उपस्थिति कैसे होती है? इसे स्पष्ट करते हुए मीमांसक कहते हैं कि **'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः'**[३] इत्यादि विधि वाक्य यागादिकों का विधान करते हुए स्वविषयी-भूत यागादि धर्म में पुरुष को प्रवृत्त कराते हैं, परन्तु जब तक पुरुष को उसके प्रवृत्ति के विषय यागादि में इष्टसाधनता का ज्ञान नहीं होता, तब तक उसकी यागादि में प्रवृत्ति नहीं हो पाती तथा यागादि में यदि किसी की प्रवृत्ति ही न हो, तो ऐसी स्थिति में विधि में विद्यमान जो प्रवर्त्तना-शक्ति है, उसकी अनुपपत्ति होने लगती है। इस अनुपपत्ति के निवारणार्थ विधि स्वयं अपने द्वारा ही विधेय, 'यागादि में इष्टसाधनता का आक्षेप कर देती है। इसके अतिरिक्त चूँकि 'विधि' सबके लिए आप्ततम है, अतः इसके द्वारा ऐसे किसी कार्य का विधान हो ही नहीं सकता, जो अनर्थ-हेतुभूत हो तथा किसी की शक्ति से बाहर हो।' इस प्रकार विधि की इस शक्ति से ही बलवदनिष्टाननुबन्धित्व एवं कृतिसाध्यत्व की भी आक्षेप द्वारा प्राप्ति हो जाती है। इन तीनों की आक्षेप द्वारा प्राप्ति हो जाने से इन्हें (लिङर्थ) विध्यर्थ मानना समीचीन नहीं है।[४]

इस प्रकार विधिलिङ्, लेट्, लोट् तव्य आदि प्रत्ययों से अनधिगत अज्ञात यागादिरूप धर्म का विधान करती हुई अपने विधेय यागादि धर्म के आचरणार्थ पुरुष में प्रवर्त्तनाज्ञान उत्पन्न कर विधेयानुष्ठान में उसे प्रवृत्त करती है। इस अलौकिक श्रेयसाधन यागादि धर्म का सर्वप्रथम विधि के द्वारा ही बोध होने के कारण इसके धर्म-प्रामाण्य की सिद्धि हो जाती है।

---

१. 'अनन्यलभयशब्दार्थः' —तन्त्र-सिद्धान्त रत्नावलि, पृ० ५, पङ्क्ति ६ से ७
२. 'मीमांसकास्तु विधेः प्रवर्त्तनायां शक्तिः' -भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९, पङ्क्ति १
(इस विषय का द्वितीय खण्ड शब्दार्थ-विचार में आख्यातार्थ-विचारान्तर्गत लिङ्र्थ-निरूपण से विशद विवेचन किया गया है। —द्रष्टव्य पृ० २०६-२२०
३. शतपथ ब्राह्मण २/६/४/१७
४. द्रष्टव्य-तन्त्रसिद्धान्त-रत्नावलि, विधि-निरूपण, पृ० ५, पङ्क्ति ८ से ९।

विधि-भेद-निरूपण

उपर्युक्त धर्म-प्रमाण विधि के अपूर्व-विधि, नियमविधि तथा परिसंख्याविधि, ये तीन भेद माने गए हैं।[१] तन्त्रवार्त्तिककार के अनुसार उपर्युक्त तीनों विधियों में अत्यन्त अप्राप्त अर्थ की प्रापक-विधि, अपूर्व-विधि, पक्ष में अप्राप्त की प्रापक विधि, नियमविधि तथा उभय प्राप्ति होने पर एक की निवृत्तिबोधक विधि परिसंख्याविधि कही जाती है।[२]

अपूर्व-विधि

इस तंत्रवार्त्तिकार की उक्ति का अर्थ स्पष्ट करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि उपर्युक्त तीनों विधियों में अत्यन्त अप्राप्त विषय की प्रापक विधि अपूर्व विधि है। जैसे **'व्रीहीन्प्रोक्षति'**[३] यह विधि अत्यन्त अप्राप्त प्रोक्षण की प्रापक होने से अपूर्व विधि है।[४]

नियम-विधि

पक्ष-प्राप्ति में अप्राप्त अंश का पूरण जिसका फल है, अर्थात् विकल्प से प्राप्त होने वाली उभय-पदार्थों में से एक की अप्राप्ति दशा में उसी की प्राप्ति का जिस विधि-द्वारा नियम किया जाता है, उसे नियम-विधि कहते हैं। जैसे **'व्रीहीन्वहन्ति'**[५] यहाँ पर जो व्रीही है, वह पुरोडाश के माध्यम से याग का साधन बनती है। पुरोडाश द्वारा याग के साधन व्रीहि की निष्पत्ति के लिए उसमें तुष-विमोचन के लिए साधन रूप में अवघात तथा नख-विदलन दोनों साधनों में एक पक्ष में अवघात प्राप्त होता है, लेकिन विकल्प से जब तुषविमोचनार्थ नखविदलन की प्राप्ति होने लगती है, उस समय **'व्रीहीन्वहन्ति'** इस नियमविधि से पक्ष में अप्राप्त अवघात की नियमतः प्राप्ति हो जाती है। इसलिए पक्ष में अवघात की प्राप्ति होने पर कोई समस्या ही नहीं रहती, एवं दूसरे पक्ष में जब

---

१. 'अथ विधिर्भेदः। तत्र विधिस्त्रिविधः। अपूर्वविधिर्नियमविधिः परिसंख्याविधिश्च।' –भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७१, पङ्क्ति ६ से ७

२. विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चाऽन्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते।। – तंत्रवार्त्तिक १/२/४। पृ० १५२
उद्धृत –भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७१, पङ्क्ति ८ से ९

३. आपस्तम्बश्रौतसूत्र १/१९/१

४. 'अत्यन्ताप्राप्तविषयप्रापको विधिरपूर्वविधिः। यथा व्रीहीन्प्रोक्षति। अत्र प्रोक्षण-मत्यन्ताप्राप्तम्। –भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७१, पङ्क्ति १० से ११

५. आपस्तम्ब श्रौत सूत्र १/१९/११

नख-विदलन की प्राप्ति होने लगती है, उस समय '**व्रीहिन्वहन्ति**'[१] इस नियमविधि से अप्राप्त अवघात की प्राप्ति हो जाती है। इसलिए '**अप्राप्तांश प्रापको विधिः**' इस विधि-सामान्य-लक्षण की भी नियमविधि में सङ्गति हो जाती है।[१]

परिसंख्या-विधि

परिसंख्या विधि का अर्थ स्पष्ट करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि एक प्रधान में दो अङ्गों की नियत रूप से प्राप्ति होने पर या एक अङ्ग के साथ दो प्रधानों (अङ्गियों) का सम्बन्ध नियत रूप से प्राप्त होने पर दोनों (उभय अङ्गों या प्रधानों) में से एक की निवृत्ति होना ही जिसका फल है, वही परिसंख्या विधि है। जैसे-ग्रहमेधी इष्टि[२] दर्शपूर्णमास-प्रकृति याग की विकृति होने से '**प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या**' इस अतिदेश वाक्य से दर्शपूर्णमास याग के अङ्ग आज्यभागयाग तथा अन्य अङ्गों की भी ग्रहमेधी इष्टि में प्राप्ति होने पर '**आज्यभागौ यजति**'[२] इस परिसंख्याविधि से ग्रहमेधी इष्टि में प्राप्त आज्यभाग तथा तदितर अङ्गों में से आज्यभाग को छोड़कर अन्य अङ्गों की निवृत्ति हो जाती है।

यहाँ पर एक ग्रहमेधी इष्टिरूप प्रधान में आज्यभाग तथा तदितर अङ्गों की प्राप्ति होने पर एक आज्यभाग रूप अङ्ग को छोड़कर अन्य अङ्गों की निवृत्ति हो जाती है। अतः '**आज्यभागौ यजति**'[३] यह वाक्य एक प्रधान के साथ एकाधिक अङ्गों की प्राप्ति होने पर एक से अन्य समस्त अङ्गों की निवृत्तिरूप परिसंख्या-विधि का उदाहरण है।[४]

---

१. 'पक्षे प्राप्तस्याप्राप्तांशपूरणफलो विधिर्नियमविधिः। यथा व्रीहीन-वहन्तीति व्रीहीणां पुरोडाशद्वारा यागसाधनत्वस्य तुषविमोकसाधनीभूतावघातनखविदलनान्यत-राक्षेपकतया-वघातस्य पक्षप्राप्तत्वात्।' -भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७१, पङ्क्ति १२ से १४

२. चातुर्मास्य याग के तीसरे साकमेध पर्व में 'मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यस्सर्वासां दुग्धे सायमोदनम्।' उद्धृत मी० न्या० प्र० पृ० ९७ श्रीलाल-बहादुर-शास्त्रि-केन्द्रिय विद्यापीठ, नई दिल्ली १९८३.

३. मैत्रायणी संहिता १/१०/१५।

४. 'एकोस्मिन्प्रधाने नियतप्राप्तस्याङ्गद्वयस्यैकस्मिन्नङ्गे नियतप्राप्तस्य प्रधानद्वय-सम्बन्धस्य वाऽन्यतरनिवृत्तिफलको विधिः परिसंख्याविधिः। यथा गृहमेधीये आज्यभागौ यजतीति। -भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७१, पङ्क्ति १५ से १७

'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादते'[२] यह एक अङ्ग के साथ दो प्रधानों का सम्बन्ध प्राप्त होने पर एक प्रधान की निवृत्ति कराने वाली परिसंख्या-विधि का उदाहरण है।

अपूर्व-विधि-भेद-निरूपण

उक्त विवेचित अपूर्वविधि के उत्पत्ति-विधि, विनियोग-विधि, अधिकार-विधि एवं प्रयोग विधि- ये चार भेद हैं।[३]

१. उत्पत्ति-विधि

कर्म (याग) के स्वरूप का बोध कराने वाली विधि उत्पत्ति-विधि है। जैसे **'अग्नि-होत्रं जुहोति'**[४] यह विधि अग्निहोत्र के स्वरूप की बोधक होने से उत्पत्ति-विधि है।[५]

२. विनियोग-विधि

अङ्गता की बोधक विधि विनियोग-विधि है। जैसे **'दध्ना जुहोति'** यहाँ होम के प्रति दधि की अङ्गता की बोधक होने से यह विधि विनियोग-विधि है।[६]

३. अधिकार-विधि

'फल के साथ यागकर्त्ता के सम्बन्ध की बोधक विधि अधिकारविधि है। जैसे **'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः**[७]**'** यहाँ पर स्वर्गकाम नियोज्य का फल-स्वर्ग के साथ सम्बन्ध की बोधक होने से यह विधि अधिकारविधि है।[८]

---

१. तैत्तरीय संहिता ५/१/२।

२. 'तत्रापूर्वविधिरुत्पत्तिविधिर्विनियोगविध्यधिकारविधि-प्रयोगविधि-भेदेन चतुर्धा।'
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७५, पङ्क्ति १४ से १५

३. तैत्तिरीय संहिता १/५/९/१/१८।

४. 'कर्मस्वरूप-बोधको विधिरुत्पत्तिविधिः। यथाग्निहोत्रं जुहोति इति।'
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७५, पङ्क्ति १६

५. 'अङ्गताबोधको विधिर्विनियोग-विधिः। यथा दध्ना जुहोतीति।'
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७५, पङ्क्ति १७

६. मैत्रायणि उपनिषद् ६/३६।

७. 'फलसम्बंधबोधको विधिरधिकारविधिः, यथाऽग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इति।'
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७५, पङ्क्ति १८ से १९

४. प्रयोग-विधि

'साङ्ग (अङ्ग-सहित प्रधान के) अनुष्ठान की बोधक विधि प्रयोगविधि है। यह प्रयोग-विधि नित्यरूप से कल्प्य है तथा अपने से भिन्न उत्पत्ति-विधि एवं विनियोग-विधि की उपजीवक (कार्य) है।

यदि पूर्वपक्षी प्रयोगविधि के कल्पना की क्या आवश्यकता है? ऐसा कहें तो इस पर यही कहना होगा कि यदि प्रयोग विधि की कल्पना नहीं करेंगे तो समानदेश, समानकाल तथा समानकर्त्ता का किसी अन्य से लाभ (ग्रहण) नहीं होगा। इसलिए इनके लाभार्थ प्रयोगविधि की कल्पना नितान्त आवश्यक है।[१]

कुछ दूसरे आचार्यों का कहना है कि अङ्ग-विधि तथा प्रधान-विधि के एकवाक्यता की बोधक विधि ही प्रयोगविधि है।[२]

प्रस्तुत विवेचन का उपसंहार करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि नियमविधि तथा परिसंख्याविधि प्रायः विनियोग विधि के ही प्रकार हैं।[३]

विषयभेद से अपूर्व-विधि के अष्ट भेदों का निरूपण

उपर्युक्त उत्पत्तिविधि, विनियोगविधि, अधिकारविधि तथा प्रयोगविधि जिसके भेद हैं, वह अपूर्व-विधि भी विधियों के विषय-भेद से आठ प्रकार की है।

(१) शुद्ध धात्वर्थ-विधि

'अग्निहोत्रं जुहोति'[४] यहाँ पर मात्र धात्वर्थ अग्निहोत्र-याग का ही विधान होने से यह शुद्ध धात्वर्थविधि है।

---

१. 'स्वाङ्गानुष्ठानबोधको विधिः प्रयोगविधिः। स च नित्यं कल्प्यो भिन्न-उत्पत्तिविनियोगविध्युपजीवकश्च। न च किमर्थं तत्कल्पनामिति वाच्यम्। समानदेशकालकर्तृताया अन्येनालाभात्। तल्लाभाय तस्यावश्यकत्वात्।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ७५, पङ्क्ति २० से २३

२. 'अङ्ग-प्रधान-विध्येकवाक्यताबोध एव प्रयोगविधिरित्यन्ये।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ७५, पङ्क्ति २३ से २४

३. नियमपरिसङ्ख्याविधिः प्रायेण विनियोगविषयावेवेति दिक्।
—वही, पृ॰ ७५ पङ्क्ति २४

४. तैत्तिरीय संहिता १/५/९/१/१८

(२) अन्य के उद्देश्य से धात्वर्थ-विधि

'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः'[१] यहाँ पर अन्य (स्वर्ग) के उद्देश्य से धात्वर्थ (याग) का विधान होने से यह अन्य के उद्देश्य से धात्वर्थविधायक अपूर्व-विधि है।

(३) विशिष्ट धात्वर्थ-विधि

'सोमेन यजेत[२]**'** यहाँ पर सोमविशिष्ट-धात्वर्थ याग' का विधान होने से यह विशिष्ट धात्वर्थ-विधि-रूप अपूर्व-विधि है।

(४) अन्य के उद्देश्य से विशिष्ट धात्वर्थ-विधि

'दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि'[३] यहाँ पर अन्य-ग्रह को उद्देश्य करके दशापवित्र-विशिष्ट सम्मार्जन का विधान होने से यह अन्य के उद्देश्य से विशिष्ट धात्वर्थ विधि रूप अपूर्व-विधि है।

(५) धात्वर्थ के उद्देश्य से अन्यविधि

धात्वर्थ को उद्देश्य करके अन्य-अङ्ग की विधायक विधि यह अपूर्व-विधि का पाँचवा प्रकार है। जैसे कि **'दध्ना जुहोति'**[४] यहाँ पर धात्वर्थ-याग को उद्देश्य करके अन्य-दधिरूप गुण का विधान किया गया है।

(६) धात्वर्थ के उद्देश्य से विशिष्ट अन्य विधि

धात्वर्थ को उद्देश्य करके विशिष्ट अन्य की विधायक विधि यह अपूर्वविधि का छठवाँ प्रकार है। जैसे **'य इष्टया पशुना सोमेन वा यजेत सोऽमावास्यायां वा'**[५] यहाँ पर याग को उद्देश्य करके पौर्णमासी तथा अमावस्या से विशिष्ट अन्य-विकल्प का विधान है या धात्वर्थ-याग को उद्देश्य करके विकल्प से विशिष्ट पौर्णमासी तथा अमावस्या का विधान है, ऐसा भी माना जा सकता है। दोनों ही स्थितियों में इस वाक्य में धात्वर्थ के उद्देश्य से विशिष्टान्य-विधित्व की सङ्गति हो जाती है।

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण २/१, मैत्रायणि उपनिषद् ६/३६
२. तैत्तिरीय संहिता ३/२/२
३. मीमांसा-न्याय-प्रकाश, पृ० १४०। –भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७५, पङ्क्ति ३१
४. भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७५ पङ्क्ति ३१
५. मीमांसा-न्याय-प्रकाश, पृ० ८४

(७) धात्वर्थ के उद्देश्य से अन्य के सम्बन्ध की विधि

धात्वर्थ को उद्देश्य करके किन्हीं दो के सम्बन्ध का विधान करने वाली यह विधि अपूर्वविधि का सप्तम प्रकार है। जैसे **'प्रकाशाध्वर्यवे ददाति'**[१] यहाँ पर प्रकृत धात्वर्थ दान के उद्देश्य से प्रकाश तथा अध्वर्यु, इनके सम्बन्ध का विधान किया गया है। यह धात्वर्थोद्देश्य से अन्य के सम्बन्ध की विधायक-विधि है।

(८) धात्वर्थ को छोड़कर अन्य के सम्बन्ध की विधि

धात्वर्थ को छोड़कर किन्हीं दो के सम्बन्ध की विधायक विधि, अपूर्व, का अष्टम प्रकार है। जैसे **'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुस्यात्'**[२] यह

(२) अर्थवाद

यद्यपि विधि द्वारा यागादि-धर्म का विधान हो जाता है, तथापि यजमान को जब तक विधेय-याग के प्राशस्त्य का बोध नहीं होता तब तक उसकी विधेय अर्थ के अनुष्ठान में प्रवृत्ति नहीं हो पाती। इसलिए ये अर्थवाद वाक विधेय अर्थ की स्तुति करके यजमान को यागादि विधेय रूप धर्म में प्रवृत्त कर. हैं। इस रूप में ये धर्मप्रमाण हैं। उदाहरणार्थ- **'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः'**[३] (ऐश्वर्य चाहने वाला वायव्य याग करे) इस विधि, वाक्य से वायव्य-याग का विधान होने पर **'वायुर्वेक्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति, स एवेनं भूतिं गमयति।'**[४] (वायु शीघ्रगामी देवता है, वही इस (यजमान) को ऐश्वर्य की प्राप्ति कराता है।) यह अर्थवाद वाक्य वायुदेवता की प्रशंसा करते हुए वायुदेवता वाले याग में यजमान को प्रवृत्त करता है। इस प्रकार अर्थवाद वाक्यों में विधि के साथ एकवाक्यता होने के कारण ये भी धर्मबोधक-प्रमाण हैं।

'वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता' इत्यादि अर्थवाद वाक्यों का प्राशस्त्य (प्रशंसा) में लक्षणा के द्वारा विधि वाक्यों के साथ एकवाक्यता रूप से अन्वय हो जाने से इनसे **'यागः प्रशस्तः'** (याग प्रशस्त है या यागभावना प्रशस्त है) ऐसा बोध

१. भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७६, पङ्क्ति १।
२. तैत्तिरीय ब्राह्मण २/१५/६।
३. तैत्तिरीय संहिता २/१/१।
४. वही, २/१/१

होता है। इन अर्थवाद वाक्यों में विशेषण-प्राशस्त्य-अशं में अनधिगतार्थ-गन्तृत्व है तथा यागरूप विशेष्य अंश में धर्म-प्रमा-जनकत्व है। **'वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता'**[1] यहाँ पर शीघ्रगामी होने से जिसका वायुदेवता प्रशस्त है, ऐसा वायुयाग करना चाहिए। इस प्रकार विशेषण-अंश में वायु के शीघ्रगामी होने की प्रशंसा करने वाले इस वाक्य का विशेष्य अंश विधेय-वायुयागरूप धर्म में अभिप्राय होने से यह धर्म-बोधक है।[2]

अर्थवाद-भेद-निरूपण

उपर्युक्त अर्थवाद वाक्यों के गुणवाद, अनुवाद तथा भूतार्थवाद, ये तीन भेद किए गए हैं।[3]

१. गुणवाद-अर्थवाद

जहाँ पर इनके द्वारा अन्य प्रमाण से विरुद्ध अर्थ का बोध होता है, वहां पर इन्हें गुणवाद-अर्थावाद कहा जाता है।[4] जैसे **'स (प्रजापति) आत्मनो वपामुदखिदत् ताग्नौ प्रागृहणात्'**[5] (प्रजापति ने यज्ञ के लिए कोई द्रव्य न मिलने पर अपनी वपा को ही उखाड़कर अग्नि में उसकी आहुति दी। फलतः उससे बिना सीङ्ग का पशु उत्पन्न हुआ) कोई भी अपनी वपा[6] निकाल कर जीवित नहीं रह सकता 'यह तथ्य प्रत्यक्ष-अनुभवसिद्ध है। इस प्रत्यक्ष-सिद्ध तथ्य के विरुद्ध अर्थ का बोधक होने से यह वाक्य गुणवाद है। इस वाक्य से प्रकृत पशुयाग की यह स्तुति की जा रही है कि जिस याग के सम्पादनार्थ

---

१. तैत्तिरीय संहिता, २/१/१।

२. एवमर्थवादानामपीष्टसाधनयागविशेष्यकलक्षित-प्राशस्त्यप्रकारक-प्रमितिजनकत्वेन भावनाविशेष्यक-प्राशस्त्यादि-प्रमितिजनकत्वेन वा प्रकारांशे अनधिगतार्थन्तृत्वं विशेष्यांशे धर्मप्रमाजनकत्वं चोपपादनीयम्।'
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९, पङ्क्ति १५ से १८

३. विरोधे गुणवादस्स्यात् अनुवादोऽवधारिते। भूतार्थवादस्तदभिधानात् अर्थवादस्त्रिघा मतः।। —तन्त्रसिद्धान्त-रत्नावलि, पृ० ९, पङ्क्ति ९ से १०

४. प्रमाणान्तविरुद्धार्थ-बोधकत्वं यत्र स गुणवादः।
—तंत्रसिद्धान्तरत्नावलि, पृ० ९, पङ्क्ति ११

५. तैत्तिरीय संहिता २/१/१/४

६. वपा नाम नाभिसमीपे आमाशयमावृत्य स्थितस्सूक्ष्मवस्त्राकारो मांसविशेषः।
—तंत्रसिद्धान्तरत्नावलि, पृ० ९, पङ्क्ति १७

प्रजापति को अपनी वपा तक की आहुति देनी पड़ी तथा इस पशुयाग के सामर्थ्य से **ही** प्रजापति को प्रजा एवं पशुओं को उत्पन्न करने की शक्ति प्राप्त हुई है अतः यह पशु याग करणीय है। इस प्रकार यह वाक्य प्रत्यक्षविरुद्ध तथ्य का **बोधक** होता हुआ याग की स्तुति कर रहा है।

२. अनुवाद

प्रमाणान्तर से ज्ञात अर्थ के बोधक अर्थवाद वाक्य को अनुवाद कहते हैं।[1] जैसे **'वायुर्वेक्षेपिष्ठा देवता**[2]**'** इस वाक्य में वायु शीघ्रगामी देवता है, यह तथ्य लोकसिद्ध होने के कारण इसके निमित्त वैदिक प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। इस वाक्य से सिद्ध तथ्य का अनुवाद–मात्र हो रहा है।

३. भूतार्थवाद

उपर्युक्त दोनों अर्थवादों से विलक्षण अर्थवाद भूतार्थवाद है।[3] इसके द्वारा इतिहास की तरह भूत अर्थ का अभिधान किया जाता है। जैसे **'इन्द्रो वृत्रमहन्**[4]**'** इत्यादि वाक्यों में होता है।

(३) मन्त्र–निरूपण

१. प्राचीनमत-निरूपण

मन्त्रों के धर्म–प्रामाण्य के विषय में प्राचीन आचार्यों का कहना है कि **'प्रयोगसमवेतार्थस्मारकाः मन्त्राः**[5]**'** मन्त्र के इस लक्षण के अनुसार प्रयोग–यज्ञानुष्ठान में समवेत अग्नि, निर्वाप आदि पदार्थों के मन्त्र स्मारक होने के कारण तथा पूर्व ज्ञात विषयों का ही स्मरण होने से, मन्त्रों में अनधिगत

---

१. प्रमाणान्तराधिगतार्थविषयकं वचनमनुवादः।
— तंत्रसिद्धान्तरत्नावलि, पृ० १०, पङ्क्ति ५

२. तैत्तिरीय संहिता २/१/१

३. पूर्वोक्तोभयाभावो यत्र स भूतार्थवादः।'
–तंत्रसिद्धान्तरत्नावलि, पृ० १०, पङ्क्ति ९

४. तैत्तिरीय संहिता ६/५/९/१

५. अर्थ–सङ्ग्रह, पृ० १२०, पङ्क्ति १

(अज्ञात) अर्थ का ज्ञापकत्व न होने के कारण यद्यपि उनमें अनधिगतार्थ-गन्तृत्वरूप प्रामाण्य नहीं है, तथापि जैसा मन्त्र कहते हैं, वैसी ही उनके अर्थों-अनुष्ठेय-पदार्थों की उपलब्धि होती है, अतः मन्त्र अविसंवादि फल वाले होने से उनमें प्रामाण्य है। यदि मन्त्रों के अभिधानानुसार उनके अर्थों की उपलब्धि नहीं होती तो इसे विसंवादि फलकत्व कहा जाता, लेकिन चूँकि मन्त्रों का ऐसा विसंवादि-फल नहीं है, अपितु अविसंवादि या संवादि फल है, अतः मन्त्रों में इस प्रकार संवादि या अविसंवादि-फलकत्व होने से इनके धर्म-प्रामाण्य की उपपत्ति हो जाती है।[१]

२. सोमेश्वर-मत-निरूपण

सोमेश्वर भट्ट (राणक) का कहना है कि **'अग्नये (त्वा) जुष्टं निर्वपामि'**[२] इस मन्त्र का श्रवण होने पर **'मन्त्रेण निर्वापः कर्त्तव्यः'** (निर्वाप मन्त्र से करना चाहिए) यहाँ 'मन्त्रेण' में तृतीया-विभक्ति से मन्त्र निर्वाप का अङ्ग होने से दोनों में अङ्गाङ्गिभाव है, इस अङ्गताविधि (विनियोग विधि) की कल्पना होती है तथा निर्वाप अपूर्व का जनक होने से इष्ट-साधन है। इसके अतिरिक्त इष्टसाधन निर्वापादि अनुष्ठेय पदार्थ विशेष्य तथा मन्त्र विशेषण, यह बोध **अग्नये (त्वा) जुष्टं निर्वपामि**[३] इस मन्त्र के द्वारा ही होने के कारण **'मन्त्रः इष्टसाधनीभूतनिर्वाप-प्रकाशकः'** (मन्त्र इष्टसाधनीभूत निर्वाप के प्रकाशक हैं तथा इष्टासाधन विशेष्य निर्वाप उसका प्रकाश्य है अतः दोनों में प्रकाश्य, प्रकाशक भाव सम्बन्ध की जो प्रमा उत्पन्न होती है, वह अनधिगत ज्ञान है, क्योंकि जिनका मन्त्र स्मरण करा रहे। वे निर्वापादि-पदार्थ भले ही प्रकारान्तर से ज्ञात हों, लेकिन मन्त्र तथा निर्वाप इन दोनों में प्रकाश्य-प्रकाशक-भाव संसर्गरूप जो प्रमा है वह अज्ञात अनधिगत प्रमा ही है तथा इसके प्रयोजक मन्त्र ही हैं, क्योंकि मन्त्रों के श्रवण से मन्त्र तथा पदार्थों के संसर्ग का ज्ञान होता है। मन्त्रों में अनधिगत संसर्ग का ज्ञापकत्व होने से उनमें अनधिगतार्थन्तृत्वरूप

---

१. एवं मन्त्राणां निर्वापाग्न्यादिस्मारकत्वेनानाधिगतार्थगन्तृत्वरूपप्रामाण्यासम्भवेपि अविसंवादिफलकत्वमेव प्रामाण्यमिति जीर्णाः'।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९, पङ्क्ति १९ से २०

तैत्तिरीय संहिता १/१/४/२

वही १/१/४/२

प्रामाण्य की भी उपपत्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त इनमें अविसंवादि या संवादिफलकत्वरूप-प्रामाण्य भी है। इसलिए दोनों ही प्रमाणों के अनुसार मन्त्रों में धर्म-प्रामाण्य की उपपत्ति हो जाती है।[१]

३. मण्डनमिश्र-मत-निरूपण

मण्डनमिश्र का कहना है कि '**प्रयाजाः कर्तव्याः**' इस प्रकार के प्रयाजादि-मन्त्रों से विशिष्ट प्रयाजादि-यागों से अपूर्व की भावना करनी चाहिए' इस प्रकार प्रयोगविधि के अर्थ-अनुष्ठेय प्रयाजादि-पदार्थों में मन्त्रों का पदार्थों-विधि या उन अनुष्ठेय पदार्थों का बोधकत्व होने से उनमें धर्म-प्रामाण्य है।[२]

भाट्टचिन्तामणिकार-मत-निरूपण

इस विषय में अपना मत प्रस्तुत करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि मन्त्र-वाक्य अपने अर्थ के बोधक होने के कारण स्वार्थबोधजनकत्व रूप से ही उनका प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है। अभिप्राय यह है कि '**येन प्रमीयते**' जिसके द्वारा ज्ञान हो वह प्रमाण है इस परिभाषा के अनुसार मन्त्र-वाक्य अपने अर्थ के बोधक होने से उनमें प्रामाण्य की उपपत्ति हो जाती है।

इसके अतिरिक्त यदि अनधिगतार्थगन्तृत्वरूप ही प्रामाण्य माना जाए तो भी मन्त्रों में प्रामाण्य की उपपत्ति हो जाती है। यद्यपि मन्त्र, पदार्थ के स्मारक होने से तथा पूर्वज्ञात-विषय का ही स्मरण हो सकने के कारण इनमें पदार्थस्मारकत्व रूप से अनधिगतार्थगन्तृत्वरूप प्रामाण्य सम्भव नहीं है, तथापि '**अग्नये जुष्टं निर्वपामि**[३]' इत्यादि मन्त्रों का श्रवण होने पर अग्निदेवता तथा निर्वाप इन दोनों में अग्निदेवता के उद्देश्य से निर्वाप, होने के कारण निर्वाप अङ्ग तथा अग्नि अङ्गी होने से दोनों के अङ्गाङ्गिभावरूप संसर्ग का बोध मन्त्र-श्रवण से होता है। यह संसर्ग अनधिगत है, इसलिए इस अनधिगत-संसर्ग के बोधक मन्त्रों में अनधिगतार्थगन्तृत्वरूप प्रामाण्य की भी उपपत्ति हो जाती है।[४]

---

१. अङ्गताविधिकल्पनद्वारेष्टसाधननिर्वापादि-विशेष्यकमन्त्रप्रकारकप्रकाश्यतादि-संसर्गकप्रमाप्रयोजकत्वेनोभयोपपत्तिरिति सोमेश्वरः।'

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९, पङ्क्ति २१ से २२

२. प्रयाजादिमन्त्रादिविशिष्टेन भावयेदिति प्रयोगविध्यर्थे पदार्थे पदार्थविधया प्रामाण्यमिति मिश्राः।' -भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९, पङ्क्ति २३ से २४

३. तैत्तिरीय संहिता १/१/४/२।

४. 'वस्तुतस्तु मन्त्राणां मन्त्रवाक्यार्थबोधकजनकत्वेनैव प्रामाण्यं निर्वापाग्न्यादिसंसर्गस्यानधिगतत्वेनानाधिगतार्थगृन्तृत्वोपपत्तेः।' -भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९, पङ्क्ति २५ से २६

४. नामधेय-निरूपण

विधि, मन्त्र, अर्थवाद, इन तीनों में जिस प्रकार धर्म-प्रामाण्य है, उसी प्रकार नामधेयों का भी धर्म में प्रामाण्य है। नामधेयों के श्रवण से अग्नि-होत्रादि प्रकारकयागविशेष्यक प्रमिति उत्पन्न होने से इस प्रकार, सप्रकारक प्रमिति के जनकरूप से उनका धर्म में प्रामाण्य है। वस्तुतः मात्र यागसामान्य में किसी की प्रवृत्ति नहीं हो सकती अतः जब **'उद्‌भिदा यजेत**[१], **अग्निहोत्रञ्जुहोति'**[२] इत्यादि नामधेयों द्वारा उद्‌भिदादि के याग में सामानाधिकरण्य में उद्‌भिदादि प्रकारक यागविशेष्यक प्रमिति उत्पन्न होकर निश्चित याग-विशेष्य का बोध होता है, तभी यागादि धर्म में प्रवृत्ति होती है अतः नामधेयों में विशिष्ट याग के बोधकत्व रूप से धर्म-प्रामाण्य है।[३]

इस नामधेय के १- मत्वर्थलक्षणाभय, २- वाक्यभेद-भय, ३-तत्प्रख्यशास्त्र तथा ४-तद्व्यपदेशन्याय, ये चार निमित्त माने गए हैं। इनका लौगाक्षिभास्कर के अर्थसंग्रह में तथा आपदेव के मीमांसा-न्यायप्रकाश में विस्तृत विवेचन किया गया है।[४] यहाँ पर विस्तार-भय से इनका नामोल्लेख मात्र किया जा रहा है।

५. स्मृति-निरूपण

उपर्युक्त विवेचित वेदभागों के अतिरिक्त स्मृतियों का भी धर्म में प्रामाण्य है। इनमें वेद के समान स्वतन्त्र रूप से धर्म-प्रामाण्य नहीं है, अपितु वेदमूलक होने के कारण ही मनु, पराशर आदि मनीषियों द्वारा विरचित स्मृतियों में धर्म-प्रामाण्य की सङ्गति होती है।[५] इसलिए यदि कहीं पर श्रुति तथा स्मृति में विरोध उत्पन्न हो तो ऐसी स्थिति में वेदवचन को ही प्रमाण माना जाता है।

६. शिष्टाचार-निरूपण

इसी प्रकार श्रुति तथा स्मृति के अनुसार आचरण करने वाले शिष्टों के

---

१. ताण्ड्यमहाब्राह्मण १९/७/२/३।

२. तैत्तिरीय संहिता १/५/९/१/१८।

३. एवं नाम्नां सप्रकारकप्रमितिजनकत्वेन प्रामाण्यम्।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९, पङ्क्ति २९ से ३०

४. अर्थसंग्रह, पृ० १२७, मीमांसा-न्याय प्रकाश पृ० १२०

५. 'एव मन्वादिस्मृतीनामपि धर्मे प्रामाण्यम्। परन्तु तासां न वेदवत् स्वातन्त्र्येण प्रामाण्यम्। किन्तु वेदमूलकत्वेन।' -तंत्रसिद्धान्त-रत्नावलि, पृ० ३०, पङ्क्ति ९ से १०

आचार को भी भाट्टचिन्तामणिकार ने धर्म में प्रमाण माना है। शिष्ट व्यक्तियों की आचार्य बोधायन ने इस प्रकार परिभाषा दी है कि 'जिनमें किसी भी प्रकार की ईर्ष्या न हो, अहङ्कार, लोलुपता, दम्भ, दर्प, लोभ, मोह तथा क्रोध न हों एवं जो केवल एक घड़े भर अनाज से ही सन्तुष्ट हों[१] ऐसे अपरिग्रही सात्त्विक-मनीषी शिष्ट हैं। चूँकि इनका आचरण श्रुति तथा स्मृति के अनुकूल है तथा किसी के प्रति इनमें द्वेषादि का लवलेश भी नहीं है, अतः इनका आचरण भी धर्म में प्रमाण है।

इन स्मृति तथा शिष्टाचार रूप धर्म-प्रमाणों में स्मृति साक्षात् वेदमूलक होने से प्रबल तथा शिष्टाचार स्मृति के आधार पर उस स्मृति के मूलरूप में श्रुति की कल्पना द्वारा ही धर्म में प्रमाण होने से स्मृति, दूर्बल है अतः यदि कहीं स्मृति तथा शिष्टाचार में विरोध का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाए तो ऐसी स्थिति में श्रुति (वेद) को ही प्रमाण माना जाता है।

इस प्रकार उक्त विवेचनानुसार विधि, अर्थवाद, मन्त्र, नामधेय, स्मृति तथा शिष्टाचार, इन षड्विध प्रमाणों में धर्म-प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है।

९. स्वतः प्रामाण्य एवं परतः प्रामाण्य-निरूपण

उक्त विवेचित प्रमाणों से उत्पन्न ज्ञान के प्रामाण्य के विषय में दार्शनिक-सम्प्रदायों में परस्पर पर्याप्त मतभेद हैं। सर्वदर्शन-संग्रहकार के मतानुसार सांख्य आचार्यों ने ज्ञान के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों को स्वतः माना है।[२] नैयायिकों एवं वैशेषिकों के मत में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों ही परतः माने गए हैं। एकदेशी बौद्धों के मत में अप्रामाण्य को स्वतः तथा प्रामाण्य को परतः माना गया है।[३] इन सभी सिद्धान्तों के विपरीत सिद्धान्ती मीमांसकों के मतानुसार प्रामाण्य का निश्चय स्वतः तथा अप्रामाण्य का निश्चय परतः हुआ करता है।

---

१. 'शिष्टाः खलु विगतमत्सरा: निरहङ्कारा: कुम्भीधान्या अलोलुपा: दम्भदर्पलोभमोह-क्रोधवर्जिता:।' —बोधायनधर्मसूत्र १/१/५

३. 'प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्या: समाश्रिता:।'
—सर्वदर्शन-संग्रह, जैमिनिदर्शन, पृ० २७९

'श्लौकवार्त्तिक के सूत्र २ श्लोक ४७ में भी 'केचिदाहुर्द्वयं स्वतः' ऐसा सांख्यमत का निरूपण किया गया है।

३. 'सौगताश्चरमं स्वतः' ऐसा लिखकर सर्वदर्शन-संग्रहकार ने इस बौद्ध-मत का प्रदर्शन किया है। —सर्वदर्शन संग्रह, पृ० २७९

इन सिद्धान्तों में से भाट्टचिन्तामणिकार ने केवल नैयायिक तथा सिद्धान्ती मीमांसक, इन दोनों के मतों पर ही विशद विचार किया है। इस ज्ञान-प्रामाण्य में भी उत्पत्तिगत प्रामाण्य तथा ज्ञप्तिगत प्रामाण्य, ये दो भेद हैं। इन दोनों पक्षों का भाट्टचिन्तामणिकार ने नैयायिक-मत का निराकरण करते हुए निम्नलिखित रूप में विचार किया है।

उत्पत्तिगत ज्ञान-प्रमाण्य

जिस कारण-साम्रगी से ज्ञान की उत्पत्ति होती है यदि उसी ज्ञानोत्पादक कारण-साम्रगी से ज्ञान के प्रामाण्य की भी उत्पत्ति मानी जाए तो इसे उत्पत्तिगत स्वत: प्रामाण्य कहा जाएगा। यदि ज्ञानोत्पादक कारण-सामग्री से भिन्न कारण-सामग्री द्वारा ज्ञान के प्रामाण्य की उत्पत्ति मानी जाए तो इसे उत्पत्तिगत परत: प्रामाण्य कहा जाएगा। इसी प्रकार ज्ञान के अप्रामाण्य की उत्पत्ति भी ज्ञानोत्पादक कारण सामग्री से मानने पर स्वत: तथा ज्ञानोत्पादक सामग्री से भिन्न सामग्री द्वारा मानने पर परत: मानी जाएगी।

नैयायिक-मत-निरूपण

नैयायिकों के मतानुसार ज्ञान-मात्र इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। अत: इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष ज्ञान-मात्र का उत्पादक है परन्तु इस कारण सामग्री से उत्पन्न होने वाले सभी ज्ञान प्रमा नहीं होते, अपितु कुछ प्रमात्मक तथा कुछ अप्रमात्मक होते हैं। इसलिए प्रमा तथा अप्रमा रूप ज्ञान में विद्यमान प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य की उत्पादक कारण-सामग्री ज्ञान-सामान्य की कारण सामग्री से भिन्न है अत: ज्ञान के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों की परत: उत्पत्ति सिद्ध हो जाती है। नैयायिकों ने इन्द्रियगत गुणों को ज्ञान के प्रामाण्य की तथा इन्द्रियगत दोषों को ज्ञान के अप्रामाण्य की उत्पादक-सामग्री माना है।

ज्ञान के प्रामाण्य की परत: उत्पत्ति सिद्ध करने हेतु नैयायिकों ने निम्नलिखित अनुमान उपस्थापित किया है-

(१) ज्ञान की उत्पत्ति के सर्वसाधारण कारण से भिन्न कारणजन्य ज्ञान प्रमा है तथा उसमें विद्यमान जन्यतावच्छेदक धर्म प्रमात्व (प्रामाण्य) है- (प्रतिज्ञा)

(२) ज्ञानवृत्ति अनित्य धर्म होने से प्रमा रूप ज्ञान, जन्य-ज्ञान है। इस जन्य

ज्ञान में रहने वाला जन्यतावच्छेदक धर्म प्रमात्व (प्रामाण्य) **'यत् जन्यं तदनित्यम्'** इस सिद्धान्त के अनुसार जन्य अनित्य-प्रमाज्ञान, वृत्ति धर्म होने से अनित्य धर्म है। (हेतु)

(३) अप्रमात्व (अप्रामाण्य) के समान (दृष्टान्त)

इस प्रकार उपर्युक्त अनुमान द्वारा प्रामाण्य की परतः उत्पत्ति सिद्ध हो जाती है। केवल इन्द्रियों को प्रामाण्य का कारण न मानकर इन्द्रियों के दोषाभावरूप गुण को ज्ञान-प्रामाण्य की उत्पादक सामग्री माना गया है। ज्ञान-सामग्री से भिन्न इन्द्रिगत दोषाभावरूप गुण से उत्पन्न होने के कारण प्रामाण्य की उत्पत्ति परतः होती है। यह तथ्य सिद्ध हो जाता है।

मीमांसक-मत-निरूपण

नैयायिकों द्वारा प्रामाण्य के परतः उत्पत्ति के सिद्धान्त का निराकरण करते हुए मीमांसक कहते हैं कि इन्द्रियगतगुणजन्यत्व रूप प्रामाण्य में इन्द्रिगत गुण दोषाभावरूप ही है, उससे अन्य नहीं है, ऐसा मानने में कोई विनिगमना नहीं है। अतः इन्द्रियगत गुण को प्रामाण्य का कारण मानने पर संसार भर के समस्त गुणों को कारण मानना होगा, जिसमें अत्यधिक गौरव हो जाएगा। इसके विपरीत ज्ञान-सामान्य की इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष-रूप कारण सामग्री को ज्ञान के प्रामाण्य की कारण सामग्री मानने में लाघव है। ज्ञान-सामान्य की इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष रूप कारण-सामग्री ही ज्ञान के प्रामाण्य की भी उत्पादक सामग्री है।

यदि पूर्वपक्षी दोषाभाव से युक्त इन्द्रिय से प्रामाण्य की उत्पत्ति मानें, तो यह सिद्धान्त भी समीचीन नहीं है, क्योंकि दोषयुक्त इन्द्रिय से उत्पन्न शुक्ति में जो रजतज्ञान होता है, उसमें रजतत्व यह धर्म तथा शुक्ति धर्मी है। यहाँ पर यद्यपि रजत्व-धर्म-अंश में प्रामाण्य नहीं है, तथापि धर्मी शुक्ति-अंश में प्रामाण्य विद्यमान है। यदि दोषाभाव-विशिष्ट इन्द्रिय को ही प्रामाण्य का जनक मानें तो उपर्युक्त ज्ञान दोषाभाव-विशिष्ट इन्द्रिय से न होकर दोषयुक्त इन्द्रिय द्वारा ही होने के कारण यहाँ धर्मी शुक्ति अंश में विद्यमान प्रामाण्य की अनुपपत्ति हो जाती है। इन्द्रियगत गुण या दोषाभाव-विशिष्ट इन्द्रिय दोनों को प्रामाण्य का उत्पादक मानना असम्भव होने से ज्ञान-सामान्य की कारण सामग्री-इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को ही ज्ञान-प्रामाण्य की भी सामग्री मानना होगा।

इसके अतिरिक्त इन्द्रियगत गुण को प्रामाण्य का कारण मानने पर एक ही ज्ञान में अनन्त दोषों के अभाव अनुगत होने के कारण भी गौरव दोष हो जाएगा। इसलिए ज्ञानोत्पादक सामग्री को ज्ञान के प्रामाण्य की कारण-सामग्री मानना ही सीमचीन है। इस प्रकार एक ही कारण-सामग्री से ज्ञान एवं उसके प्रामाण्य-दोनों की उत्पत्ति होने के कारण ज्ञान-प्रामाण्य की स्वतः उत्पत्ति सिद्ध हो जाती है।[१]

२. ज्ञप्तिगत-प्रामाण्य

प्रामाण्य की स्वतः उत्पत्ति तथा परतः उत्पत्ति के सिद्धान्त की ही तरह इस ज्ञान-प्रामाण्य के ज्ञप्ति-निश्चय के विषय में भी मीमांसक तथा नैयायिक दोनों में मतभेद है। जिस सामग्री द्वारा ज्ञान का ग्रहण होता है, यदि उसी सामग्री से ज्ञान के प्रामाण्य का भी निश्चय माना जाए तो इसे ज्ञप्तिगत स्वतः प्रामाण्य तथा ज्ञानग्राहक सामग्री से भिन्न सामग्री द्वारा ज्ञान-प्रामाण्य का निश्चय मानने पर इसे ज्ञप्तिगत परतः प्रामाण्य कहा जाएगा। इसी प्रकार अप्रामाण्य भी यदि ज्ञान-ग्राहक सामग्री द्वारा ही निश्चित हो तो इसे ज्ञप्तिगत स्वतः अप्रामाण्य तथा ज्ञानग्राहक सामग्री से भिन्न साम्रगी द्वारा इसका ग्रहण मानने पर इसे ज्ञप्तिगत परतः अप्रामाण्य कहा जाएगा।

(१) नैयायिकमत-ज्ञप्तिगत परतः प्रामाण्य-निरूपण

नैयायिकों के मतानुसार प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों के आश्रयभूत व्यवसायात्मक ज्ञान की उत्पत्ति होने के पश्चात् कोई प्रतिबन्धक न रहने पर इसका अनुव्यवसायात्मक मानस प्रत्यक्ष से ग्रहण हो जाता है। जैसे **'अयं घटः'** इस घट-विषयक व्यवासायात्मक ज्ञान की उत्पत्ति होने पर **'घटज्ञानवानहम्'** या **'अहं घटं जानामि'** इस अनुव्यवसायात्मक ज्ञान से घटज्ञान का ग्रहण होता है, परन्तु ज्ञान के प्रामाण्य या अप्रामाण्य का ग्रहण इस अनुव्यवसायात्मक ज्ञान से नहीं होता, अपितु गुण-कारण-जन्यत्व, अर्थक्रिया-संवादत्व, बाधाभावत्व आदि

---

१. सिद्धान्तस्तु अनन्तगुणानां हेतुत्वमपेक्ष्यज्ञानसामान्यसामग्रीजन्यत्वस्यैवोचितत्वात्। दोषवदिन्द्रियजन्यस्यापि धर्म्यंशे प्रमात्वाच्च। एतेन गुणज्ञानज्ञाप्यत्वं दोषाभावज्ञानाज्ज्ञाप्यत्वं चापास्तम्। अनेकदोषाभावानामननुगतत्वेन गौरवात्। अतो न ज्ञानोत्पत्तेः परतस्त्वं (सम्भवति)।' -भाट्टचिन्तामणि, पृ० १२, पङ्क्ति १७ से २१

हेतुओं पर आधारित अनुमान से प्रामाण्य का तथा दोष-कारण-जन्यत्व, अर्थक्रिया-वैफल्यत्व, बाधत्व, आदि हेतुओं से अप्रामाण्य का ग्रहण होता है।

अर्थ-क्रिया के साफल्य को ही अर्थक्रिया-संवादत्व कहते हैं। जिस ज्ञान में अर्थ-क्रिया का साफल्य है, उसमें प्रामाण्य तथा जिसमें वैफल्य होता है, उसमें अप्रामाण्य रहता है। प्रामाण्य की सिद्धि में अर्थक्रिया-संवादत्व भी एक हेतु है। इस हेतु के आधार पर निम्नलिखित अनुमान द्वारा ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है–

१. यह ज्ञान प्रमा है - (प्रतिज्ञा)
२. इसमें अर्थ-क्रिया का संवादत्व होने से - अर्थात् सफल - प्रवृत्ति वाला होने से (हेतु)
३. सफल प्रवृत्ति वाले अन्य ज्ञान के समान (दृष्टान्त)
४. यह भी सफल प्रवृत्ति वाला ज्ञान है (उपनय)
५. अतः इसमें प्रामाण्य है (निगमन)

इसी प्रकार- यह ज्ञान प्रमा है - (प्रतिज्ञा)

गुणवत् (इन्द्रिय रूप) कारण से उत्पन्न होने से, बाध का अभाव होने से, इन हेतुओं पर आधारित अनुमानों से भी ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होता है। ज्ञान के प्रामाण्य के समान अप्रामाण्य का भी उपर्युक्त हेतुओं के विपरीत हेतुओं पर आधारित अनुमान द्वारा निश्चय होता है। ज्ञान-ग्राहक अनुव्यवसायात्मक सामग्री से भिन्न, उपर्युक्त हेतुओं पर आधारित अनुमानों द्वारा, ज्ञान के प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का निश्चय होने से नैयायिकों ने प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य दोनों के उत्पत्ति के साथ ही ज्ञप्ति को भी परतः माना है।[१]

२. मीमांसकमत-ज्ञप्तिगत स्वतः प्रामाण्य-निरूपण

नैयायिकों के विपरीत मीमांसक प्रामाण्य को तो स्वतोग्राह्य मानते हैं, परन्तु अप्रामाण्य को इन्होंने भी नैयायिकों के समान प्रवृत्ति-वैफल्यादि कारणों द्वारा परतः ग्राह्य ही माना है।

परतः प्रामाण्यवादी नैयायिकों ने ज्ञान के परतः प्रामाण्य की सिद्धि के लिए प्रामाण्य- निश्चयात्मक रूप में जो अर्थ-क्रिया-संवादत्व, गुणवत्कारणजन्यत्व,

१. - - - - - - एवं ज्ञानान्तरेण गृह्यते। तच्च इदं ज्ञानं प्रमा, गुणवत्कारणजन्यत्वात्, अर्थक्रियासम्वादात्, बाधाभावाद् इत्याद्यनुमानं।
संवादत्वञ्च तद्विषयविषयत्वम्। –भाट्टचिन्तामणि, पृ० १२ पङ्क्ति ९ से ११

बाधाभावत्व आदि हेतुक-अनुमान-ज्ञानों को उपस्थित किया था, उनके द्वारा प्रामाण्य-ग्रह होने में असङ्गति (व्यभिचार) प्रदर्शित करते हुए स्वतः प्रामाण्यवादी मीमांसक कहते हैं कि अर्थक्रिया-साफल्य-ज्ञान से यदि प्रामाण्य का निश्चय माना जाए तो स्वप्नावस्था में **'अयं घटः'** इस प्रकार घट ज्ञान होने पर जलाहरण रूप अर्थक्रिया के साफल्यज्ञान से इस स्वप्न-ज्ञान में भी प्रामाण्य का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाएगा अतः स्वप्नावस्था में अर्थ का व्यभिचार होने के कारण अर्थक्रिया-संवादत्व को प्रामाण्य-ग्राहक नहीं माना जा सकता।[१]

यदि थोड़ी देर के लिए **'दुर्जनः तुष्यतु'** न्याय से अर्थ-क्रिया के संवादत्व (साफल्य) से घटादि ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय मान भी लें तो भी जलाहरणादि रूप अर्थक्रिया के साथ सम्बन्ध होने पर ही (व्याप्य विधया) घटनिश्चय हो सकेगा, क्योंकि व्याप्ति यह सम्बन्ध रूप होती है अतः सम्बन्धी का ग्रहण होने पर ही इसके द्वारा उसके प्रामाण्य का निश्चय हो सकेगा। इसलिए जलाहरण-ज्ञान रूप अर्थ-क्रिया-साफल्य से घट-ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय होने के लिए सम्बन्धी घटज्ञान का ग्रहण आवश्यक होने से उनमें स्वतः प्रामाण्य ही मानना होगा।[२]

इसके अतिरिक्त अर्थक्रिया-संवादत्व, गुणवत्कारणजन्यत्वादि हेतुओं पर आधारित अनुमानों से ज्ञान-प्रामाण्य का निश्चय होने के लिए इन अनुमानज्ञानों के भी प्रामाण्य का निश्चय होना आवश्यक है। यदि इन अनुमान-ज्ञानों में अन्य ज्ञानों द्वारा प्रामाण्य का निश्चय मानेंगे तो इनके ग्राहक ज्ञानों के प्रामाण्य-निश्चय क लिए फिर अन्य ज्ञानों की कल्पना करनी पड़ेगी जिसमें अनवस्था दोष हो जाएगा। यदि इस अनवस्था दोष के परिहारार्थ नैयायिक इन अर्थ-क्रिया-संवादत्वादि-हेतुक-अनुमान-ज्ञानों में स्वतः प्रामाण्य मानते हैं तो फिर घटादि ज्ञानों का कोई अपराध न होने के कारण इनमें भी इन्हें स्वतः प्रामाण्य ही मानना होगा। इस

---

१. नापि ज्ञप्तेः परतस्त्वं सम्भवति। तथा हि। नोदकाहरणरूपार्थक्रियाज्ञानेनार्थ-निश्चय-द्वारा पूर्वज्ञाने प्रामाण्यनिश्चयः। तस्यापि स्वप्नावस्थायामर्थ-व्यभिचारेण तेनार्थनिश्चया-सम्भवात्। —भाट्टचिन्तामणि, पृ० १२, पङ्क्ति २१ से २३

२. किञ्चोदकाहरणादिरूपार्थ-क्रियया व्याप्यविधया घटनिश्चयः। व्याप्तिश्च सम्बन्धरूपेति नागृहीते सम्बन्धिनि गृहीतुं शक्यते। तत्र सम्बन्धिघटज्ञाने स्वत स्वप्रामाण्यनिश्चयो वाच्यः। —वही पृ० १२, पङ्क्ति २५ से २८

प्रकार सर्वत्र समान रूप से प्रामाण्य-निश्चय की सङ्गति के लिए सर्व ज्ञान-प्रामाण्य को स्वतो ग्राह्य मानना ही समीचीन है।[१]

मतत्रय-निरूपण

मीमांसा-दर्शन, कुमारिल भट्ट, गुरु प्रभाकर तथा मुरारिमिश्र, इन ती आचार्यों की तीन स्वतंत्र विचार-धाराओं में विभक्त है। यद्यपि ये तीनों आचार्य प्रामाण्य को स्वतः तथा अप्रामाण्य को परतो ग्राह्य मानते हैं, तथापि ज्ञा एवं उसके प्रामाण्य की ग्राहक कारण-सामग्री के विषय में इनमें परस्पर वैमत है। इन तीनों मतों का विवेचन क्रमशः इस प्रकार है।

१. कुमारिल-मत-निरूपण

कुमारिल भट्ट के मतानुसार ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता,[२] अपितु ज्ञ अतीन्द्रिय होने के कारण उस ज्ञान से उसके विषय में ज्ञातता नामक एक अ प्रत्यक्ष-धर्म की उत्पत्ति होती है तथा इस ज्ञातता से उसके कारणभूत विषय निष्ठ ज्ञान का अनुमान होने पर इसी के द्वारा समान-संवित्-संवेद्यता से ज्ञान प्रामाण्य का भी निश्चय हो जाता है।[३] ज्ञान एवं उसके प्रामाण्य का निश्चाय ज्ञाततालिङ्गक अनुमान इस प्रकार है—

१. घटज्ञान का मुझे अनुभव हो रहा है – (प्रतिज्ञ

२. इस ज्ञान के विषय घट में ज्ञातता रहने के कारण – (हे

३. पट-ज्ञान के समान – (दृष्टान्त

इस ज्ञाततालिङ्गक अनुमान में ज्ञातता हेतु तथा घटज्ञान यह साध्य है। य नियम है कि कोई भी हेतु किसी न किसी सम्बन्ध से ही साध्य का अनुमाप लोता है। उदाहरणार्थ— धूम से वह्नि के अनुमान में धूम तथा वह्नि में कार्यकारण भाव-सम्बन्ध होने से इस कार्यकारणभाव-सम्बन्ध से ही धूम द्वारा वह्नि अनुमिति होती है। इसी तरह एयं घटः इस ज्ञान में 'घटत्व' यह प्रव (विशेषण) है। इस घटत्व-प्रकार में जो प्रकारता रहती है, उस प्रकारता

---

१. 'किं च ज्ञानं न प्रत्यक्षम्।' —वही, पृ० १२, पङ्क्ति ३२ से

२. 'एवं च विषयनिष्ठज्ञाततया तन्निष्ठमेव ज्ञानामनुमीयते।'
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० १३, पङ्क्ति १० से

३. 'घटो ज्ञानवान् ज्ञाततावत्वादिति। तत्र घटत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्ब ज्ञानानुमितौ तादृशयप्रकारतानिरूपित-विशेष्यतारूपप्रामाण्यग्रहः।'
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० १३, पङ्क्ति ११ से

ज्ञातता निरूपित होने के कारण घटत्वनिष्ठ प्रकारता-निरूपित-विशेष्यता-सम्बन्ध से ज्ञातता द्वारा 'घटज्ञान' का अनुमान होने पर समान-संवित्-संवेद्यता से इस अनुमान द्वारा ज्ञान के साथ ही उसके प्रामाण्य का भी निश्चय हो जाता है।[1]

पूर्वपक्षी नैयायिकों की यह आपत्ति है कि 'ज्ञातता' प्रामाण्य की व्याप्य नहीं है। जहाँ ज्ञातता है, वहाँ प्रामाण्य हो ही यह आवश्यक नहीं है। इसी प्रकार जहाँ प्रामाण्य न हो, वहाँ ज्ञातता भी न रहे, ऐसा भी नहीं होता।

इस प्रकार ज्ञातता-लिङ्गक अनुमान द्वारा ज्ञान के साथ उसके प्रामाण्य का निश्चय हो जाने के कारण ज्ञप्तिगत स्वतः प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है।

२. प्रभाकरमत-निरूपण

गुरु प्रभाकर के मतानुसार ज्ञान स्वप्रकाश होने के कारण अपनी उत्पत्ति के क्षण में भी अज्ञात नहीं रहता। लेकिन यह तभी सम्भव है, जब कि ज्ञान की उत्पादक तथा ग्राहक-सामग्री एक ही मानी जाए । यदि ज्ञानोत्पादक तथा ज्ञानग्राहक सामग्री को परस्पर भिन्न मानें तो ऐसी स्थिति में पहले ज्ञानोत्पादक सामग्री से ज्ञानोत्पत्ति तथा इसके अनन्तर ज्ञान-ग्राहक सामग्री से उसका निश्चय मानना होगा। ऐसी स्थिति में उत्पत्ति-क्षण में ज्ञान का निश्चय न हो पाने के कारण ज्ञान के स्व-प्रकाशता की अनुपपत्ति हो जायगी। इस अनुपपत्ति के निवारणार्थ प्रभाकर ने ज्ञान का निश्चय त्रिपुटी-प्रत्यक्ष से माना है।

त्रिपुटी-प्रत्यक्ष में मात्र विषय का ज्ञान न होकर विषय, विषयज्ञान तथा ज्ञाता, इन तीनों का ज्ञान होता है। इस त्रिपुटी-प्रत्यक्ष रूप ज्ञानोत्पादक सामग्री से जिस प्रकार ज्ञानोत्पत्ति तथा उसका निश्चय होता है, उसी प्रकार इसी के द्वारा ज्ञान के प्रामाण्य का भी निश्चय हो जाता है अतः इनके मत में प्रामाण्य की स्वतो ग्राह्यताः सिद्ध हो जाती है।[2]

---

१. 'एवं गुणज्ञानसंवादज्ञानयोरपि न चैताभ्यां विषयो निश्चेतुं शक्यते। न च तत्रापि ज्ञानान्तरेण प्रामाण्यनिश्चयः। अनवस्थापतेः। एवं च स्वत एवार्थतथात्वनिश्चयो वाच्यः। एवं तार्हि घटादि-ज्ञानेपि स्वत एव प्रामाण्यं, तस्यापराधाभावात्। तेन ज्ञानग्राहकेणैव तस्य ज्ञानामिति सिद्धं प्रामाण्यज्ञप्तेः स्वतस्त्वम्।'

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० १२, पङ्क्ति २८ से ३२

२. गुरवस्तु घटादि-मात्र-विषयकं न ज्ञानं सर्वज्ञानानां त्रिपुटीविषयकत्वाङ्गीकारात्। त्रिपुटी च ज्ञानात्मविषयरूपा, तेनं सर्वज्ञानं घटं जानामीत्याद्यनु-व्यवसायाकारमिति। स्वे-नैव स्वस्य घटादिविषयकग्रहणात्ततः प्रामाण्यमित्याहुः।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० १४, पङ्क्ति २६ से ३०

३. मुरारि-मिश्र मत-निरूपण

मुरारिमिश्र के मतानुसार **'अयं घटः'** इस तरह का व्यवसायात्मक ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् **'घटमहं जानामि'** इस प्रकार जो अनुव्यवसायात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है, वह घटत्व-प्रकारक घटविशेष्यक ज्ञान होने के कारण उसके द्वारा तद्वत् विशेष्यकत्व होते हुए तत्प्रकारकत्व ज्ञानत्व-रूप से व्यवसायात्मक ज्ञान के साथ ही उसके प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाता है। ज्ञानग्राहक अनुव्यवसायात्मक सामग्री से ही ज्ञान के प्रामाण्य का भी ग्रहण हो जाने से इनके मत में ज्ञप्तिगत स्वतः प्रामाण्य सिद्ध हो जाता है।[1]

यद्यपि मुरारि मिश्र नैयायिकों के समान ही व्यवसायात्मक ज्ञान का अनुव्यवसायात्मक ज्ञान द्वारा ग्रहण मानते हैं, परन्तु जहाँ नैयायिक अनुव्यवसायज्ञान से केवल ज्ञान का ग्रहण मानकर उसके प्रामाण्य का अर्थक्रियासंवादत्वादि हेतुओं पर आधारित अनुमानों द्वारा ग्रहण मानते हैं, वहाँ इन्होंने अनुव्यवसायात्मक ज्ञान से व्यवसायात्मक ज्ञान के साथ ही उसके प्रामाण्य का भी ग्रहण माना है। यही मुरारि मिश्र के सिद्धान्त का नैयायिकों के सिद्धान्त के साथ मतभेद है।

भाट्टचिन्तामणिकार-मत-निरूपण

इस विषय में भाट्टचिन्तामणिकार -सम्मत-सिद्धान्त यह है कि सर्वसाधारण ज्ञानों में संशय, पुरुषदोषदि की सम्भावना विद्यमान रहने से ज्ञानमात्र में स्वतः प्रामाण्य सम्भव नहीं है अतः अपौरूषेय वेदवाक्यजन्य ज्ञान में उभयविध स्वतः प्रामाण्य तथा उससे अतिरिक्त ज्ञानों में परतः प्रामाण्य मानना ही समीचीन है। सिद्धान्त में स्मृतियों में जो प्रामाण्य है, उसे भी स्मृतियाँ वेदमूलक होने के कारण सन्मूलकत्वगुणज्ञान-हेतु द्वारा ही माना गया है।

यद्यपि भाट्टचिन्तामणिकार ने उपर्युक्त सिद्धान्त को **'कश्चित्तु'** शब्द से किसी अन्य के सिद्धान्त-रूप में उपस्थित किया है, तथापि अन्त में **'इति युक्तमुत्पश्यामः'** यह उचित है, ऐसा कहकर इस सिद्धान्त को अपनी मान्यता प्रदान की है अतः इस सिद्धान्त को भाट्टचिन्तामणिकार-सम्मत-सिद्धान्त मानना सर्वथा उपयुक्त है।[2]

---

१. मुरारिमिश्रस्तु घटादिज्ञानोत्तरं घटं जानामीत्याद्यनुव्यवसायो जायते तेन घटत्ववद्विशेष्यकत्वे सति घटत्वप्रकारकत्वरूपप्रामाण्यग्रह इत्याहुः।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ १४, पङ्क्ति ३१ से ३२

२. कश्चित्तु----तेन वेदजन्यज्ञाने संशयाभावात्स्वतः प्रामाण्यं, तद्भिन्नज्ञाने तुं परतः प्रामाण्यं ज्ञायते। अत एव स्मृतिजन्यज्ञाने सन्मूलकत्वगुणज्ञानादेव प्रामाण्यं सिद्धान्तेप्यङ्गी-कृतमिति युक्तमुत्पश्याम्। —भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ १५, पङ्क्ति २ से ८

द्वितीय खण्ड

शब्दार्थ-विचार

प्रातिपदिकार्थ-निरूपण

'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' पाणिनीय सूत्र (१.२.४५) से यह बोध होता है कि धातु, प्रत्यय तथा प्रत्ययान्त को छोड़कर अर्थवान् शब्द प्रातिपदिक हैं अतः **'धातु-प्रत्यय-तदन्त-भिन्नत्वे सति अर्थवच्छब्दत्वं प्रातिपदिकत्वम्'** यह प्रातिपदिक का लक्षण निष्पन्न होता है।

विभक्त्यन्त (सु, औ, जस् आदि) में प्रातिपदिक-संज्ञा के निवारणार्थ लक्षण में 'प्रत्ययान्त-भिन्नत्वे सति' इस पद का निवेश किया गया है।[1]

इसी प्रकार प्रत्ययान्त शब्दों में प्रातिपदिक-संज्ञा की निवृत्ति हो जाने से असमाप्त्यर्थक (समाप्ति न होना, अर्थात् कुछ कम) अर्थ में 'पटु' शब्द से सुप् होने पर 'बहुच्' प्रत्यय का पूर्वनिपात होकर जो 'बहु पटु' शब्द निष्पन्न होता है,[2] उसमें 'बहुच्' प्रत्यय पूर्व में होने से यह प्रत्ययान्त शब्द न होने के कारण इसकी प्रातिपदिक संज्ञा हो जाती है।[3]

यदि उपर्युक्त **'अर्थवदधातु॰'** सूत्र से इसकी प्रातिपदिक संज्ञा न मानें तो, **'बहुच्-प्रत्यय तद्धितान्त-प्रत्यय न होने के कारण' 'कृत्तद्धित-समासाश्च'** इस पाणिनीय सूत्र (१, २, ४६) से भी इसकी प्रातिपदिक संज्ञा नहीं हो सकेगी।

---

१. धातु-प्रत्यय-तदन्त-भिन्नत्वे सति अर्थवच्छब्दत्वं प्रातिपदिकत्वम् अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकमिति सूत्रात्। (पाणिनीय सूत्र १।२। ४५)।

· विभक्त्यन्तानां तत्संज्ञावारणाय प्रत्ययान्तेति।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ८९, पङ्क्ति २ से ४

२. विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तातु (पाणिनीय सूत्र ५। ३।६८) से विकल्प से बहुच्, पक्ष में 'पटुकल्पः' ऐसा प्रयोग निष्पन्न होता है।

३. एवं च पूर्वनिपातितेषदसमाप्त्यर्थकबहुच्प्रत्यययुक्तबहुपटु शब्दस्य प्रातिपदिक-संज्ञा।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ८९, पङ्क्ति ४ से ५

अत: इसमें प्रातिपदिक संज्ञा की उपपत्ति हो सके, इसलिए '**अर्थवदधातु॰**' इस सूत्र को प्रातिपदिक संज्ञा का विधायक सूत्र मानना आवश्यक है।[१]

यदि '**कृतद्धितसमासाश्च**' इस पाणनीय सूत्र (१, २, ४६) से कृत्प्रत्ययान्त, तद्धितप्रत्ययान्त और समस्त-पद की प्रातिपदिक संज्ञा न मानकर केवल तद्धित प्रत्यय के सम्बन्ध से ही प्रातिपदिक-संज्ञा की विवक्षा माने तो '**पचति इति**' (**अज्ञातं पचति**) इस अर्थ में '**अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टे:**' इस पाणिनीय सूत्र (५, ३, ४६)से '**पचति**' में टि-ति के इकार, '**पचतकी**' के पूर्व, **पचत्** के बाद **अकच्** प्रत्यय होकर, ऐसा रूप निष्पन्न होने पर यहाँ भी **अकच्** प्रत्यय तद्धित होने से प्रातिपदिक संज्ञा होने लगेगी अत: तद्धितान्त प्रत्यय में ही प्रातिपदिक संज्ञा का विधान किया गया है। '**पचतकी**' में अकच् प्रत्यय तद्धित होने पर भी अन्त में न होने के कारण तद्धितान्त नहीं है इसलिए इसकी प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती।[२]

इसी प्रकार कृत, तद्धितान्त एवं 'शशस्य श्रृङ्ग:-शशश्रृङ्ग:' आदि निरर्थक समासों की प्रातिपदिक संज्ञा नही होगी, ऐसा यदि कोई कहे तो यह ठीक नहीं होगा, क्योंकि 'कृत्तद्धित-समासाश्च' इस सूत्र से ऐसे स्थलों पर प्रातिपदिक संज्ञा का स्पष्ट विधान किया गया है।[३]

इस प्रकार विवेचित प्रादिपदिक-पदों के रूढ़, यौगिक, योगरूढ तथा यौगिक रूढ़ ये चार भेद हैं।[४] शब्द-प्रमाण में इन चारों का विशद विवेचन किया गया है।[५]

---

१. तत्र तद्धितान्तत्वाभावेन तत्संज्ञाया: कृत्तद्धितेति सूत्रेणालाभात्।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ८९, पङ्क्ति ५ से ६

२. तद्धितयोगमात्र-विवक्षायां तत्वे पचतकीत्यत्राकच्-प्रत्यययुक्तेपि तदापत्ते:।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ८९, पङ्क्ति ६ से ७

३. न चैवं कृत्तद्धितान्तेषु अनर्थकशशश्रृङगादिसमासेषु च प्रातिपदिकत्वं न स्यादितिं वाच्यम्। कृत्तद्धितसमासाश्चेति सूत्रेण तत्र संज्ञा-विधानात्।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ८९, पङ्क्ति ७ से ९

४. तच्च प्रातिपदिकं चतुर्धा पूर्वमुक्तं, रूढं, यौगिकं योगरूढं यौगिक-रूढं चेति।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ८९, पङ्क्ति १२ से १३

५. द्रष्टव्य-पदभेदनिरूपण, शब्दप्रमाण-निरूपण, पृ॰ १०३ से १०५

इन प्रातिपदिक-पदों में घटादि-द्रव्यवाचक पदों का अर्थ घटत्वादि जाति को मानें या घटत्वादि-जाति को वाच्यतावच्छेदक (शक्यतावच्छेदक) मानकर व्यक्ति को ही द्रव्यवाचक पदों का अर्थ मान लिया जाए?[१] इस प्रश्न को उपस्थित कर इसके समाधानार्थ भाट्टचिन्तामणिकार ने स्वकीय जाति-शक्तिवाद के साथ वैयाकरणों के व्यक्ति-शक्तिवाद, नैयायिकों के जातिविशिष्ट व्यक्ति-शक्तिवाद तथा कतिपय अन्य आचार्यों के मत भी उपस्थित किए हैं। मीमांसा-समस्त सिद्धान्त-पक्ष के स्पष्टता पूर्वक प्रातिपादनार्थ निम्नलिखित क्रम में इनका विवेचन प्रस्तुत है:

व्यक्ति-शक्तिवाद (एक प्रातिपदिकार्थ) निरूपण

वैयाकरणों का कहना है कि सर्वत्र व्यक्ति ही पदार्थ है। यद्यपि जाति पदार्थ (शक्य) नहीं है, तथापि वह उपलक्षण होने के कारण उससे उपलक्षित व्यक्ति में पद-शक्ति मानने पर अनन्त व्यक्तियों में अनन्तशक्ति-कल्पना का गौरव-दोष नहीं होता अतः व्यक्ति ही पदार्थ है। इस प्रकार केवल व्यक्ति ही वैयाकरणों के मत में प्रातिपदिक-पदार्थ होने से ये एक प्रातिपदिकार्थवादी हैं।[२]

जाति-विशिष्ट व्यक्ति-शक्तिवाद (प्रातिपदिकार्थ द्वय) निरूपण

व्यक्ति-शक्तिवादी वैयाकरणों के विपरीत नैयायिक जातिविशिष्ट व्यक्ति में प्रातिपदिक-पद की शक्ति मानते हैं। इस विषय में उनका कहना है कि यदि जातिविशिष्ट व्यक्ति में पद-शक्ति न मानकर केवल व्यक्ति में शक्ति मानें तो घटत्वादि जातियों में शक्ति का अभाव होने से शाब्द-बोध में ये विषय नहीं हो पायेगी फलतः घटशब्द से **'घटत्व-प्रकारक घट्'** ऐसा जो शाब्द-बोध होता है, वह नहीं हो सकेगा।[३]

यदि घटत्व-प्रकारक घट-विशेष्यक बोध के प्रति घट पद में जाति

---

१. सर्वेषु द्रव्यवाचक-घटादिपदेषु जातिरेव वाच्या, वाच्यतावच्छेदिका वा?
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ८९, पङ्क्ति १६ से १७

२. अन्ये तु सर्वत्र व्यक्तिरेव पदार्थः। अशक्याया अपि जातेरूपलक्षणतया तदुपलक्षितव्यक्तिशक्त्यङ्गीकारेण न व्यभिचारानन्तशक्तिकल्पनादिदोषः'
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९०, पङ्क्ति २७ से २९

३. परेतु जातिविशिष्टा व्यक्तिर्वाच्या। अन्यथा घटत्वाशें शक्त्यभावेन घटत्वादेः शाब्दविषयत्वासम्भवात्। —वही पृ० ९०, पङ्क्ति ३२ से ३३

शक्ति-ज्ञानत्व रूप से या व्यक्ति-शक्ति-ज्ञानत्व रूप से कारणता मान लेने पर उपर्युक्त दोष नहीं होगा, ऐसा पूर्वपक्षी कहें, तो यह ठीक नहीं होगा, क्योंकि ऐसा मानने पर द्रव्यादि पदों में भी इसी रूप से कारणता होने से घट भी द्रव्य रूप होने के कारण 'घट पद' से घटत्व-प्रकारक घट-विशेष्यक बोध होने के स्थान पर द्रव्यत्व-प्रकारक घटविशेष्य बोध होने लगेगा।[१]

दोष के निराकरणार्थ पूर्वपक्षियों का कहना है कि पदज्ञान संबंधि-ज्ञान कराते हुए ही शाब्दबोध के प्रति कारण होते हैं अतः घटत्व अंश में शक्ति का ग्रहण न होने पर भी घटत्व रूप से ही घट की उपस्थिति होने के कारण घट पद से घटत्व रूप से उपस्थित घट का ही बोध होता है।

पूर्वपक्षियों के उपर्युक्त सिद्धान्त का खण्डन करते हुए नैयायिक कहते हैं कि जिस प्रकार घटत्व रूप से घट की उपस्थिति होती है, उसी प्रकार घट आकाश का आश्रयी होने से आकाश की भी उसके साथ उपस्थिति रहती है अतः यदि जातिशक्ति-ज्ञानत्व रूप से या व्यक्ति-शक्ति-ज्ञानत्व रूप से घटादि पदों में घटादि के अर्थबोध की शक्ति मानी जाए तो शाब्द-बोध में आकाशादि के अन्वय होने की आपत्ति हो जाती है अतः जाति-विशिष्ट व्यक्ति में ही पद-शक्ति मानना समीचीन है। इस प्रकार जाति-विशिष्ट व्यक्ति में शक्ति होने से इनके मत में जाति तथा व्यक्ति ये दो प्रातिपदिकार्थ हैं।[२]

प्रातिपदिकार्थत्रय- निरूपण

पतञ्जलि के मतानुसार जाति-व्यक्ति तथा लिङ्ग, ये तीनों प्रातिपदिकार्थ हैं। लिङ्ग शास्त्रीय लिङ्ग तथा लौकिक व्यवहार में कारणीभूत लौकिक लिङ्ग के भेद से दो प्रकार का है।

---

१. 'न च घटविशेष्यकघटत्व-प्रकारकबोधे जातिशक्तिज्ञानत्वेन व्यक्तिशक्तिज्ञानत्वेन वा हेतुत्वान्नायं दोष इति वाच्यम्। द्रव्यादि-पदानामप्येवमापत्तौ घटादिपदात् द्रव्यत्वप्रकारक-बोधापत्तेः।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९०, पङ्क्ति ३३ से पृ० ९१, पङ्क्ति ३

२. 'न च पदज्ञानस्य सम्बन्धिज्ञानविधया हेतुत्वेन येन रूपेणोपस्थितयोः सम्बन्धस्तेन रूपेणोपस्थापकत्व-नियमः। एवं च घटत्वांशे शक्त्यग्रहेपि तेनैव रूपेणोपस्थितिरिति वाच्यम्। उपस्थितस्यकाशादेरपि अन्वयापत्तेरिति। एवं च द्विकं प्रातिपदिकार्थ इति।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९१, पङ्क्ति ३ से ६

१. शास्त्रीय लिङ्ग

'इयं व्यक्तिः', 'अयं पदार्थः', 'इदं वस्तु' इत्यादि व्यवहार-स्थलों में किस स्थल में कौन से लिङ्ग का प्रयोग हो, ऐसी व्यवस्था का प्रश्न उपस्थित होने पर' अमुक अमुक स्थलों में पुल्लिङ्ग, अमुक अमुक स्थलों में नपुंसक लिङ्ग तथा अमुक अमुक स्थलों में स्त्री लिङ्ग का प्रयोग होगा, इस प्रकार शास्त्र द्वारा उपस्थित लिङ्ग शास्त्रीय लिङ्ग हैं।[1]

२. लौकिक लिङ्ग

तत्तत् व्यक्ति-विशेष में विद्यमान अवयव-संस्थान-रचना-विशेष के रूप में व्यवस्थित लिङ्ग लौकिक लिङ्ग है।[2] यह लौकिक लिङ्ग सत्त्व, रज तथा तमरूप गुणों की वृद्धि, अपचय तथा स्थितिरूप है।[3]

प्रातिपदिकार्थ चतुष्टय-निरूपण

कुछ आचार्यों के मतानुसार जाति, व्यक्ति, लिङ्ग तथा संख्या, ये चारों प्रातिपदिक-पदों के अर्थ हैं। **'दधि पश्येत्'** इत्यादि स्थलों में प्रातिपदिक दधि से ही इन चारों का बोध होता है। दधिनिष्ठ द्वितीय-विभक्ति केवल द्योतक होने से इन चारों की वाचक नहीं है अतः ये चारों प्रातिपदिकार्थ हैं।[4]

पञ्चप्रातिपदिकार्थ-निरूपण

इस विषय में आलङ्कारिकों का कहना है कि शब्द अपने विषय का अनादर करके अर्थ को प्रकाशित नहीं करता, अपितु स्वकीय अर्थ को अपना विषय बनाकर ही उसे प्रकाशित करता है अतः इनके मतानुसार जाति, व्यक्ति,

---

१. 'इयं व्यक्तिरयं पदार्थ इदं वस्त्विति सर्वत्र व्यवहाराद्व्यवस्थितं लिङ्गत्रितय-निबन्धनकार्योपयुक्तमाद्यम्।'–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९१ पङ्क्ति ९ से १०

२. अवयव-संस्थान-विशेषवत्वमन्त्यं तत्तव्द्यक्ति-विशेषनिष्ठं व्यवस्थितम्।
–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९१ पङ्क्ति ८ से ९

३. तच्च सत्त्वरजस्तमोगुणानां वृद्ध्यपचयस्थितिरूपमिति पतञ्जलिस्वामिनः।
–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९१, पङ्क्ति १० से ११

४. 'यद्वा जातिव्यक्तिलिङ्गसंख्या इति चतुष्कं प्रातिपदिकार्थः। दधि पश्येतेत्यादौ प्रातिपदिकादेव तत्प्रत्ययात्। एवञ्च विभक्तेर्द्योतकत्वमात्रम्।'८
–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९१, पङ्क्ति २३ से २५

लिङ्ग, संख्या के साथ ही विषयत्व भी प्रातिपदिकार्थ है अतः प्रातिपदिकार्थ इनके मतानुसार पाँच हैं।[१]

षट् प्रातिपदिकार्थ-निरूपण

कतिपय अन्य आचार्यों के मतानुसार शब्द भी प्रातिपदिकार्थ है अतः इनक मत में छह प्रातिपदिकार्थ हैं।[२] इस विषय में इनका कहना है कि शक्ति के विषय रूप में ही अर्थ की प्रतीति होती है। आश्रयता-सम्बन्ध तथा निरूपकता सम्बन्ध मे से किसी एक सम्बन्ध से जिसमें शक्ति विद्यमान हो, वही शक्ति का विषय है। अर्थ, शक्ति से निरूप्य तथा शक्ति, अर्थ की निरूपक होने से अर्थ में शब्दनिष्ठा शक्ति निरूपकता-सम्बन्ध से रहती है। इसलिए 'गौ-शब्द की अर्थ में शक्ति है,' इस ज्ञान से गौ शब्द से गोत्वरूप अर्थ के ज्ञान के साथ ही गो शब्द का भी मान होता है। इसी प्रकार घटादि पदों के शक्ति-सम्बन्ध द्वारा घटत्व के ही समान घटादि शब्द भी शक्य(वाच्य) हैं। अन्तर इतना ही है कि शक्तिरूप सम्बन्ध, शब्द तथा अर्थ दोनों का निरूप्य होने से उससे शब्द तथा अर्थ दोनों संबंधियों की समान रूप से उपस्थिति हो जाती है। इस प्रकार घटादि पदों से घटत्वादि से अवछिन्न शक्तिरूप सम्बन्ध द्वारा घटादि अर्थों के समान घटादि शब्दों की भी अभिधा-वृत्ति से उपस्थिति हो जाने पर घटादि पदों से अर्थबोध मे तात्पर्य होने पर शब्द उस अर्थ के विशेषण रूप में प्रतीत होता है तथा घटत्वरूप से घट के बोध में घट पद और जाति दोनों का विशेषण रूप में भान होता है।[३]

---

१. 'आलङ्कारिकास्तु' विषयत्वमनादृत्य शब्दैनार्थः प्रकाश्यते इति मतावष्टम्भेन प्रञ्चकं प्रातिपदिकार्थः। —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९१, पङ्क्ति २८ से ३०

२. परे तु शब्दस्यापि प्रातिपदिकार्थत्वात्षट्कं प्रातिपदिकार्थः। —वही, पृ० ९१, पङ्क्ति ३१

३. 'अन्ये तु शक्तिविषयोऽर्थो भासते, शक्तिविषयत्वं चाश्रयतानिरूपकतान्यतरसम्बन्धेन शक्तिमत्वम्। तथाचार्थ-शक्तिज्ञानेनैव पदस्यापि भानम्। तेन घटादिपदानां शक्ति-सम्बन्धेन घटत्वादिवत्पदमपि शक्यम्। एतावांस्तु विशेषो यत्सम्बन्धस्योभय-निरूप्यत्वेन सम्बन्धि-द्वयोपस्थापकत्वाविशेषाद् घटत्वाद्यवच्छिन्नशक्त्यैव घटादिवच्छब्दस्यापि तथैव वृत्योपस्थितौ सत्यामर्थबोधे तात्पर्ये सति तत्र विशेषणतया भासते। तत्रापि घटत्वादि-रूपेण विशिष्यशक्तिग्रहवतां पदजात्युभयप्रकारक-बोधः।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९२, पङ्क्ति ४ से ११

नल, युधिष्ठिर आदि में नलत्व, युधिष्ठिरत्वादि 'एक-वृत्ति होने से जाति न होने के कारण इन पदों से नलत्वविशिष्ट नल, युधिष्ठिरत्व-विशिष्ट युधिष्ठिर, इस प्रकार जातिशिष्ट अर्थों में नलादि पदों की शक्ति का ज्ञान असम्भव होने के कारण इनसे तथा इसी तरह के राम, कृष्ण, चैत्र, मैत्रादि पदों से केवल पद-प्रकारक व्यक्तिविशेष्यक बोध ही मानना चाहिए।[1]

'गोशब्दमुच्चाश्य' इत्यादि उदाहरणों में जहाँ पर शब्दमात्र में तात्पर्य होता है, वहाँ पद की अभिधा शक्ति से 'गो' आदि शब्दों का प्रधान विशेष्य रूप में भान होता है। जहाँ पर शब्द में तात्पर्य न होकर अर्थ मे तात्पर्य होता है, वहाँ पर अर्थ के विशेषण रूप में ही शब्द की प्रतीति होती है। इसलिए **'अग्निहोत्र जुहोति'**[2] इत्यादि स्थलों में **अग्निहोत्र-नामकेन यागेन भावयेत्** (अग्निहोत्र नामक याग से (स्वर्ग) सम्पन्न करे।) ऐसा शब्दबोध निष्पन्न हो जाता है। फलतः अग्निहोत्र पद की अग्निहोत्र नामक याग में निरूढ़ लक्षणा मानने का सिद्धान्त भी निरस्त हो जाता है। लक्षणा वहीं मानी जाती है, जहाँ अभिधा शक्ति से अर्थबोध करने पर पदार्थों के परस्पर अन्वय की अनुपपत्ति हो, लेकिन यहाँ पर अग्निहोत्र पद का तात्पर्य याग रूप अर्थ में होने के कारण अग्निहोत्र शब्द का याग के साथ विशेषण रूप में अन्वय करने पर शब्दबोध की उपपत्ति हो जाने के कारण लक्षणा मानने की अवश्यकता नहीं रहती अतः उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि शब्द भी प्रातिपदिकार्थ है। इसलिए छह प्रातिपदिकार्थ हैं।[3]

जातिशक्तिवाद (सिद्धान्त-पक्ष)-निरूपण

जाति में प्रतिपादिक पदों की शक्ति मानने वाले मीमांसकों का कहना है कि यदि जाति में शक्ति न मानकर व्यक्ति में मानें तो ऐसी स्थिति में अनेक

---

१. नल-युधिष्ठिरादि-पदवद्विशिष्य-शक्तिग्रहाभावे व्यक्तिविशेष्यकः केवल-पद-प्रकारको नल-पदवाच्यः कश्चिदित्याद्याकारको बोधः।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९२ पङ्क्ति ११ से १२

२. तैत्तिरीय संहिता १/५/९/१/१८

३. 'यत्र तूक्तोदाहरणेषु शब्दमात्रे तात्पर्यं तदा तत्र शक्त्या शब्दस्वरूपस्य प्राधान्येन भानमिति। एवं क्वचित्तात्पर्यवशाच्छब्द एव प्राधान्येन भासते क्वचित्तदभावेऽर्थ-विशेषणत्वेनेति सिद्धम्। अत एवाग्निहोत्रं जुहोतीत्यादौ तस्य विशेषणत्वेनान्वयादग्नि-होत्रनामकेनेति बोधः। एतेनाग्निहोत्रनामके निरूढलक्षणेति निरस्तम्, अनुपपत्याभावात्, अतः शब्दोऽपि वाच्यः।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९१, पङ्क्ति १३ से १८

व्यक्तियों में एक शक्ति माननी होगी या फिर अनेक व्यक्तियों में परस्पर भिन्न अनेक शक्तियों को मानना होगा, परन्तु इन दोंनों स्थितियों में से किसी भी स्थिति का स्वीकार सम्भव नहीं है, क्योंकि व्यक्ति अनन्त होने के कारण यदि एक में शक्ति मानी जाएगी तो दूसरे का बोध नहीं होगा अत: अनेक व्यक्तियों में एक शक्ति नहीं मानी जा सकतीं। यदि अनेक व्यक्तियों में से प्रत्येक में शक्ति मानकर अनेक शक्तियाँ मानें तो इससे अनन्त-शक्तिकल्पना रूप गौरव दोष हो जाएगा।[१]

इसके अतिरिक्त अनेक व्यक्तियों में अनेक शक्ति या अनेक व्यक्तियों में एक शक्ति, इन दोनों मतों में किसी भी मत को मानने पर गौ:, शुक्ला चलति, ये तीनों पद एक गो रूप व्यक्ति के बोधक होने से इनमें अर्थभेद न होने के कारण ये गौ पद के पर्याय बन जाएङ्गे। फलत: इनका एक साथ जो अनुप्रयोग होता है, उसकी अनुपपत्ति हो जाएगी। इसके विपरीत गोत्व रूप जाति में गौ पद की शक्ति मानने पर गौ, शुक्ला चलति आदि पद 'गौ' व्यक्ति के बोधक होने के कारण इनसे भिन्न गोत्व में गोपद की शक्ति होने से इनके सह-प्रयोग की उपपत्ति हो जाती है अत: जाति पदवाच्य (प्रातिपदिकार्थ) है।[२]

आकाश, काल, दिक् आदि सर्वत्र व्याप्त विभुत्व-बोधक पदों की शक्ति आकाशदि व्यक्तियों में ही होती है। आकाश आदि एक व्यक्ति होने से इनमें शक्ति मानने पर अनन्त-शक्तिकल्पनारूप गौरव दोष नहीं होता अत: इन स्थलों में आकाशत्वादि उपाधि रूप धर्मों में शक्ति नहीं मानी जाती।

इसी प्रकार नील पीतादि गुणवाचक पदों की नील पीतादि व्यक्तियों में विद्यमान नीलत्व, पीतत्वादि जातियों में ही शक्ति मानी जाती है।

इसी तरह 'चलना' इस स्थल में चलना पद की शक्ति भी चलन-क्रियानिष्ठ जाति में ही होती है।[३]

---

१. 'व्यक्तिसङ्केतपक्षे सर्वासु व्यक्तिषु सङ्केत एको नाना वा। नाद्य:, आनन्त्यात्। नान्त्यो, व्यभिचारापत्ते:।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९०, पङ्क्ति ७ से ८

२. 'गौ: शुक्लश्चल-इत्यादिपदानां व्यक्त्येक्येनार्थभेदाभावात्सहप्रयोगानुपपतेश्च अतो धर्म एव शक्ति:।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९०, पङ्क्ति ८ से १०

३. 'आकाशादिपदे अनन्तशक्तिकल्पनाभावेन न धर्मे शक्ति:। एवञ्च सर्वत्र नाना-नीलपीतरूपव्यक्तिषु वर्त्तमाना नीलत्व-पीतत्वादि-जातिर्नीलपीतादिपदवाच्या। चलनेत्यत्रापि चलनक्रियानिष्ठा जातिरेव।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९०, पङ्क्ति १४ से १६

उपर्युक्त दोनों स्थलों के समान डित्थादि पदों की शक्ति भी बाल्य-यौवन-वार्धक्य रूप परस्पर-विरूद्ध धर्मों के अध्यास से परस्पर भिन्न डित्थव्यक्तिनिष्ठ डित्थत्वादि जाति में ही होती है। इस विषय में कुछ लोगों का ऐसा भी कहना है कि बालक, वृद्ध तथा शुकादिकों द्वारा उच्चरित डित्थादि शब्द परस्पर भिन्न होने से डित्थादि पदों की शक्ति डित्थादि व्यक्ति तथा तन्निष्ठ जाति दोनों में नहीं होती, अपितु डित्थादि शब्दनिष्ठ जाति (डित्थशब्दत्व) में ही होती है।[१] इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि जाति ही नामार्थ (प्रातिपदिकार्थ) है। बिना व्यक्ति के जाति असम्भव होने की युक्ति से आक्षेप द्वारा व्यक्ति की भी प्राप्ति हो जाती है।[२]

आक्षेप क्या है? इसे स्पष्ट करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि व्यक्ति का स्वीकार किए बिना क्रिया में जाति के अन्वय की अनुपपत्ति हो जाती है, जिसके निवारणार्थ उपपादक के रूप में व्यक्ति की कल्पना रूप अर्थापत्ति ही आक्षेप है।

या फिर एक ही ज्ञान में घट व्यक्ति तथा घटत्व जाति दोनों का भान होने से घटत्व जाति के साथ घट व्यक्ति की भी समान-संवित-संवेद्यता (एक ज्ञान-बोध्यता) से होने वाली जो उपस्थिति है, उसे भी आक्षेप माना जा सकता है।

इन दोनों के अतिरिक्त '**पङ्कज**' पद का भेकादि रूप अर्थ सम्भव होने पर भी 'कमल' रूप पदार्थ में होने वाली '**पङ्कज**' पद की निरूढ लक्षणा के समान घटादि पदों से घटत्वादि जातिरूप अर्थ की उपस्थिति होने पर भी घटादि प्रसिद्ध व्यक्ति रूप अर्थ में घटादि पदों की जो निरूढ़ लक्षणा है, उसे भी आक्षेप माना जा सकता है। इस प्रकार व्यक्ति का आक्षेप द्वारा भान हो जाने से घटादि पदों का शक्य अर्थ जाति ही है अतः यह जाति ही प्रातिपदिकार्थ है।[३]

---

१. 'डित्थादिशब्दानामपि बालाद्यवस्थापरिणते नाना विरुद्धधर्माध्यासाद्भिन्न-डित्थाद्यर्थनिष्ठा डित्थत्व-जातिरेव वाच्येति। बालवृद्धशुकोदीरितशब्दभेदेन शब्दनिष्ठैव जातिर्वाच्येत्यपि केचित्।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९०, पङ्क्ति १७ से १९

२. 'तत्राप्येवं विभागः। जातिरेव नामार्थ, उक्तयुक्त्या आक्षेपाच्च व्यक्तिलाभः।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९०, पङ्क्ति २० से २१

३. 'अर्थापत्तिः समानवित्तिवेद्यत्वं वाऽऽक्षेपः। निरूढलक्षणा वा। तेन वृत्त्या प्रकृत्युप. स्थाप्यत्वस्य प्रकृत्यर्थात्वान्न प्रत्ययार्थान्वयाद्यनुपपत्तिः।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९०, पङ्क्ति २१ से २३

सुबर्थ-निरूपण

विभक्त्यर्थ-निरूपण

विभक्तियों के अर्थ का निरूपण करते हुए वैयाकरण कहते हैं कि प्रथमा तथा षष्ठी, इन दो विभक्तियों को छोड़कर अन्य सभी विभक्तियां कारक विभक्तियां हैं।[१]

प्रथमा-विभक्त्यर्थ-निरूपण

प्रथमा विभक्ति के अर्थ को स्पष्ट करते हुए वैयाकरण कहते हैं कि '**प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा**[२] इस सूत्र के अनुसार लिङ्ग, परिमाण तथा वचनों में लिङ्गत्व, परिमाणत्व तथा संख्यात्व-रूप से प्रथमा की शक्ति है। अतः लिङ्ग, परिमाण तथा वचन, ये ही प्रथमा के अर्थ हैं।

पुमान् देवदतः, द्रोणो व्रीहिः एको घटः, इत्यादि स्थलों में पुंस्त्व, द्रोणत्व तथा एकत्व-रूप प्रातिपदिकार्थ का दो नामार्थों में परस्पर भेदान्वय अव्युत्पन्न होने के कारण देवदत्तादि में इनका समवाय-सम्बन्ध से अन्वय असम्भव होने से इन पुंस्त्वादि प्रातिपदिकार्थों का लिङ्गादि में अभेद से तथा विभक्त्यर्थ का देवदत्तादि में विशेषण रूप से अन्वय हो जाने पर '**पुमान् देवदत्तः**' इस वाक्य का '**पुंस्त्वाभिन्नलिङ्गवान् देवदत्तः**' '**द्रौणोव्रीहिः**' का '**द्रोणभिन्न-परिमाणवान् व्रीहिः**' '**एको घटः**' का '**एकत्वाभिन्न संख्यावान् घट**', ऐसे शाब्द-बोधों की उपपत्ति हो जाती है।[३]

---

१. 'अथ सुब्विभक्त्यर्थो निरूप्यते। प्रथमाषष्ठीवर्जं सर्वविभक्तयः कारकाणि।'
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९२, पङ्क्ति २६ से २७

२. पा० सू० २/३/४६

३. तत्र 'प्रातिपदिकार्थलिङ्ग-परिमाणवचनमात्रे प्रथमा' (पा०सू० २/३/४६)। लिङ्गपरिमाणवचनानां लिङ्गत्वपरिणामत्वसंख्यात्वप्रकारकशक्त्या लिङ्गादिषु प्रथमायाः शक्तिः। पुमान् देवदत्तः द्रोणे व्रीहिः एको घट इत्यादौ पुंस्त्वद्रोणत्वैकत्वानां

षष्ठी विभक्त्यर्थ-निरूपण

षष्ठी विभक्त्यर्थ के विषय में प्राचीन आचार्यों का कहना है कि प्रथमा-विभक्ति के समान 'षष्ठी शेषे'[१] इस सूत्र से विहित षष्ठी भी कारक विभक्ति नहीं है। कर्मत्व, करणत्व आदि द्वितीयादि विभक्तियों के अर्थ से शेष (भिन्न) सम्बन्ध-सामान्य में षष्ठी विभक्ति की शक्ति होने से सम्बन्ध यह षष्ठी का शक्त (शक्य) अर्थ तथा सम्बन्धत्व, यही शक्यतावच्छेदक है।

इस सम्बन्ध-सामान्य से अतिरिक्त स्वत्व, स्वामित्व, विषयत्व, साध्यत्व तथा जनकत्वादि सम्बन्ध-विशेषों में षष्ठी विभक्ति की शक्ति नहीं होती, अपितु लक्षणा ही होती है। फलतः **'चैत्रस्य धनम्'** (चैत्र का धन), **'सर्पिषो-जानीते'** (घी को जानता है) तथा **'मातुः स्मरति'** (माता का स्मरण करता है), इन वाक्यों का क्रमशः 'चैत्रनिरूपित सम्बन्ध-प्रकारक धन-विशेष्यक धन', सर्पि-निरूपित सम्बन्ध-प्रकारक ज्ञान-विशेष्यक ज्ञान तथा मातृ-निरूपित सम्बन्ध -प्रकारक स्मरण-विशेष्यक स्मरण-ज्ञान, इस प्रकार केवल सम्बन्ध-प्रकारक बोध ही होता है।

इन स्थलों में 'स्वत्व तथा ज्ञानविषयत्व' रूप जो विशेष सम्बन्ध है, उनका वक्ता के तात्पर्य का ग्रहण होने पर लक्षणा से ही बोध होता है। या फिर इस सम्बन्ध-विशेषों का मानस ज्ञान भी माना जा सकता है अतः 'षष्ठी' की शक्ति केवल सम्बन्ध रूप अर्थ में मानना ही समीचीन है।

प्रातिपदिकार्थानां देवदत्तादौ न समवायसम्बन्धेनान्वयः सम्भवति। नामार्थयोर्भेदान्व. यस्याव्युत्पत्तेः। अतो लिङ्गादिकं प्रथमार्थः। तत्र च प्रातिपदिकार्थानां पुंस्त्वादीनाम. भेदेनान्वयः, विभक्त्यर्थश्च देवदत्तादौ प्रकारतयान्वेति। एवञ्च पुंस्त्वाभिन्नलिङ्गवान् देवदत्तः। द्रोणाभिन्नपरिमाणवान् व्रीहिः। एकत्वाभिन्नसंख्यावान् घट इत्यादि बोधोपपत्तिरिति वैयाकरणाः।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९२, पङ्क्ति २७ से पृ० ९३, पङ्क्ति ५

२. 'एवं षष्ठ्यपि 'षष्ठीशेषे' इति सूत्रेण विहिता न कारक-विभक्तिः। शेषे उक्तकर्मत्वादिद्वितीयाद्यर्थभिन्ने सम्बन्धमात्रे षष्ठीति सूत्रार्थः। एवञ्च सम्बन्धे षष्ठ्याः शक्तिः। सम्बन्धत्वं शक्यतावच्छेदकं चैत्रस्य धनमित्यादौ सम्बन्धप्रकारक एव बोधः। स्वत्वस्वामित्वविषयत्वसाध्यत्वजनकत्वादिविशेषे तु लक्षणा। एवं सर्पिषो जानीते मातुः स्मरतीत्यादौ सम्बन्धत्वप्रकारक एव बोधः। तात्पर्यग्रहाच्च विशेषबोधो लक्षणया मानसो वेति जीर्णाः।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९३, पङ्क्ति २४ से ३०

प्राचीन आचार्यों के विपरीत नवीन आचार्यों का कहना है कि स्वत्व-स्वामित्वादि-सम्बन्ध-विशेषों में ही षष्ठी की शक्ति है अत: सम्बन्ध सामान्य षष्ठी का शक्त (शक्य) अर्थ नही है, अपितु स्वत्वादि सम्बन्ध-विशेष ही षष्ठी के शक्त अर्थ हैं। इसलिए **'चैत्रस्य धनम्'** यहाँ पर केवल सम्बन्ध-प्रकारक धन बोध नहीं होता, अपितु 'चैत्रनिरूपति स्वत्व रूप सम्बन्ध-विशेष-प्रकारक विशेष्यक धन, ऐसा सम्बन्ध-विशेष-प्रकारक ही बोध होता है।[१]

नवीन आचार्यों के उपर्युक्त सिद्धान्त का खण्डन करते हुए प्राचीन आचार्य कहते हैं कि स्वत्व, स्वामित्वादि सम्बन्ध-विशेषों में षष्ठी की शक्ति मानने पर, सम्बन्ध-विशेष अनेक होने के कारण षष्ठी विभक्ति में अनेक शक्तियों की कल्पना करनी होगी, जिसमें अत्याधिक गौरव हो जाएगा। इसके अतिरिक्त 'स्वत्व, स्वामित्वादि षष्ठ्यर्थ हैं,' इतना ही शास्त्र का कथन है, इनमें षष्ठी की शक्ति है, ऐसा कथन नही है तथा लक्षणा द्वारा भी इन अर्थों की उपस्थिति हो जाती है अत: इन सम्बन्ध-विशेषों में षष्ठी की लक्षणा मानना ही समीचीन है। सम्बन्ध-विशेषों में षष्ठी की लक्षणा के इस नियम को वाक्य-विशेषों में ही समझना चाहिए। अनेक स्थलों में षष्ठी की लक्षणा नहीं भी होती जैसे-

'ज्ञोऽविदर्थस्य करणे'[२] इस सूत्र से ज्ञान से भिन्न अर्थ वाले जानाति के समभिव्याहार में करणत्व रूप सम्बन्ध-विशेष में षष्ठी की लक्षणा न मानकर शक्ति ही मानी गई है।[३]

---

१. नव्यास्तु षष्ठ्या स्वत्वादौ शक्ति:। चैत्रस्य धनमित्यत्र निरूपितत्वस्वत्वादिप्रकारक एव बोध:। एवं चैत्रस्य न धनमित्यत्र चैत्रनिरूपितस्वत्वाभाववद्धनमिति बोध:। स्वामित्वं वा षष्ठ्यर्थ:। चैत्रनिष्ठस्वामित्वनिरूपकं धनमिति बोध:, चैत्रस्य न धनमित्यादौ चैत्रनिष्ठस्वामित्वनिरूपकत्वाभाववद्धनमिति बोध:। एवं घटस्याभाव इत्यादौ प्रतियोगित्वादिकं, घट-प्रतियोगिकोऽभाव इति बोध:। एवं स्वत्वादिविशेष आनुशासनिकीं शक्तिमाहु:।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९३, पङ्क्ति ३१, से पृ० ९४, पङ्क्ति ४

२. पा० सू० २/३/५१।

३. तन्न-नानाशक्तिकल्पने गौरवात्। अनुशासनानां लाक्षणिकत्वेनाप्युपपत्ते:। समभिव्याहार-विशेषे लक्षणानियमार्थानि चानुशासनानि। तेनान्यत्र लक्षणयाऽपिन प्रयोग:। यथा 'ज्ञोऽविदर्थस्य करणे।' ज्ञानभिन्नार्थक-जानातिसमभिव्याहारे करणत्वे षष्ठी।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९४, पङ्क्ति ५ से ९

कारकविभक्ति : कारकत्व-निरूपण

उपर्युक्त प्रथमा तथा षष्ठी को छोड़कर द्वितीयादि कारक विभक्तियों में विद्यमान कारकत्व के स्पष्टीकरणार्थ भाट्टचिन्तामणिकार ने पूर्वपक्षकृत लक्षणों की निम्नलिखित क्रम मे उपस्थापना करते हुए सिद्धान्त-मत का प्रतिपादन किया है।

नैयायिक-मत-निरूपण

इस विषय में नैयायिकों का कहना है कि यदि 'क्रिया का प्रयोजक होना ही कारक है।' ऐसा कारक का लक्षण मानें तो **'देवदत्तस्य तण्डुलं पचति'** (देवदत्त का चावल पकता है।) यहाँ पर चावल की पाकक्रिया के प्रयोजक रूप में देवदत्त की अनुमिति होने से क्रिया के प्रयोजक देवदत्त में कारकत्व की अतिव्याप्ति हो जाती है।

इसी प्रकार 'क्रिया का जनक होना ही कारक है' ऐसा भी कारक का लक्षण नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि कारक का ऐसा लक्षण मानें तो **'यथाज्ञानं पचति'** (जैसा ज्ञान है, वैसा पकाता है) यहाँ पर पाक-क्रिया के जनक ज्ञान में भी कारकत्व के इस लक्षण की सङ्गति हो जाने के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है।[१]

यदि 'धात्वर्थ से अन्वित विभक्त्यर्थ में अन्वित होना' ही कारकत्व का लक्षण मानें तो 'जहाँ पर उपपद चतुर्थी विभक्ति हुई है ऐसे 'धनाय गच्छति' 'धनमानेतुं गच्छति' (धन लाने के लिए जाता है) इत्यादि स्थलों में धात्वर्थ आनयन से अन्वित विभक्त्यर्थ में अन्वित अकारक धन में तथा 'स्वर्गाय यतते -स्वर्गं प्राप्तुं यतते' (स्वर्ग - प्राप्ति के लिए यत्न करता है)। यहाँ पर धात्वर्थ प्राप्ति से अन्वित विभक्त्यर्थ में अन्वित अकारक स्वर्ग में कारकत्व की अतिव्याप्ति हो जाती है।

इस प्रकार उपर्युक्त तीनों लक्षण दोषग्रस्त होने के कारण 'कर्ता तथा कर्म

---

१. एतद्वर्जं द्वितीयादिविभक्तयः काकाणि। ननु किमिदं कारकत्वम्। न तावत्क्रियाप्रयोजकत्वम्। देवदत्तस्य तण्डुलं पचतीत्यत्रानुमितिद्वारा क्रियाप्रयोजके देवदत्तेऽतिप्रसङ्गात्। नापि क्रियाजनकत्वम्। यथाज्ञानं पचतीति ज्ञानेऽतिप्रसक्तेः।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९५, पङ्क्ति २३ से २६

इन दोनों में अन्यतम होना ही कारक है' ऐसा ही कारकत्व का लक्षण निष्पन्न होता है।[1]

रत्नकोशकार-मत-निरूपण

इस सम्बन्ध में रत्नकोशकार का कहना है कि (गोत्वादि) समवेत तथा (कर्तृत्वादि) असमवेत, भेद से समान्य दो प्रकार का होने से इनमें जो (क्रिया) में अनुगत रूप से व्यवहार-सिद्ध, कर्तृत्व (कर्मत्व, करणत्व, सम्प्रदानत्व) आदि अखण्डोपाधिरूप-सामान्य है, वही कारक है।[2]

सिद्धान्तमत-निरूपण

मीमांसकों के सिद्धान्त मत की उपस्थापना करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि 'आख्यातार्थ (आर्थी भावना) में अन्वित विभक्त्यर्थ (क्रिया) में अन्वित होना ही कारकत्व है। 'यजेत' इत्यादि स्थलों में आर्थी भावना में अन्वित विभक्त्यर्थ-याग-क्रिया में अन्वित 'त' प्रत्ययवाच्य लिङ्ग संख्यादिकों में कारकत्व होना इष्ट होने के कारण यहाँ पर कारकत्व के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।[3]

प्रथमा तथा षष्ठी के अतिरिक्त द्वितीयादि कारक विभक्तियों का भाट्टचिन्तामणिकार में निम्नलिखित रूप से क्रमशः निरूपण किया है।

द्वितीया विभक्त्यर्थ-निरूपण

द्वितीया विभक्ति का अर्थ कर्मत्व है। इस कर्मत्व के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि 'क्रिया-जन्य फल से युक्त होना ही कर्मत्व है।' '**घटं पश्यति**' यहाँ पर दर्शन-क्रियाजन्य ज्ञातता घटनिष्ठ होने के

---

१. 'अथ धात्वर्थान्वितविभक्त्यर्थान्वयित्वं कारकत्वम्। धनाय गच्छति स्वर्गाय यतते इत्यादावकारकयोर्धनस्वर्गयोरतिव्याप्तेः। तस्मात्कर्तृकर्माद्यन्यतमत्वं कारकत्वमिति नैयायिकाः।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९५, पङ्क्ति २६ से ३१

२. 'सामान्यतः समवेतासमवेतस्य द्वैविध्यात्कारकत्वं कर्तृत्वादिकं चानुगतव्यवहार-सिद्धमखण्डोपाधिरूपं सामान्यमिति रत्नकोशकृतः।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९५, पङ्क्ति ३२ से पृ० ९६, पङ्क्ति २

३. सिद्धान्तस्त्वाख्यातार्थान्वितविभक्त्यर्थान्वयित्वं कारकत्वम्। लिङ्गसंख्यादीनां कारकत्वमिष्टमेव। —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९६, पङ्क्ति ३ से ४

कारण दर्शन-क्रिया के कर्म घट में कर्मत्व के इस लक्षण की सङ्गति हो जाती है।[१]

कर्मभेद-निरूपण

उपर्युक्त कर्म, '**कर्तुरीप्सिततमं कर्म**'[२] (कर्ता का ईप्सिततम कर्म होता है।) एवं '**तथा युक्तं चानीप्सितम्**'[३] (ऐसे ही अनीप्सित भी कर्म होता है।) इन दोनों व्याकरण-सूत्रों के अनुसार ईप्सिततम कर्म तथा अनीप्सित कर्म, इस भेद से कर्म दो प्रकार का है।[४]

ईप्सिततमकर्मभेद-निरूपण

उपर्युक्त दोनों कर्मों में प्रथम ईप्सिततम कर्म के उत्पाद्य, प्राप्य, विकार्य तथा संस्कार्य, ये चार भेद है।

प्रथम-उत्पाद्य ईप्सिततम कर्म में उत्पत्ति क्या है? इसे स्पष्ट करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं जिस आकार से कारक शब्द के द्वारा बताया गया हो, उस अविद्यमान का उत्पादन ही उत्पत्ति है। जैसे '**यूपं छिनति**' तथा '**घटं कुरुते**' यहाँ पर पशुबन्धन में प्रयुक्त वस्तु विशेष के आकार से यूप शब्द द्वारा बताए गए यूप की छेदन क्रिया के पूर्व अविद्यमानता होने से छेदन क्रिया के पश्चात् ही उसकी उत्पत्ति होने से तथा कम्बुग्रीवादि युक्त आकार से घट शब्द द्वारा बताए गए घटरूप कर्मकारक की भी घट-निर्माण-क्रिया के पूर्व अविद्यमानता रहने से इस अविद्यमान घटरूप कर्म की क्रिया द्वारा उत्पत्ति होने से दोनों उत्पाद्य ईप्सिततम कर्म हैं।[५]

---

१. 'तत्र द्वितीयायाः कर्मत्वमर्थः। तच्च क्रियाजन्यफलशालित्वम्। घटं पश्यतीत्यत्र दर्शनजन्यज्ञाततया घटनिष्ठत्वाल्लक्षणसमन्वयः।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ९६, पङ्क्ति ८ से ९

२. पा॰ सू॰ १/४/४९

३. वही, १/४/५०

४. 'तच्च कर्म द्विविधम्।' 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' तथा 'तथायुक्तं चानीप्सितम्' इति व्याकरणात्। —भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ९६, पङ्क्ति १९ से २०

५. 'तत्राद्यं चतुर्धा उत्पाद्यप्राप्यविकार्यसंस्कार्यभेदात्। उत्पत्तिर्नाम येनाकारेण कारकमभिधानोपात्तं तस्यासत एवोत्पादनम्। यथा 'यूपं छिनत्ति', 'घटं कुरुते'।

द्वितीय प्राप्य ईप्सिततम कर्म में प्राप्ति क्या है? इसे स्पष्ट करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि विद्यमान होते हुए भी अप्राप्त-कारक का प्राप्त होना प्राप्ति है। जैसे **'पयो दोग्धि'** यहाँ पर गो में विद्यमान रहने पर भी दोहन-क्रिया के पूर्व अप्राप्त पयरूप कर्म-कारक की दोहन से प्राप्ति होने के कारण पयरूप कर्म प्राप्य ईप्सिततम कर्म है।[१]

तृतीय विकार्य-कर्म में विद्यमान विकृति को स्पष्ट करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि प्राप्त कारकगत इष्ट अतिशय का उत्पादन विकृति है। जैसे **व्रीहीनवहन्ति** यहाँ पर प्राप्त व्रीही में अवहनन से दृष्ट तण्डुलनिष्पत्ति रूप अतिशय उत्पन्न होने से अवहनन्-क्रिया का कर्म 'व्रीहि' विकार्य ईप्सिततम् कर्म है।[२]

चतुर्थ संस्कार्य कर्म में विद्यमान संस्कार पद के अर्थ को स्पष्ट करते हुए भाट्टाचिन्तामणिकार कहते हैं कि प्राप्त विकार्य-कर्म में अदृष्ट (अतिशय) अपूर्व का उत्पादन संस्कार हैं। जैसे **'व्रीहीन्प्रोक्षति'** यहाँ पर प्राप्त व्रीही में प्रोक्षण से अदृष्ट (प्रत्यक्ष से अगोचर) अपूर्व उत्पन्न होने से व्रीहि संस्कार्य रूप ईप्तिसततम् कर्म है।[३]

अनीप्सितकर्म-भेद-निरूपण :

अनीप्सित कर्म के भी उदासीन अनीप्सित, द्वेष्य अनीप्सित, संज्ञान्तर से अनाख्यात अनीप्सित तथा अन्यपूर्वक अनीप्सित, ये चार भेद हैं।

१. उदासीन अनीप्सित-कर्म :

'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पशृति' (गांव जाता हुआ तृणों का स्पर्श करता है) यहाँ पर तृण में कर्ता की इच्छा अनिच्छा, दोनों का अभाव रहने से 'तृणं' उदासीन-अनीप्सित कर्म है।

---

१. 'तस्यैव सतो प्राप्तस्य प्रापणं प्राप्तिः। यथा पयोदोग्धि।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ९६, पङ्क्ति २२

२. 'तद्गतदृष्टातिशयोत्पादनं विकृतिः। यथा व्रीहीनवहन्ति।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ९६, पङ्क्ति २२ से २३

३. 'तस्यैवादृष्टातिशयोत्पादनं संस्कार इति। यथा व्रीहीन्प्रोक्षति-(आप॰ श्रौ॰ १/१९/१) इति।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ९६, पङ्क्ति २३

२. द्वेष्य अनीप्सित कर्म

'विषं भुङ्क्ते' यहाँ पर विष में भोजन-कर्त्ता का द्वेष होने से विष, द्वेष्य अनीप्सित कर्म है।

३. अनाख्यात अनीप्सित कर्म

'गां दोग्धि पयः' यहाँ पर 'पय' ही ईप्सिततम होने के कारण 'गौ' यह अनीप्सित कर्म है तथा यह 'गौ रूप' कर्म 'गो शब्द' से भिन्न अन्य किसी संज्ञान्तर से अभीधीत न होने से संज्ञान्तर से अनाख्यात अनीप्सित कर्म है।[१]

४. अन्य पूर्वक अनीप्सित कर्म

'विषमनुक्रुध्यति' इस स्थल में मधु-विष-संयुक्त भोजन के अनन्तर विष का परिणाम प्रकट होने पर विष पर क्रोध किया जा रहा है। अतः विष यह अन्य मधु-विषयुक्त भोजन जिसके पूर्व में है, ऐसी क्रोधक्रिया का कर्म होने के कारण अन्य पूर्वक अनीप्सित कर्म हैं।[१]

तृतीया विभक्त्यर्थ-निरूपण

तृतीया-विभक्ति का अर्थ स्पष्ट करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि **'कर्तृकरणयोस्तृतीया'**[२] (अनुक्त कर्त्ता तथा करण में तृतीया विभक्ति के विधायक) इस सूत्र के अनुसार कर्तृत्व तथा करणत्व, ये दोनों तृतीयार्थ हैं।

कर्तृत्व-निरूपण

तृतीया विभक्ति के अर्थ कर्तृत्व का स्वरूप प्रदर्शित करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि 'धात्वर्थ व्यापार का आश्रयत्व ही कर्तृत्व है।'[३]

---

१. अनीप्सितमपि चतुर्विधम्। उदासीनं द्वेष्यं संज्ञान्तरैरनाख्यातमन्यपूर्वकञ्च। यथा तृणं स्पृशति। विषं भुङ्क्ते। गां दोग्धि। विषमनुक्रुध्यतीति।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९६, पङ्क्ति ३२ से पृ० ९७, पङ्क्ति १

२. 'अथ कर्तृत्वं करणत्वं च तृतीयार्थः।' कर्तृकरणयोस्तृतीया- (पा० सू० २/३/१८।) इति सूत्रात्।'

३. कर्तृत्वं-धात्वर्थव्यापाराश्रयत्वं तत्। यद्धातूत्तराख्यातेन यागाद्यसमभिव्याहृतेन। यद्धात्वर्थान्वित-धर्मवत्वं बोध्यते तद्वत्वं तक्रियाकर्तृत्वम्। चैत्रः पचति जानाति नश्यतीत्यादौ पाकानुकूल-व्यापारवत्वाश्रयत्वप्रतियोगित्वादिकमेव तत्तत्क्रिया-कर्तृत्वम्। पच्यते तण्डुल इत्यादौ कर्मण्यतिप्रसङ्गवारणाय यागाद्यसमभिव्याहृतेति।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९८, पङ्क्ति २५ से २९

कर्मणि प्रयोग में होने वाले यगादि प्रत्ययों से अनुच्चारित होते हुए धातु के आगे विद्यमान आख्यात-प्रत्यय द्वारा धात्वर्थ से अन्वित जिस धर्मवत्व (धर्मवान् में विद्यमान धर्म) का बोध होता है, वही उस क्रिया का कर्तृत्व है।

'**चैत्रः पचति**' (चैत्र पकाता है।) **जानाति** (जानता है।) **घटो नष्यति** (घट नष्ट होता है।) इन स्थलों में क्रमशः पाकजनक व्यपारवत्व, आश्रयत्व तथा प्रतियोगित्व ही इन क्रियाओं का कर्तृत्व है।

यक् प्रत्यययुक्त '**पच्यते तण्डुलः**' यहाँ पर कर्म तण्डुल में कर्तृत्व के लक्षण की अतिव्याप्ति न हो इसलिए लक्षण में 'यगादि-असमभिव्याहृत' पद का निवेश किया गया है।

करणत्व-निरूपण

कर्तृत्व के निरूपणानन्तर क्रम-प्राप्त तृतीयार्थ करणत्व 'का निरूपण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि '**साधकतमं करणम्**'[१] इस सूत्र के अनुसार साधकतम होना ही करणत्व है। इस करणत्व के लक्षण में विद्यमान साघकतमत्व क्या है? इसे स्पष्ट करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि 'अव्यवधान (साक्षात् रूप) से फलजनक व्यापारवान् होना ही करणत्व में विद्यमान साधतकमत्व है।

उक्त लक्षण के अतिरिक्त 'फल के उद्देश्य से प्रवृत्त कर्ता के व्यापार का उपकार्य होना करणत्व है' ऐसा भी करणत्व का लक्षण किया जा सकता है। '**कुठारेण छिनत्ति**' इत्यादि स्थलों में' कुठारादि करणों में करणत्व के इस लक्षण की सङ्गति हो जाती है। कारण यह है कि द्विधाभागरूप फल के उद्देश्य से प्रवृत्त स्थपति (बढ़ई) का उद्यमन-निपात रूप व्यापार, द्विधा-भाग रूप फल को उत्पन्न करने में कुठार पर उपकार करता है अतः कुठार इस व्यापार से उपकार्य होने के कारण उसमें करणत्व के इस लक्षण की सङ्गति हो जाती है।[२]

इसी प्रकार '**दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः**' यहाँ पर स्वर्ग रूप फल के उद्देश्य से प्रवृत्त पुरुष के प्रयाजादि अङ्गानुष्ठान रूप इतिकर्तव्यताव्यापार स्वर्गोत्पत्ति में दर्शपूर्णमास-याग पर उपकार करता है अतः दर्शपूर्णमास-याग इस

---

१. करणत्वं तु साधकतमत्वम्। 'साधकतमं करणम् (पा॰ सू॰ १/४/४२) इति सूत्रात्। साधकममत्वं चाव्यवधानेन फलजनकव्यापारवत्कारणत्वम्।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ९८, पङ्क्ति ३१ से ३२

२. 'फलोद्देश-प्रवृत्तकर्तृव्यापारोपकार्यत्वं वा। अस्ति चेदं कुठारदौ।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ९९, पङ्क्ति २ से ३

प्रयाजदि अङ्ग -सम्पादन रूप कर्तृव्यापार का उपकार्य होने से इसमें भी स्वर्ग-करणत्व की उपपत्ति हो जाती है।

प्रदर्शित स्थलों में तृतीयार्थ कर्तृत्व तथा करणत्व, दोनों का साक्षात् भावना में अन्वय होने के कारण इन स्थलों में होने वाली तृतीया कारकविभक्ति है, यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है।[1]

चतुर्थी विभक्त्यर्थ-निरूपण

चतुर्थी-विभक्ति का अर्थ स्पष्ट करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि '**चतुर्थी सम्प्रदाने**'[2] इस सूत्र के अनुसार (सम्प्रदान कारक-प्राप्तिकर्त्ता में चतुर्थी विभक्ति का विधान होन से)चतुर्थी विभक्ति का अर्थ सम्प्रदान है।

सम्प्रदान के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं किं 'धात्वर्थ के कर्म से व्याप्यमान होना ही सम्प्रदान है। व्याप्यमान होने का तात्पर्य अभिप्रेयमाण होना है। धात्वर्थ के कर्म से उत्पन्न होने वाले व्यापार की जिसमें उद्देश्यता हो वही अभिप्रेयमाण होता है। जैसे '**विप्राय गां ददाति**' (ब्राह्मण को गाय देता है) यहाँ पर धात्वर्थ दान के कर्मभूत गौ से उत्पन्न पय (दुग्ध), दोहनादि व्यापार की विप्र में उद्देश्यता होने से विप्र अभिप्रेयमाण हुआ है अत: विप्र में सम्प्रदानत्व की संङ्गति हो जाती है।

यहाँ पर दानकर्मीभूत गवादि-प्रग्रहीतृत्व-दान के कर्मभूत गवादि पदार्थ को विप्र स्वीकार करने वाला होने से, विप्र में सम्प्रदान अर्थ में चतुर्थी हुई है एवं इसमें धात्वर्थ के कर्म से व्याप्यमान सम्प्रदानत्व का प्रधान क्रिया में अन्वय हो जाने से यह कारक विभक्ति है।[3]

देवतात्व में चतुर्थी-शक्ति-विचार

प्राचीन मीमांसकों के मतानुसार सम्प्रदानत्व के समान देवतात्व में भी

---

१. 'एवञ्च कुठारेण छिनत्ति दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गमित्याद्युपपतिः। अत्र कर्तृत्वकरणत्वयोः साक्षाद्भावनायां सम्बन्धात्तदर्थकतृतीया कारकविभक्तिः।'

२. 'संप्रदानं चतुर्थ्यर्थः। 'चतुर्थी सम्प्रदाने' (पा॰सू॰२/३/१३) इति सूत्रात्।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ९९, पङ्क्ति ३०

३. सम्प्रदानत्वञ्च धात्वर्थकर्मणा व्याप्यमानत्वम्। व्याप्यमानत्वमभिप्रेयमाणत्वम्। धात्वर्थकर्मजन्यव्यापारोद्देश्यत्वमिति यावत्। यथा विप्राय गां ददाति दानकर्मीभूतगोजन्य-पयोदोहनादिव्यापारोद्देश्यत्वाद्विप्रस्य सम्प्रदानत्वम्।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ९९, पङ्क्ति ३१ से पृ॰ १००, पङ्क्ति २

चतुर्थी विभक्ति की शक्ति है। इस विषय में उनका कहना है कि 'तद्धित से या चतुर्थी से या फिर मन्त्रवर्ण से देवता का विधान होता है। इनमें पूर्व पूर्व की अपेक्षा पर (अर्थात् तद्धित से होने वाले देवतात्व के विधान की अपेक्षा चतुर्थी से होने वाले देवतात्व का तथा चतुर्थी से होने वाले देवतात्व के विधान की अपेक्षा मंत्रवर्ण से होने वाले देवतात्व का विधान) दुर्बल है। इस वार्त्तिक से तद्धित, चतुर्थी तथा मन्त्रवर्ण से देवतात्व के विधान की सिद्धि हो जाती है।[१]

'अग्नये स्वाहा' यहाँ पर स्वाहा शब्दार्थ–हविस्त्याग में अग्नि की विशेषणत्व रूप से प्रतीति होने के कारण अग्नि में स्वाहा पद-निरूपित जो विशेषणता है, वह अन्य किसी सम्बन्ध के न होने से देवतात्वरूप स्वरूप सम्बन्ध से ही होती है अतः इस 'देवतात्व' में चतुर्थी विभक्ति की शक्ति सिद्ध हो जाती है।[२]

श्री दिनकर भट्ट-मत-निरूपण

प्राचीन मीमासकों द्वारा देवतात्व में चतुर्थी की शक्ति मानने के सिद्धान्त का निराकरण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार के पिता श्री दिनकर भट्ट का कहना है कि कुमारिल भट्ट का उक्त वार्त्तिक देवतात्व में चतुर्थी की शक्ति का बोधक नहीं है, अपितु देवता शब्द से अतिरिक्त अन्य भी देवतात्व के प्रतिपादक हैं, केवल इसी अर्थ का सूचक है।

देवता-शब्द से अतिरिक्त अन्यतद्धित, चतुर्थी तथा मन्त्रवर्णों से जो देवतात्व का प्रतिपादन होता है, वह शक्ति द्वारा न होकर लक्षणा द्वारा ही होता है। इस तथ्य का ज्ञान भी वार्त्तिकस्थ **'दुर्बलं तु परं परम्'** इस पद द्वारा हो जाता है। यदि तद्धित, चतुर्थी तथा मन्त्रवर्ण, ये तीनों शक्ति द्वारा देवतात्व के प्रतिपादक होते तो तीनों समान रूप से प्रबल होते, लेकिन ये तीनों परस्पर पूर्व पूर्व की अपेक्षा पर पर निर्बल हैं अतः देवतात्व के बोधन में इनकी असमानता से यह सिद्ध हो जाता है कि ये शक्ति द्वारा देवतात्व के बोधक नहीं हैं, अपितु

१. अत्र मीमांसकाः - चतुर्थ्या देवतात्वे शक्तिः।
'तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन वा पुनः।
देवतायाविधिस्तत्र दुर्बलं तु परम्परम्।' -(तंत्र वार्त्तिक २/२/९)इति वार्त्तिकात्।'
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० १०२, पङ्क्ति २५ से २८

२. 'एवमग्नये स्वाहा (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३/१/४/१)इत्यादावपि स्वाहाशब्दार्थहविस्त्यागे अग्नेश्च विशेषणत्वेन प्रतीतेः सम्बन्धान्तरत्वाभावेन देवतात्वेनैवविशेषणतेति तत्र चतुर्थ्याः शक्तिः। इति जीर्णाः।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० १०३, पङ्क्ति ३ से ६

लक्षणा द्वारा ही देवतात्व के बोधक हैं अतः चतुर्थी में 'देवतात्व' की शक्ति नहीं है।[1]

इस विषय में भाट्टचिन्तामणिकार ने अपना कोई मत प्रकट नहीं किया है। देवतात्व में चतुर्थी की शक्ति मानने वाले प्राचीन मीमासकों का मत उपस्थापित कर स्वपिता श्री दिनकर भट्ट के मतानुसार इसका इन्होंने निराकरण कर दिया है। चूंकि दिनकर भट्ट के मत पर इन्होंने स्पष्ट रूप से या सङ्केत रूप से भी, कोई टिप्पणी नहीं की है, अतः इन्हें भी 'देवतात्व' में चतुर्था विभक्ति की शक्ति मान्य न होकर केवल 'सम्प्रदानत्व' में ही मान्य है, यही तथ्य स्पष्ट होता है।

पञ्चमीविभक्त्यर्थ-निरूपण

पञ्चमीविभक्ति का अर्थ स्पष्ट करते हुए वैयाकरण कहते हैं कि **'अपादाने पञ्चमी'** इस सूत्र के अनुसार पञ्चमी विभक्ति का अर्थ अपादानत्व है।[2] इस पञ्चभ्यर्थ अपादानत्व का स्वरूप प्रदर्शित करते हुए वैयाकरण कहते हैं कि 'पर (दूसरे) में समवेत क्रिया से जन्य विभाग का आश्रय होना ही अपादानत्व है।[3]

'ध्रुवमपायेऽपादानम्' इस सूत्र के अनुसार विभाग में कारणीभूत क्रिया का आश्रय न होते हुए (क्रिया-जन्य) विभाग का आश्रय होना ही अपादानत्व का अर्थ है।[4] विभाग, वियेगादि-शब्द-वाच्य विश्लेष ही सूत्रस्थ अपाय है। फलतः अन्य विभाग या वियेगादि क्रिया का आश्रय होते हुए विभागादि में विभाग-वियेगाश्रयत्व-रूप से विभाग-वियोगादि का ध्रुव स्थिर निरूपक (कारण, आश्रय) होना ही अपादान है। ऐसा सूत्रार्थ निष्पन्न होता है।

---

१. 'अत्र पितृचरणाः - नेदं वार्त्तिकं चतुर्थ्या देवतात्वे शक्तिबोधकं, किन्तु देवता-प्रतिपादकान्तरोपलक्षणं सच्चतुर्थीमन्त्रवर्णादौं देवतालाक्षणिकत्वं परं, दुर्बलं तु परंपरमित्यभिधानात्।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० १०३, पङ्क्ति ७ से ९

२. अपादानत्वं पञ्चम्यर्थः। अपादाने पञ्चमी (पा०सू० २/३/३८) इति सूत्रात्। —भाट्टचिन्तामणि, पृ० १०४, पङ्क्ति १

३. 'अपादानत्वञ्च परमसवेतक्रियाजन्यविभागाश्रयत्वम्।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० १०४, पङ्क्ति १ से २

४. विभागहेतुक्रियानाश्रयत्वे सति विभागाश्रयत्वमिति तदर्थः। 'ध्रुवमपायेऽपादानम्।' (पा० सू० १/४/२४) इति सूत्रात्। —भाट्टचिन्तामणि, पृ० १०४, पङ्क्ति २ से ३

जैसे '**वृक्षात् पर्णं पतति**' यहाँ पर अधः - निम्न प्रदेश में पर्ण के संयोग की जनिका क्रिया ही 'पत्' धातु का अर्थ है। या फिर अधः संयोग के प्रयोजक विभाग की जनिका क्रिया, ऐसा भी 'पत्'धातु का अर्थ माना जा सकता है। इसलिए अधः- संयोग की जनिका क्रिया का अनाश्रय होते हुए तादृशक्रियाजन्य विभाग का आश्रयत्व वृक्ष में होने से उसमें अपादानत्व की सङ्गति हो जाती है।[१]

उक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि तत्तत् धात्वर्थतावच्छेदक जो फल, तादृश फल-जनिका क्रिया का अनाश्रय होते हुए तादृश क्रियाजन्य फल का निरूपकत्व तथा तादृश क्रिया का भी जिसमें निरूपकत्व हो, वही अपादान है।[२] फलतः '**चौरात् व्याघ्राद्वा बिभेति**' (चोर से या बाघ से, डरता है) यहाँ पर भयादि में हेतु, कारणीभूत चोर तथा व्याघ्र में तथा '**चौरात् त्रायते**' (चोर से बचता है) यहाँ पर भय के कारणभूत चोर में '**भीत्रार्थानां भयः हेतुः**'[३] इस सूत्र से अपादान अर्थ में पञ्चमी विभक्ति हो जाती है अतः अपादानत्व ही पञ्चमी-विभक्ति का अर्थ है।

नैयायिक-मत निरूपण

नैयायिकों के मतानुसार 'परसमवेत-क्रियाजन्य विभागाश्रयत्व ही अपादानत्व है।' '**व्याघ्रात् बिभेति**' इस स्थल में व्याघ्र में अपादानत्व की सङ्गति न हो पाने से व्याघ्र-शब्द से भय में कारणभूत, जहाँ पर व्याघ्र उछल कर आ पहुँचे, उस स्थान में लक्षणा कर लेनी चाहिए। यहाँ पर '**बिभेति**' इस प्रधान क्रिया में व्याघ्र का साक्षात् रूप से अन्वय न होकर कल्पित उत्पतन उछलने की क्रिया के माध्यम से होने के कारण '**व्याघ्रात्**' में विद्यमान पञ्चमी विभक्ति उपपद-विभक्ति है।[४]

---

१. 'अपायो विश्लेषः विभागवियोगादिशब्दवाच्यः। अन्यस्य विभागवियोगादिक्रियाश्रयस्य विभागादौ सति विभागवियोगाश्रयत्वेन ध्रुवं स्थिरं विभागवियोगादिनिरूपकमिति यावत्, तदपादानमिति सूत्रार्थः। यथा वृक्षात्पर्णं पतति, अधः संयोगानुकूलक्रिया पतेरर्थः। अधः संयोगप्रयोजकविभागानुकूलक्रिया वा।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० १०४, पङ्क्ति ४ से ८

२. 'इत्थं च तत्तद्धात्वर्थतावच्छेदकफलजनकक्रियानाश्रयत्वे सति तादृशक्रियाजन्यफल-निरूपकत्वं तादृशक्रियानिरूपकत्वञ्चेति निष्कर्षः।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० १०४, पङ्क्ति ११ से १२

३. पा० सू० १/४/२५।

४. नैयायिकास्तु विभागाश्रयत्वमेवपादानत्वमिच्छन्तो व्याघ्राद्बिभेतीत्यादौ लक्षणया प्रयोगं क्रियान्तरकल्पनेन वा उपपदविभक्तित्वमिच्छन्ति।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० १०४, पङ्क्ति ३० से ३१

इसी प्रकार **'धावतो अश्वात् पतति'** (दौड़ते हुए घोड़े से गिरता है।) यहाँ पर अश्व में धावन-क्रिया का आश्रयत्व होने पर भी अश्व के दौड़ने के कारण ही सवार का पतन होने से धावन-क्रिया-विशिष्ट अश्व में विभागहेतुत्व-निरूपित विभागाश्रयत्व की सङ्गति हो जाने से 'अश्वात्' में जो अपादानत्व है, उसकी उपपत्ति हो जाती है।[१]

मीमांसक मत-निरूपण

मीमांसकों का कहना है कि 'भी' धात्वर्थ (भय) का अरण्यादि में भयनिरूपित निरूपकत्व नहीं है, अर्थात् अरण्य यह भय का कारण नही है। उसमें अपादानत्व तथा अपादानत्व अर्थ में पञ्चमी विभक्ति भी नहीं होती इसलिए **'अरण्यात् बिभेति'** ऐसा प्रयोग नहीं होता अपितु अरण्य, भयकारणों का अधिकरण होने से इसमें अधिकरण अर्थ में सप्तमी होकर **'अरण्ये बिभेति'** ऐसा ही प्रयोग निष्पन्न होता है। यदि कहीं पर **'वनात् बिभेति'** ऐसा प्रयोग होता भी है तो वहाँ पर वन-पद की वनस्थित भयहेतु व्याघ्रादि में लक्षणा हो जाती है अतः व्याघ्रादि-लाक्षणिक अर्थ में ही वन में अपादानत्व तथा पञ्चमी-विभक्ति होती है।

इसके विपरीत याग में जो पुरोडाश बनता है, उसका कहीं कहीं से अवदान किया जाता है। जैसे **'मध्यात्पूर्वार्द्धाद्यवति'** से मध्य तथा पूवार्ध भाग से पुरोडश के अवदान का विधान है। यहाँ पर विभाग, प्रयोजक क्रिया का अनाश्रय विभाग-निरूपक (मध्य तथा पूर्वार्द्ध में भी) अधोभाग ही होने से उसमें अपादानत्व की सङ्गति हो जाती है।[२]

सप्तमी विभक्त्यर्थ-निरूपण

'सप्तम्यधिकरणे च'[३] (अधिकरण में सप्तमी विधायक) इस सूत्र के

---

१. एवं धावतोऽश्वात्पतति इत्यत्राश्वस्योक्तक्रियाश्रयत्वेऽपि तस्य विभागा-हेतुत्वाभावादपादानत्वोपपतिः।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० १०४, पङ्क्ति ३२ से ३३

२. मीमांसकाश्चारण्यादेर्निरूपकत्वाभावान्नापादानत्वम्। अतएव अरण्याद्बिभेति इति न प्रयोगः। यदि वनाद्बिभेतीति प्रयोगः तदा वनपदस्य वनस्थितव्याघ्रादौ लक्षणा। मध्यादवद्यतीत्यादौ विभाग-प्रयोजक-क्रियानाश्रयस्य तन्निरूपकस्याधोभागस्या-पादानत्वम्। —भाट्टचिन्तामणि, पृ० १०४, पङ्क्ति२६ से २९

३. पा०सू० २/३/३६

अनुसार सप्तमी विभक्ति का अर्थ अधिकरणत्व है। '**अधारोऽधिकरणम्**'[1] इस सूत्र के अनुसार आधार ही अधिकरण है। इस आधार का अर्थ आश्रयत्व है। यह आश्रयत्व साक्षात् आश्रयत्व तथा परम्परया आश्रयत्व, इस भेद से दो प्रकार का है।

१. साक्षात् आश्रयत्व

जहाँ पर साक्षात् रूप से आश्रयत्व की प्रतीति होती है, उसे साक्षात् आश्रयत्व कहते हैं। जैसे '**भूतले घटः**' यहाँ पर भूतल में साक्षात् रूप से आश्रयत्व की प्रतीति होती है।

२. परम्परया आश्रयत्व

जहाँ पर कर्त्ता तथा कर्म के माध्यम से आश्रयत्व की प्रतीति होती है, क्रिया-कर्त्ता या कर्म में रहती है तथा अधिकरण-कर्त्ता या कर्म का आश्रय होता है, अतः वह परम्परा सम्बन्ध से कर्तृ-कर्मनिष्ठ क्रिया का भी आश्रय हो जाता है। जैसे '**स्थाल्यां पचति**' (स्थाली (पतीली) में पकाता है) यहाँ पर पाकक्रिया कर्म-चावल में रहती है तथा चावल पतीली में रहते हैं अतः स्थाली चावल में रहने वाली पाकक्रिया की परम्परा से आश्रय है।

इसी प्रकार '**भूमौ वसतिं**' (भूमि पर वास करता है।) तथा 'कटे शेते (चटाई पर सोता है) इन स्थलों में भी वासक्रिया तथा शयनक्रिया का कर्त्ता भूमि एवं चट (कट)पर होने से भूमि तथा कट, कर्तृनिष्ठ क्रिया के परम्परया आश्रय होते हैं।[2]

इस विवेचित अधिकरण (आधार या आश्रय) के औपश्लेषिक, वैषयिक तथा अभिव्यापक, ये तीन भेद हैं।

१. औपश्लेषिक अधिकरण

जहाँ पर कर्त्ता या कर्म संयोग-सम्बन्ध से आधार में रहते हैं, उसे

---

१. पा॰सू॰ २/४/४५।

२. सप्तम्या अधिकरणत्वमर्थः। 'सप्तम्यधिकरणे च' (पा॰सू॰ २/३/३६) इति सूत्रात्। अधिकरणत्वं चाधारत्वम् 'आधारोऽधिकरणम्' (पा॰ सू॰ १/४/४५) इति सूत्रात्। तच्चाश्रयत्वं, तच्च साक्षात्परम्परासाधारणम्। परम्परा-कर्तृकर्माद्याश्रयत्वद्वारा। तेन स्थाल्यां पचति, भूमौ वसति, कटे शेते, इत्यादि प्रयोगः। —भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ १०५, पङ्क्ति २१ से २४

औपश्लेषिक अधिकरण, आधार या आश्रय कहते हैं। जैसे **'गुरौ वसति'** (गुरु के पास रहता है।) यहाँ पर वासकर्त्ता शिष्य का संयोग-सम्बन्ध है अतः गुरु शिष्य का संयोग-सम्बन्ध से अधिकरण होने के करण औपश्लेषिक अधिकरण है।

२. वैषयिक अधिकरण

विषय से सम्बन्ध रखने वाला अधिकरण या आधार, वैषयिक अधिकरण है। इसमें आधार तथा आधेय, दोनों का बौद्धिक सम्बन्ध रहता है। जैसे **घटज्ञानं** (घट के विषय में ज्ञान), यहाँ पर घट अपने ज्ञान का विषय है अतः उसमें विद्यमान अधिकरणत्व वैषयिक अधिकरणत्व है।

३. अभिव्यापक (सर्वत्र व्याप्त अधिकरण)

जिसमें आधार तथा आधेय का व्याप्यव्यापकभाव सम्बन्ध होता है, वहाँ अभिव्यापक अधिकरण होता है। जैसे **'तिलेषु तैलम्'** (तिलों में तेल) यहाँ पर तेल तिलों में सर्वत्र व्याप्त है तथा तिल तेल के व्यापक भी हैं अतः तिलों में अभिव्यापक अधिकरणत्व है।

'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति' (चमड़े के लिए हाथी को मारता है।) यहाँ पर सप्तमी विभक्ति का मुख्य अर्थ अधिकरणत्व बाधित हो जाने से सप्तमी की निमित्त अर्थ में लक्षणा हो जाती है। फलतः चर्म के निमित्त हाथी को मारता है। ऐसा अर्थ-बोध होता है।

निमित्त के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि धात्वर्थ की जनक इच्छा, कृति आदि का विषय होना ही निमित्त है। उक्त उदाहरण में धात्वर्थ हनन की जनक इच्छादि का 'चर्म' विषय होने से वह निमित्त है अतः उसमें निमित्त रूप लाक्षणिक अर्थ में सप्तमी विभक्ति हुई हैं।[१]

उपपद विभक्ति-निरूपण

जिन स्थलों में विभक्त्यर्थों का साक्षात् रूप से भावना (क्रिया) में अन्वय न होकर अन्य पदार्थ के माध्यम से ही भावना (क्रिया) में अन्वय होता है, वे उपपद विभक्तियाँ कहलाती है। उपपद विभक्ति में विभक्त्यर्थ का श्रुत-भावना

---

१. 'अधिकरणञ्च त्रिविधम्, औप्श्लेषिकं वैषयिकमभिव्यापकञ्चेति, तेन गुरौ वसति, घटे ज्ञानं, तिलेषु तैलमित्यादिप्रयोगः।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० १०५, पङ्क्ति २५ से २६

में साक्षात् रूप से अन्वय न होने के कारण ही सिद्धान्त में इसे कारक विभक्ति की अपेक्षा दुर्बल माना गया है।[१]

द्वितीया उपपद विभक्ति

'त्वां मां चान्तराऽन्तरेण वा हरिस्ति' यहाँ पर अन्तरा तथा अन्तरेण पदों के योग में **त्वां** तथा **मां** में लाक्षणिक सम्बन्ध-अर्थ में द्वितीया हुई है। यहाँ पर द्वितीया के लक्ष्यार्थ का प्रत्ययवाच्य भावना (क्रिया) में साक्षात् अन्वय न होकर अन्तरा तथा अन्तरेण पदों के माध्यम से ही अन्वय हुआ है अतः यहाँ पर उपपद-द्वितीया विभक्ति है।[२]

तृतीया उपपदविभक्ति

'शिष्येण सहागतो गुरुः' इस स्थल में **'सहयुक्ते अप्रधाने'** इस सूत्र से सह शब्द के योग में निरूपितत्व रूप अर्थ में तृतीया विभक्ति होने से इस वाक्य का 'शिष्यनिरूपित साहित्य-विशिष्टा गुरुकर्तृकागमनभावना' ऐसा शाब्दबोध होता है। यहाँ पर निरूपितत्व रूप तृतीयार्थ का आगमन-भावना में साक्षात् रूप से अन्वय न होकर साहित्य के माध्यम से अन्वय होने के कारण यहाँ पर तृतीया विभक्ति उपपद विभक्ति है।[३]

चतुर्थी उपपद-विभक्ति : 'मुक्तये हरिं भजति' इस स्थल में **'तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या'** इस वार्त्तिक से साध्यत्व रूप लाक्षणिक अर्थ में चतुर्थी हुई है। यहाँ पर चतुर्थ्यर्थ का प्रधान भजन-भावना (क्रिया) में साक्षात् रूप से अन्वय न होकर 'कल्पित' प्राप्ति रूप पदार्थ के माध्यम से होता है अतः यह उपपद

---

१. उपपदविभक्त्यानां तु कल्पितधात्वर्थान्तरेऽन्वयात् श्रुत-भावनान्वयित्वेन न कारकत्वम्। अत एव तस्याः कारकविभक्त्यपेक्षया दुर्बलत्वमिति सम्प्रदायः।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९६, पङ्क्ति ५ से ७

२. 'त्वां मां चान्तराऽन्तरेण वा हरिरस्ति। अत्र सम्बन्धे द्वितीयाया लक्षणा। उभय-सम्बन्ध्यन्तरालवर्ती हरिरिति बोधः।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९६, पङ्क्ति २३ से २४

३. 'सहयुक्तेऽप्रधाने (पा०सू०२/३/१९)। साहित्ययुक्ताप्रधानवाचकशब्द- समभिव्याहृत-तृतीयाया निरूपितत्वमर्थः। शिष्येण सहागतो गुरुः। शिष्यनिरूपतिसाहित्यविशिष्ट-गुरुकर्तृकमागमनमिति बोधः। एवञ्च तृतीयार्थस्य भावनान्वयाभावा-दुपपदविभक्तिः।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९९, पङ्क्ति ७ से १०

विभक्ति है। इस वाक्य में चतुर्थ्यर्थ का 'प्राप्ति' पदार्थ में अन्वय होने से **'मुक्तिं प्राप्तुं हरिं भजतिं'** ऐसा अर्थ निष्पन्न होता है।[१]

कुछ आचार्यों का कहना है कि इसी तरह **'सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्श पूर्णमासौ'** यहाँ भी वाक्य का **'सर्वान् कामान् प्राप्तुं दर्शपूर्णमासौ'** ऐसा ही अर्थ होने के कारण सर्वकाम पदार्थ का याग-भावना में साक्षात् रूप से अन्वय न होकर कल्पित 'प्राप्ति' के ही माध्यम से होता है इसलिए इस स्थल में जो चतुर्थी है वह भी उपपद विभक्ति ही है।

उक्त मत का खण्डन करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि **'सर्वेभ्यः कामेभ्यः'** में विद्यमान चतुर्थी को यदि उपपद विभक्ति माना जाएगा तो **'अग्निमाधत्ते'** इस वाक्य का **'अग्निं प्राप्तुं आधानं करोति'** ऐसा अर्थ होने से यहाँ पर भी अग्निनिष्ठ कर्मत्व का प्रधान आधान-भावना में साक्षात् अन्वय न होकर कल्पित 'प्राप्ति' के माध्यम से ही अन्वय होने के कारण, यहाँ पर जो द्वितीया विभक्ति है, उसे भी उपपद विभक्ति मानना होगा, परन्तु इसे सिद्धान्त में कारक विभक्ति मान लिया गया है अतः इस स्थल में उपपद विभक्ति होने का प्रसङ्ग उपस्थित न हो, इसके लिए **'सर्वेभ्यः कामेभ्यो'** यहाँ पर चतुर्थी को उपपद विभक्ति मानने के सिद्धान्त की उपेक्षा कर देनी चाहिए।[२]

पञ्चमी उपपद-विभक्ति

'बलाहकात् (निसृत्य) **विद्युत विद्योतते'** (बादल से निकल कर बिजली चमकती है।) यहाँ पर पञ्चम्पर्थ अपादानत्व का **'विद्योतते'** इस प्रधान क्रिया के साथ अन्वय न होकर 'निसृत्य' इस अध्याहृत पद के साथ होता है। फिर इसके माध्यम से प्रधान क्रिया में उसका अन्वय हो पाता है अतः यहाँ **'बलाहकात्'** में जो पञ्चमी विभक्ति है, वह उपपद विभक्ति है।[३]

---

१. 'मुक्तये हरिं भजति। अत्र कल्पितप्राप्तिक्रियान्वयेन श्रुतभजनादि-क्रियायां कारकत्वेन साक्षादनन्वयात् (उपपदविभक्तिः)।' –भाट्टचिन्तामणि, पृ० १०१ पङ्क्ति २१ से २२

२. परं तु तत्रापि सर्वान्कामानित्यर्थादुपपदविभक्तित्वमेवेत्याहुः तदग्निमाधत्त इत्यादौ द्वितीयाया अपि उपपदविभक्तित्वापत्योपेक्षणीयमेव।'

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० १०१, पङ्क्ति २७ से २८

३. 'बलाहकाद्विद्युद्विद्योतते इत्यत्र निसृत्येत्यध्याहारेणोपपदविभक्तिः।'

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० १०५, पङ्क्ति ८

षष्ठी उपपद विभक्ति

'मुखस्य मुखेन वा तुल्यश्चन्द्रः' यहाँ पर तुला तथा उपमा से भिन्न तुल्यार्थक तुल्य पद के योग में उपमान-त्वादि अर्थ में **'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्'** इस सूत्र से तृतीया के विकल्प में **'मुखस्य'** यह जो षष्ठी हुई है, इसके अर्थ का **'अस्ति'** पदवाच्य भावना में साक्षात् अन्वय न होकर तुल्यपदार्थ के माध्यम से ही होता है अतः यहाँ पर तृतीया तथा षष्ठी दोनों उपपद विभक्तियां हैं।[१]

सप्तमी उपपद विभक्ति

'गोषु दुह्यमानासु आगतः' (गाएं दुही जा रही थीं, तब वह आया) यहाँ पर गाय रूपी कर्म में रहने वाली दोहन-क्रिया से आगमन रूपी क्रिया लक्षित होने कारण दुह्यमानासु इस दोहन क्रिया तथा उसके कर्म 'गौ' में **'यस्य च भावेन भावलक्षणम्'** इस सूत्र से सप्तमी विभक्ति हुई है। यहाँ पर क्रियान्तरोपलक्षणत्व रूप सप्तमी विभक्ति के अर्थ का प्रधान क्रिया में अन्वय न होकर अप्रधान दोहन-क्रिया में अन्वय होने से यह उपपद विभक्ति है।[२]

प्रकृत पसङ्ग का उपसंहार करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि उपर्युक्त विवेचित कारक तथा उपपद विभक्तियों में कारक विभक्तियों का श्रुत भावना में साक्षात् अन्वय होने से तथा उपपद विभक्तियों का कल्पित (या) अप्रधान क्रिया में अन्वय होने के कारण दोनों में कारक विभक्ति ही प्रबल होती है।[३]

---

१. 'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् (पा०सू०१/३/७२) तुलोपमा- भिन्नसदृशार्थ-कपदसमभिव्याहारे उपमानत्वादिसम्बन्धे उपमेयोत्तर-प्राप्तषष्ठ्या तृतीयाविधिः। यथा 'मुखस्य तुल्यश्चन्द्रः मुखेन वेति।' -भाट्टचिन्तामणि, पृ० ९५, पङ्क्ति १३ से १५

२. 'गोषु दुह्यमानास्वागत इति सतिसप्तमी। ''यस्य च भावेन भावलक्षणम्''-(पा०सू०२/३/३७) इति सूत्रात्।'

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० १०३, पङ्क्ति २९ से पृ० १०४, पङ्क्ति १

३. अत्र चोपपदविभक्तितः कारकविभक्तेर्बलीयस्त्वम्। कारकविभत्त्यर्थस्य श्रुतक्रियान्वयित्वात्। उपपदविभक्त्यर्थस्य कल्पित-क्रियान्वयित्वादिति दिक्।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० १०६, पङ्क्ति ३० से ३२

समासार्थ-निरूपण

समास-लक्षण-विचार-वैयाकरण-कृत लक्षण

अव्ययी-भाव, तत्पुरुष, द्वन्द्व तथा बहुव्रीहि, इस प्रकार समास के चार भेद हैं। कर्मधारय तथा द्विगु, इन दोनों समासों का तत्पुरुष-समास में ही समावेश है।[1]

१. अव्ययी-भाव

इनमें जहाँ पर पूर्व पदार्थ या अव्ययार्थ की प्रधानता होती है, वहाँ अव्ययी-भाव समास होता है। जैसे '**कुम्भस्य समीपे**' इस विग्रह से निष्पन्न '**उपकुम्भम्**' इस समास में पूर्वपदार्थ, अव्ययार्थ-उप के अर्थ 'सामीप्य' की प्रधानता होने से इसमें लक्षण का समन्वय हो जाता है।

'**सूपस्य लेशः इति**' इस विग्रह से निष्पन्न 'सूप-प्रति' इस स्थल में पूर्व पदार्थ (सूप पदार्थ दाल) की प्रधानता न होने पर भी अव्ययार्थ (प्रति के लेश रूप अर्थ) की प्रधानता होने से इसमें भी अव्ययी-भाव-समास के लक्षण की सङ्गति हो जाती है अतः लक्षण में अतिव्याप्ति दोष का प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता है।[2]

२. तत्पुरुष समास

जहाँ पर उत्तर पदार्थ की प्रधानता होती है, वहाँ तत्पुरुष समास होता है। जैसे '**राज्ञः पुरुषः**' इस विग्रह से निष्पन्न '**राजपुरुषः**' इस समास में उत्तर

---

१. 'समासश्चतुर्विधः। अव्ययीभावतत्पुरुषद्वन्द्वबहुव्रीहि-भेदात्।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० १०७, पङ्क्ति १

२. 'तत्र पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः। यद्वा अव्ययार्थप्रधानोऽव्ययी-भावः तेन सूपप्रतीत्याद्यव्ययी-भावे नाव्याप्तिः।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० १०७, पङ्क्ति १ से ३

पदार्थ पुरुष की प्रधानता होने से इसमें तत्पुरुष समास का लक्षण समन्वित हो जाता है।[१]

३. द्वन्द्व समास

जहाँ पर दोनों समास-घटक पदार्थों की प्रधानता रहती है, वहाँ पर द्वन्द्व समास होता है। जैसे '**धवश्च खदिरश्च**' इस विग्रह से निष्पन्न '**धवखदिरौ**' इस समास में 'धव' तथा 'खदिर' इन दोनों समास-घटक पदार्थों की प्रधानता होने से इसमें द्वन्द्व-समास का लक्षण समन्वित हो जाता है।

४. बहुव्रीहि-समास

जहाँ पर समास-घटक पदार्थों की प्रधानता न होकर किसी अन्य पदार्थ की प्रधानता होती है, वहाँ बहुव्रीहि-समास होता है। जैसे '**चित्राः गावः यस्य सः**' इस विग्रह से निष्पन्न 'चित्रगु' इस समास में 'चित्र' तथा 'गु' इन दोनों पदार्थों की प्रधानता न होकर सः पदवाच्य अन्य पदार्थ की प्रधानता होने से इसमें बहुव्रीहि-समास के लक्षण का समन्वय हो जाता है।

५. तत्पुरुष-भेद-कर्मधारय, द्विगु

'**नीलं च तदुत्पलम्**' इस विग्रह से होने वाला 'नीलोत्पलम्' यह कर्मधारय-समास तथा '**पञ्चानां मूलानां समाहारः**' इस विग्रह से निष्पन्न पञ्चमूली द्विगु -समास भी तत्पुरुष-समास का ही एक अवान्तर भेद है।[२]

पूर्वपक्षकृत आक्षेप

उपर्युक्त समास-लक्षणों पर आक्षेप करते हुए पूर्वपक्षी कहते हैं कि '**उन्मत्तगङ्गम्**' इस अव्ययीभाव-समास में अव्ययीभाव-समास के ('**पूर्वपदार्थ प्रधानोऽव्ययीभावः यद्वा अव्ययार्थप्रधानोऽव्ययीभावः**' दोनों लक्षणों की अव्याप्ति (असङ्गति) तथा 'अन्य **पदार्थ-प्रधानो बहुव्रीहिः**' इस) बहुव्रीहि-समास के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है।[३]

---

१. उत्तर-पदार्थ प्रधानस्तत्पुरुषः। —भाट्टचिन्तामणि, पृ० १०७, पङ्क्ति ३

२. उभयपदार्थ-प्रधानो द्वन्द्वः। अन्यपदार्थ-प्रधानो बहुव्रीहिः। इति लक्षणानि। उपकुम्भं, राजपुरुष, धवखदिरौ, चित्रगुरित्याद्युदाहरणानि। नीलोत्पलमिति कर्मधारयः। पञ्चमूलीति द्विगुश्च तत्पुरुषस्यैव भेदौ।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० १०७, पङ्क्ति ३ से ६

३. ननून्मत्तगङ्गमित्यव्ययीभावे तल्लक्षणमव्याप्तमतिव्याप्तञ्च बहुव्रीहि-लक्षणम्। —भाट्टचिन्तामणि, पृ० १०७, पङ्क्ति ७ से ८

अभिप्राय यह है कि **'उन्मत्ता गङ्गा यस्मिन् सः'** इस विग्रह से होने वाले **'उन्मत्त-गङ्गम्'** इस समास में 'उन्मत्त' यह पूर्वपदार्थ प्रधान न होकर इस समास से जिस देश-विशेष रूप अर्थ का बोध होता है, वही प्रधान है। इसी प्रकार कोई अव्यय भी यहाँ विद्यमान नही है, इसलिए यहाँ पर अव्ययार्थ की भी प्रधानता नहीं है अतः अव्ययीभाव-समास के उक्त दोनों लक्षणों की इस स्थल में अव्याप्ति हो जाती है। साथ ही देशविशेष रूप अन्य पदार्थ की यहाँ प्रधानता होने से इसमें बहुव्रीहि-समास के भी लक्षण की अतिव्याप्ति होती है।

इसी तरह **'सूपस्य लेश'** इस विग्रह में मात्रा (लेश) अर्थ में **'सुप्रतिना मात्रार्थे'** इस सूत्र द्वारा विहित 'सूप-प्रति' इस अव्ययीभाव समास में 'लेश' रूप उत्तर पदार्थ की प्रधानता होने से इसमें तत्पुरुष समास के लक्षण की अतिव्याप्ति हो जाती है।

इसी प्रकार **'अर्द्धं पिप्पल्याः'** (पिप्पली का आधा भाग) इस विग्रह में **'अर्द्धंनपुंसकम्'** इस सूत्र से विहित **'अर्द्ध-पिप्पली'** तथा **'पूर्वं कायस्य'** इस विग्रह में होने वाले **'पूर्वकायः'** इन तत्पुरुष समास स्थलों में अर्द्ध तथा पूर्वरूप पूर्वपदार्थों की प्रधानता होने के कारण इन स्थलों में अव्ययी-भाव समास के लक्षण की अतिव्याप्ति होती है।[१]

इसी तरह **'द्वौ त्रयो वा'** इस विग्रह से निष्पन्न **'द्वित्रा'** इस बहुव्रीहि-समास में अन्य पदार्थ की प्रधानता न होने से बहुव्रीहि-समास के लक्षण की अव्याप्ति तथा इसमें दो एवं तीन (द्वित्रा) इन उभय पदार्थों का प्राधान्य होने से द्वन्द्वसमास के लक्षण की अतिव्याप्ति भी हो जाती है।

ऐसे ही **'शशाश्च कुशाश्च पलाशाश्च एतषां समाहारः'** इस विग्रह से निष्पन्न **'शशकुशपलाशम्'** इस समाहार-द्वन्द्व में 'समाहार' की प्रधानता होने से उभय-पदार्थों के प्राधान्य में स्वीकृत द्वन्द्व के लक्षण की अव्याप्ति हो जाती है। साथ ही शश, कुश, एवं पलाश, इन तीनों समास-घटक पदार्थों से भिन्न समाहार रूप अन्य पदार्थ की प्रधानता होने से बहुव्रीहि-समास के लक्षण की अतिव्याप्ति भी होती है।

१. 'एवं सूपप्रतीत्यादावव्ययीभावे' सुप्रतिना मात्रार्थे (पा॰ सू॰२/१/९) इति सूत्र-विहितं तत्पुरुषलक्षणातिव्याप्तिरुत्तरपदार्थप्राधान्यात्। एवं अर्द्धंनपुंसकम् (पा॰सू॰२/२/२) इत्यादि-सूत्रविहितेऽ र्धपिप्पली पूर्वकाय इत्यादितत्पुरुषेऽव्ययीभावलक्षणातिव्याप्तिः।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ १०७, पङ्क्ति ८ से ११

इस प्रकार परस्पर भिन्न स्थलों में उक्त समास-लक्षणों की अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति हो जाने के कारण ये सभी लक्षण दोषपूर्ण हैं। ऐसा पूर्वपक्षियों का आक्षेप है।[१]

वैयाकरणकृत समाधान

पूर्वपक्षियों के उपर्युक्त आक्षेप का समाधान करते हुए वैयाकरण कहते हैं कि अव्ययीभावादि समासों के जो स्वरूप प्रदर्शित किए गए हैं, वे उनके लक्षण नहीं हैं, अपितु केवल सामान्य स्वरूप के बोधक हैं। अपने-अपने समास के अधिकार में पठित होना ही इन समासों का निर्दुष्ट लक्षण है।[२]

भाट्टचिन्तामणिकारकृत लक्षण

पूर्व पक्ष कृत आक्षेप के निराकरणार्थ भाट्टचिन्तामणिकार ने उक्त अव्ययीभाव, तत्पुरुष तथा बहुव्रीहि-समास के लक्षणों को परिष्कृत कर निम्नलिखित रूप से उन्हें उपस्थित किया है।

अव्ययीभाव-समास-लक्षण

अव्ययीभाव-समास के विषय में भाट्टचिन्तामणिकार का कहना है कि अव्ययार्थ की प्रधानता या अविद्यमान अवयवार्थ से विशिष्ट अन्य पदार्थ की प्रधानता, इन दोनों में से कोई भी एक अर्थ होने पर अव्ययीभाव समास होता है। फलतः '**उन्मत्तगङ्गम्**' इस अव्ययीभाव-स्थल में अव्यय न होने के कारण यद्यपि अव्ययार्थ की प्रधानता नहीं है तथापि '**उन्मत्ता गङ्गा यस्मिन् सः देशविशेषः**' इस विग्रह से होने वाले इस समास में कोई अवयवार्थ न होने से तथा देश-विशेष रूप अन्य अर्थ की प्रधानता होने के कारण इस रूप में अव्ययीभाव समास के द्वितीय लक्षण का इसमें समन्वय हो जाता है। '**सुपस्य लेशः**' इस विग्रह में '**सुप्प्रतिना मात्रार्थे**' इस सूत्र में निष्पन्न 'सुपप्रति' इस

---

१. 'एवं द्वित्रा इति बहुव्रीहौ तल्लक्षणाव्याप्तिः द्वन्द्वलक्षणातिव्याप्तिश्च। एवं शशकुशपलाशमिति समाहार-द्वन्द्वे समाहार- प्राधान्याद् द्वन्द्वलक्षणस्याव्याप्तिः। बहुव्रीहिलक्षणस्य चातिव्याप्तिरिति चेद्।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० १०७, पङ्क्ति ११ से १३

२. 'न, तेषां प्रायिकत्वेन लक्षणत्वाभावात्। तत्तदधिकार-पठितत्वमेव तत्तल्लक्षणमिति वैयाकरणाः।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० १०७, पङ्क्ति १४ से १५

अव्ययी-भाव-समास में अव्यय-प्रति के अर्थ 'लेश' की प्रधानता होने से पथम लक्षण का इसमें समन्वय हो जाता है।[१]

तत्पुरुष-समास-लक्षण

समस्यामान पदार्थों में से किसी एक की प्रधानता होते हुए जिसके अन्त में सुब्लोप न हुआ हो ऐसे सुब्लोप के अभाव से युक्त पद जिसके अन्त में हों ऐसा समास तत्पुरुष-समास है। **'राज-पुरुषः'** यहाँ पर समस्यामान उभय पदार्थों में से पुरुष रूप पदार्थ की प्रधानता है तथा इसके अन्त में सुप् का लोप भी नहीं हुआ है अतः इसमें तत्पुरुष समास के उक्त लक्षण का समन्वय हो जाता है। **'अर्द्ध पिप्पल्याः'** इस विग्रह में निष्पन्न **'अर्द्ध-पिप्पली'** इस तत्पुरुष-समास में उक्त तत्पुरुष-लक्षण के अनुसार समस्यमान उभय पदार्थों में 'अर्द्ध' रूप एक पदार्थ की प्रधानता होने तथा 'पिप्पली' में सुब्लोप का अभाव होने के कारण 'पिप्पली' यह सुब्लोपाभाववत् पदान्त समास होने से इसमें भी तत्पुरुष-समास के लक्षण का समन्वय हो जाता है।[२]

यदि इस पर पूर्वपक्षी ऐसा कहें कि 'उपकुम्मम्' 'उपशरदम्' इत्यादि अव्ययीभावस्थलों में समस्यमान उभय पदार्थों में से एक 'उप-पदार्थ 'सामीप्य' की प्रधानता होने से तथा सुब्लोप का इनमें अभाव भी होने से तत्पुरुष समास की इनमें अतिव्याप्ति हो जाएगी, तो यह कथन समीचीन नहीं होगा, क्योंकि सुप् के लोप का जो विधान है, उसकी जिसमें योग्यता नहीं है, ऐसा पदान्त-समास तत्पुरुष समास है, ऐसा 'सुब्लोपाभाववत्पदान्त'[३] का अर्थ कर लेने पर 'उपकुम्मम्' 'उपशरदम्' में **'नाव्ययी भावात्'** इस निषेध से सुब्लोप न होने पर भी सुब्लोप की इनमें योग्यता रहने के कारण ये सुब्लोपाभाववत्पदान्त-समास न होने से इनमें तत्पुरुष समास की अतिव्याप्ति नहीं होती।[४]

---

१. 'वस्तुतोऽव्ययार्थप्रधानत्वाद्विद्यमानावयवार्थत्वशिष्टान्यपदार्थप्रधानत्वान्यतरत्वमव्ययीभावत्वं, तेनोन्मत्तगङ्गं, सूपप्रतीत्याद्यव्ययीभावेना-व्याप्तिः।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० १०७, पङ्क्ति १६ से १७

२. 'समस्यमानान्यतरपदार्थप्रधानत्ये सति सुब्लोपाभाववत्पदान्तत्वं तत्पुरुषत्वं, तेन राजपुरुषोऽर्द्धपिप्पलीत्यादितपुरुषे न लक्षणाव्याप्तिर्न वाऽव्ययीभावे लक्षणातिप्रसङ्गः।'

३. नाव्ययीभावादतोऽमृत्वपञ्चम्याः पा० सू० २/४/८३।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० १०७, पङ्क्ति १८ से २१

४. ननु उपकुम्भं उपशरदम् इत्यादौ सुब्लोपाभाववद्यत् पदं तदन्तत्वस्य सत्वेनाव्ययीभावे तत्पुरुषलक्षणातिप्रसङ्गः स्यादिति चेन्न सुप्त्वावच्छिन्नोद्देश्यताको यो

बहुव्रीहि-समास-लक्षण

बहुव्रीहि समास के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि जिसमें अन्य पदार्थ प्रधान हो वही बहव्रीहि-समास है। 'द्वित्रा' यहाँ पर **'द्वौ त्रयो वा'** ऐसा विग्रह होने पर भी इन दोनों समास-घटक पदों में किसी की प्रधानता नहीं है, अपितु 'अल्पत्व' रूप अन्य पदार्थ की ही प्रधानता होती है, क्योंकि **'कति ब्राह्मणाः'**? ऐसा पूछने पर 'द्वित्रा', (दो या तीन) अल्प-थोड़े ब्राह्मण हैं, ऐसे ही बोध होता है अतः यहाँ पर अल्पत्व रूप अन्य पदार्थ की प्रधानता होने से बहुव्रीहि समास-लक्षण का इसमें समन्वय हो जाता है अतः यह बहुव्रीहि समास है।

इसी प्रकार अन्य पदार्थ की प्रधानता होना ही बहुव्रीहि समास का लक्षण होने से **'संख्ययाऽव्ययः'**[1] यह सूत्र संख्येय (संख्या द्वारा बोधित) पदार्थ की प्रधानता का प्रतिपादन करता हुआ संख्या-वाचक अव्ययादि पदों से बहुव्रीहि समास का विधान करता है अतः **'दशानां समीपे ये सन्ति'** इस विग्रह में दश-संख्या द्वारा बोधित नव या एकादश इस संख्येय पदार्थ की प्रधानता होने से 'उप' इस अव्यय तथा संख्या वाचक दश-पदों से होने वाले 'उपदशा' इस समास में बहुव्रीहि-समास के लक्षण का समन्वय हो जाता है।[2]

इसी प्रकार 'उत्तरपूर्वा' यहाँ पर **'उत्तरस्याः पूर्वस्याश्च दिशो अन्तरालम्'** इस विग्रह से अन्तराल (मध्य भाग) रूप अन्य पदार्थ की प्रधानता होने से **'दिङ्नामान्यन्तराले'**[3] इस सूत्र से बहुव्रीहि समास की सङ्गति हो जाती है। इसी तरह **'केशेषु केशेषु गृहीत्वेदं युद्धं प्रवृत्तम्'** इस विग्रह से निष्पन्न केशाकेशि

लोपस्तद्योग्यत्वाभाववद्यत्पदं तदन्तत्वमिति तदर्थ इति स्वीकारेण प्रकृते 'नाव्ययी-भावादतोऽम् त्वपंचम्याः (पा॰सू॰२/४/८३)। इति लोपनिषेधेऽपि तद्योग्यत्वात्।' श्री सूर्यनारायण शुक्ल-कृत भाट्टचिन्तामणि की 'प्रभा' वृत्ति

—भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ १०७, पङ्क्ति २७ से ३०

१. संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये। - पा॰सू॰ २/२/२५

२. 'एवमन्यपदार्थप्रधानत्वं बहुव्रीहित्वम्, द्वित्रा इत्यत्रापि समस्यमानपदार्थसङ्ख्येयप्राधान्येन बहुव्रीहित्वमन्यपदार्थतावच्छेदकं चात्राऽल्पत्वम्। एवञ्च संख्ययाव्ययेति सूत्रं संङ्ख्येयप्राधान्यगमकं सङ्ख्यावाचकाव्ययादि-पदानां बहुव्रीहिविधायकमिति सङ्गच्छते।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ १०७, पङ्क्ति २१ से पृ॰ १०८, पङ्क्ति १

३. पा॰सू॰ २/२/२६

तथा '**भुजैर्भुजैश्च प्रहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तम्**' इस विग्रह से होने वाले 'भुजाभुजि' इन दोनों समास-स्थलों में युद्ध रूप अन्य पदार्थ की प्रधानता होने से '**तत्र तेनेदमितिसरूपे**'[1] इस सूत्र से बहुव्रीहि-समास की सङ्गति होती है।

इन दोनों स्थलों के ही समान '**पुत्रेण सह**' इस विग्रह से निष्पन्न 'सपुत्रः' इस समास में आगमन-क्रिया में पिता एवं पुत्र के तुल्य-सम्बन्ध रूप अन्य पदार्थ की प्रधानता होने से 'तेन **सहेति तुल्ययोगे**'[2] इस सूत्र से बहुव्रीहि-समास की सङ्गति हो जाती है।[3] इसलिए

'एकद्वैरथवाद्वित्रैर्भ्रमरा मधुसीकरैः।
कुक्षिम्भराः परं तेऽपि न सन्ति खलु केतके।'[4]

'इस पद्य में '**एकेन द्वाभ्यां**' तथा '**द्वाभ्यां त्रिभिः**' इन विग्रहों में निष्पन्न '**एकद्वे**' एवं '**द्वित्रैः**' इन दोनों समास-स्थलों में अल्पत्व से परिच्छन्न मधुकण-व्यक्तिरूप अन्य पदार्थों के प्राधान्य होने से बहुव्रीहि-समास की यहाँ पर सङ्गति हो जाती है।[5]

'**शशकुशपलाशम्**' इस समाहार-द्वन्द्व में समाह्रियमाण पदार्थों का ही क्रिया में अन्वय होने के कारण समाहार की अप्रधानता होने से द्वन्द्वलक्षण की सङ्गति हो जाती है। साथ ही अन्य पदार्थ 'समाहार' की प्रधानता यहाँ नहीं है, अतः वहुव्रीहि-लक्षण की इसमें अतिव्याप्ति नहीं होती।[6]

---

१. पा॰ सू॰, २/२/२७।

२. वही, २/२/२८।

३. 'एवंदिङ्नामान्यन्तराल इत्यादिसूत्राण्यन्यपदार्थप्राधान्येन बहुव्रीहिविधायकानि भवन्ति। यथा उत्तरपूर्वा, केशाकेशि, भुजाभुजि सपुत्र इति। अत्रांशे तुल्यसम्बन्धित्वमन्य-पदार्थतावच्छेदकम्।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ १०८, पङ्क्ति १ से ४

४. एक दो या दो तीन मधुकणों से पेट भरने वाले भ्रमर (अल्प संतोषी होते हैं) हैं। परन्तु केवड़े पर वे भी नहीं बैठते।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ १०८, पङ्क्ति ६ से ७

५. 'अत एव- 'एकद्वैरथवाद्वित्रैर्भमरा॰' इत्यादावल्पत्वपरिच्छिन्नव्यक्तीनां बोधः।'
—भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ १०८, पङ्क्ति ५ से ८

६. 'संमाहार-द्वन्द्वे तु समाह्रियमाणानामेव क्रियान्वयित्वेन समाहारस्याप्राधान्यान्न द्वन्द्वलक्षणाव्याप्तिर्बहुव्रीहिलक्षणातिव्याप्तिश्चेति युक्तम्।'
—भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ १०८, पङ्क्ति १० से १२

समासवृत्ति-विचार

समास वाक्यों से अर्थ-बोध की प्रक्रिया को लेकर विभिन्न सम्प्रदायों में परस्पर पर्याप्त मतभेद हैं। भाट्टचिन्तामणिकार ने इस सम्बन्ध में अपना मौलिक मत उपस्थापित करने के पूर्व निम्नलिखित क्रम में विभिन्न सम्प्रदाय-सम्मत मतों को भी प्रदर्शित किया है।

वैयाकरण-मत समासशक्तिवाद

इस सम्बन्ध में वैयाकरणों का मत है कि 'राजपुरुष' इत्यादि स्थलों में तत्पुरुष आदि समासों की राजविशिष्ट पुरुषादि (विशिष्ट) रूप अर्थ में शक्ति होती है। यदि पूर्वपक्षी राजपुरुषादि-समासों के अन्तगत 'राज-पुरुष' आदि पदों में विद्यमान शक्ति से ही राजादि का बोध हो जाने से विशिष्टार्थ में एक पृथक् समास-शक्ति मानना व्यर्थ है, ऐसा कहें, तो यह कथन ठीक नहीं होगा, क्योंकि **'समर्थः पदविधिः'** इस महाधिकार का विशिष्टार्थ रूप एक अर्थ में सामर्थ्य होने के कारण विशिष्ट रूप एक अर्थ में ही कृत्, तद्धित, समास, एकशेष तथा सनाद्यन्त धातु रूप समस्त वृत्तियों का विधान होता है फलतः पदों के उद्देश्य से विधीयमान समासादि की विग्रह-वाक्यों के एकार्थाभिधान में शक्ति है, यही सूत्रार्थ निष्पन्न होता है।[१]

एकार्थी-भाव के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वैयाकरण कहते हैं कि समास-घटक दोनों पदों का अपने स्वार्थ का परित्याग कर एक विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन करना ही एकार्थी-भाव है। **राजपुरुषः** इत्यादि स्थलों में यह एकार्थ अराजकीय (सम्बन्ध) से भिन्न तथा राज-सम्बन्धवान्, इस तरह भेद रूप तथा संसर्ग रूप होता है।

उपर्युक्त कथन का अभिप्राय यह है कि यदि **'राजपुरुषः'** इस तत्पुरुष-समास में 'अराजकीय-भिन्न' इस भेद रूप संसर्ग को न मानकर केवल **'राजसम्बन्धवान् पुरुषः'** इतना ही 'राज' तथा 'पुरुष' इन दोनों पदों का एकार्थीभाव मानें तो **'राजसम्बन्धवान् पुरुष'** केवल' इतना ही कथन, पुरुष के किसी अन्य व्यक्ति

---

१. 'अत्र वैयाकरणाः राजपुरुष इत्यादितत्पुरुषादीनां राजविशिष्टपुरुषादौ शक्तिः। न तु समासान्तर्गतराजादिपदशक्त्या राजादिबोधः। समर्थः पदविधिः (पा॰सू॰२/१/१) इति महाधिकारेण एकार्थी-भावलक्षणे सामर्थ्यसमासादि-सकल-वृत्ति-विधानात्। पदोद्देशेन विधीयमानः समासादिः समर्थः विग्रहवाक्यार्थाभिधाने शक्तिं प्राप्त इति सूत्रार्थः।'
—भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ १०८, पङ्क्ति १९ से २३

के साथ सम्बन्धित होने के बोध का निवारण करने में असमर्थ होने के कारण 'राजपुरुष' पद से जहाँ केवल राजसम्बन्धवान् पुरुष रूप अर्थ अपेक्षित है, वहाँ पर इसी पद से 'राजपुरुष' देवदत्त-सम्बन्धवान् भी है, ऐसा प्रयोग होने की आपत्ति होगी। यदि इस दोष के निवारणार्थ उपर्युक्त संसर्ग रूप अर्थ को न मानकर 'राज' तथा 'पुरुष' इन दोनों पदों से केवल 'राजेतरससंबंधिभिन्न पुरुष' ऐसे भेदरूप एकार्थ को मानें, तो इस स्थिति में राजा जिसका स्वामी है, ऐसे पुरुष के लिए जैसे राजपुरुष-शब्द का प्रयोग होता है, वैसे ही राजा जिसका स्वामी नहीं है, ऐसे पुरुष के लिए भी 'राजपुरुष' पद का प्रयोग होने लगेगा, क्योंकि जिस तरह राजा जिसका स्वामी है, ऐसा पुरुष राजा से इतर संबंधि से भिन्न है अतः दोनों में भेदरूप एकार्थता समान रूप से विद्यमान होने से अराजकीय पुरुष के लिए भी 'राजपुरुष' शब्द का प्रयोग होने लगेगा अतः उक्त दोनों के निवारणार्थ 'राजपुरुष' इस तत्पुरुष-समास में 'राज' तथा 'पुरुष' इन दोनों पदों से राजेतर-सम्बन्धि से भिन्न तथा 'राजसम्बन्धवान्- इस प्रकार भेद रूप तथा संसर्ग रूप उभयविध एकार्थीभाव माना जाता है। यह एकार्थीभाव ' राजपुरुष' इस 'समस्त' पद के राज तथा पुरुष रूप अवयवों से अप्राप्त होने के कारण इसके बोधन की समास में शक्ति सिद्ध हो जाती है।

यदि समासों में विशिष्ट रूप एकार्थबोधन की शक्ति न मानी जाए तो समास अर्थवान् न होने से उनकी प्रातिपदिक संज्ञा भी नहीं होगी अतः समासों में अपने विशिष्ट रूप एकार्थबोधन की शक्ति मानना अत्यन्त आवश्यक है।[१]

नैयायिकमत-समास-लक्षणावाद

वैयाकरणों के उक्त सिद्धान्त के विपरीत नैयायिकों का कहना है कि राजपुरुषादि-समास-स्थलों में जिनमें शक्ति का निश्चय हो चुका है, ऐसे 'राजपुरुष' आदि शक्त पदों से संबंधि में लक्षणा द्वारा राजसम्बन्धि से अभिन्न पुरुष, ऐसा बोध सम्भव होने के कारण समासों में इस अर्थबोध के लिए एक अन्य समास-शक्ति की कल्पना करना सर्वथा असङ्गत है।[२]

---

१. 'एकार्थी-भावश्च समस्यमानपदद्वयस्य स्वार्थपरित्यागेनैकार्थ-प्रतिपादकत्वम्। सचार्थो राजकीयभिन्नो राजसम्बन्धवाश्चायमिति भेदरूपः संसर्गरूपश्च।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० १०, पङ्क्ति १ से ३

२. 'अत्र गौतमीयाः-समासेषु क्लृप्तराजपदादेरेव सम्बन्धिलक्षणया राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरुष इति बोधसम्भवे न शक्तिकल्पनं युक्तम्।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ११०, पङ्क्ति १५ से १६

इसके अतिरिक्त वैयाकरणों का जो यह कथन है कि समासों में अपने अर्थ-बोधन की शक्ति न मानने पर वे अर्थवान् नहीं हो पाएङ्गे। फलतः उनकी प्रातिपदिक संज्ञा भी नहीं हो सकेगी तो यह कथन भी ठीक नही है, क्योंकि **'कृत्तद्धित-समासाश्च'** इस सूत्र द्वारा समास की प्रातिपादिक संज्ञा का स्पष्ट विधान होने से समास में विशष्टार्थ के बोधन की समास-शक्ति न मानने पर भी इस सूत्र से उसके प्रातिपादिक संज्ञा की उपपत्ति हो जाती है।[१]

एकदेशी मीमांसकमत-द्रव्य-शक्तिवाद

एकदेशी मीमांसको का कहना है कि 'सर्वत्र यौगिक शब्दों से द्रव्य का ही अभिधान होता है, इस वार्तिक के अनुसार कृत्, तद्धित् समास, आदि सभी यौगिक शब्दों में द्रव्य के ही बोधन की शक्ति है।[२]

अन्य मीमांसक-मत शक्तिलक्षणोभयवाद

अन्य मीमांसक आचार्यों का कहना है कि उपर्युक्त वार्त्तिक सभी यौगिक शब्दों में द्रव्य की शक्ति का अभिधान नहीं करता, अपितु जिनमें किसी अर्थ के बोधन की शक्ति का ज्ञान नही हो पाता ऐसे कतिपय यौगिक-पदों में ही द्रव्य के बोधन की शक्ति का प्रतिपादन करता है अतः **पाचकः** इस कृदन्त पद में तथा **'गोमान्'** इस तद्धितान्त यौगिक पद में पाककर्त्ता तथा गाय के स्वामी रूप द्रव्य के बोधन की शक्ति होने पर भी बहुव्रीहि-समास-रूप यौगिक पदों में सर्वत्र द्रव्य की वाचकता (शक्ति) मानना असम्भव है।

यद्यपि '**एक हायनं वर्षं यस्याः सा**' इस विग्रह से निष्पन्न 'एक-हायनी' (एक वर्षीया) तथा '**पिङ्गे अक्षिणी यस्याः सा**' इस विग्रह से निष्पन्न 'पिङ्गाक्षी (पीले नेत्र वाली), इन दोनों बहुव्रीहि-समास-स्थलों में बिना द्रव्य के गुणवाचक एकहायन तथा 'पिङ्गाक्ष' पदों की अनुपपत्ति हो जाने से गौरूप द्रव्य की वाचकता या आक्षेपकता सिद्ध हो जाती है, तथापि '**चित्राः गावः यस्य सः**' इस विग्रह से निष्पन्न 'चित्रगुः' इस बहुव्रीहि-समास में चित्र गुण होने से

---

१. 'यत्तु समासेऽर्थवत्वाभावात् प्रातिपदिकसंज्ञा न स्यादिति। तन्न कृत्तद्धितसमासाश्च (पा०सू०१/२/४६) इति तद्विधानात्।' –भाट्टचिन्तामणि, पृ० ११, पङ्क्ति १९-२०

२. 'अत्र मीमांसकैकदेशिनः' -सर्वत्र यौगिकैः शब्दैर्द्रव्यमेवाभिधीयते (तंत्रवार्तिक तृतीय अध्याय प्रथम पाद ६८८) इति वार्त्तिकात् सर्वेषां कृत्तद्धितसमासरूप-यौगिक-शब्दानां द्रव्ये शक्तिमाहुः।' –भाट्टचिन्तामणि, पृ० ११२, पङ्क्ति ३ से ४

गुण के गुणी रूप में 'गौ'रूप द्रव्य की वाचकता मान लेने पर भी अन्य पदार्थ देवदत्तादि द्रव्य रूप विशेष्य का बोध असम्भव होने के कारण इस अन्य पदार्थ देवदत्त रूप द्रव्य का बोध होने के लिए बहुव्रीहि-समास में द्रव्य-लक्षणा-वृत्ति मानना आवश्यक है अतः यह सिद्ध हो जाता है कि बहुव्रीहि-समास में सर्वत्र द्रव्यबोधन की केवल शक्ति ही नहीं होती, अपितु लक्षणा भी होती है।[1]

भाट्टचिन्तामणिकार-कृत समास-वृत्ति-निराकरण

इस विषय में भाट्टचिन्तामणिकार का कहना है कि समासों में समासार्थ के बोधन की शक्ति एवं लक्षणा में से कोई भी वृत्ति नहीं होती। जिस प्रकार श्लोकादि में अन्वय वाक्यों से श्लोकार्थ का बोध होता है, उसी प्रकार समास-द्वारा उपस्थित विग्रह वाक्यों से ही समासार्थ का बोध हो जाता है। जिस समास में वक्ता का अभिप्राय होता है, वैसा ही विग्रह उपस्थित किया जाता है. अतः विग्रह वाक्य द्वारा वक्ता के अभिप्रेत समासार्थ का बोध हो जाने से समासों में शक्ति या लक्षणा रूप वृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं रहती।[2]

विग्रह वाक्यों द्वारा परस्पर भिन्न समासार्थों का बोध किस प्रकार हुआ करता है, इसे स्पष्ट करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि 'रामेश्वर' इस स्थल में कौन सा समास है? ऐसा जब श्री रामचन्द्र जी से पूछा गया तो शिवभक्त श्री रामचन्द्र ने '**रामस्य ईश्वरः**' इस विग्रह द्वारा तत्पुरुष समास का प्रतिपादन किया। जब महेश्वर से पूछा गया तो रामभक्त होने के कारण '**रामः ईश्वरो यस्य सः**' (राम जिसके ईश्वर हैं ऐसा मैं) इस विग्रह को उपस्थापित कर उन्होंने बहुव्रीहि-समास का प्रतिपादन किया। जब ऋषियों से पूछा गया तो

---

१. परे तु अनिर्ज्ञात-शक्तिकैकदेशयौगिकपदपरमिदं वार्त्तिकं तेन पाचको गोमानित्यादिकृत्तद्धितानां द्रव्यवाचित्वेऽपि बहुव्रीहेर्न तद्वाचित्वं तत्रापि विशेष्ये द्रव्याविनाभूतगुण-वाचकपदबहुव्रीहेरेकहायनी – पिङ्गाक्षीत्यादेर्द्रव्यवाचित्वे द्रव्याक्षेपकत्वे वा चित्रगुरित्यादौ तदसम्भवेन द्रव्यलक्षणाया आवश्यकत्वात्। अतः क्वचिद् बहुव्रीहौ लक्षणा।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ११२, पङ्क्ति ५ से ९

२. अहं तु ब्रुवे – समासेषु न शक्तिर्न वा लक्षणा, किन्तु समासोपस्थितविग्रहवाक्यादेव बोधः। श्लोकादावन्वयवाक्यादिवत्। अत एव 'रामेश्वर' इत्यादौ–

रामस्तत्पुरुषं प्राह बहुव्रीहिं महेश्वरः।
अन्ये तु ऋषयः सर्वे कर्मधारयमूचिरे।।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ११२, पङ्क्ति १९ से २३

राम तथा ईश्वर-महेश्वर दोनों को एक दूसरे से अभिन्न मानने वाले ऋषियों ने **'रामश्चासौ ईश्वरः'** इस विग्रह वाक्य द्वारा कर्मधारय-समास का प्रतिपादन किया। इस उदाहरण द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि विग्रह वाक्य के अनुरूप ही समासार्थ का बोध होता है। इसीलिए जिन स्थलों में विग्रह में सन्देह उपस्थित हो जाता है, वहाँ अर्थबोध में होने वाले संदेह की भी उपपत्ति हो जाती है। इस प्रकार समास वाक्यों में विग्रह वाक्यों की उपस्थिति के द्वारा अर्थबोधकता सिद्ध हो जाती है।[१]

१. 'इत्यादौ तादृशविग्रहवाक्योपस्थित्यैव बोधः। एवञ्च विग्रह-संदेहे बोध-संदेहोऽप्युपपद्यते। अतः समासवाक्यस्य विग्रहवाक्योपस्थित्या बोधजनकत्वं युक्तम्।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ११३, पङ्क्ति १ से ३

में लक्षणा होने से नञ् के लक्ष्य अर्थ की प्रत्ययार्थ से भिन्न घट-पदार्थ के साथ अन्वय होने से यह पर्युदास है। इस पर्दुदास में लक्षणा होने से ही इसे प्रतिषेध की अपेक्षा दुर्बल माना गया है।[१]

मीमांसकों के अनुसार जहाँ पर प्रतिषेध मानने पर (नञर्थ का प्रत्ययार्थ के साथ अन्वय मानने पर) अनुषङ्ग, वाक्यभेद तथा विकल्प-प्रसक्ति, ये तीनों दोष उपस्थित हो जाते हैं, वहाँ प्रतिषेध न मानकर पर्युदास माना जाता है। अर्थात् नञर्थ का प्रत्ययार्थ से भिन्न में अन्वय किया जाता है।[२] जैसे - **'यजतिषु ये यजामहं करोति'**,[३] **'नानुयाजोषु'**[४] इस स्थल में प्रतिषेध मानने पर उपर्युक्त तीनों दोष उपस्थित हो जाने के कारण ही यहाँ प्रतिषेध न मानकर पर्युदास माना गया है।[५]

मीमांसकों के विपरीत दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि ने **'यजतिषु ये यजामहं करोति'**[६] **'नानुयाजेषु'**[७] यहाँ पर उपर्युक्त तीनों दोषों में से वाक्यभेद तथा करोति पद के अनुषङ्ग रूप दो दोषों के कारण ही पर्युदास माना है। उनका कहना है कि इस स्थल में यदि पर्युदास न मानकर प्रतिषेध मानें तो भी विकल्प की आपत्ति नहीं होती, क्योंकि नञर्थ के अन्वयि (जिसके साथ नञर्थ का अन्वय हुआ है, उस) में विद्यमान अन्वयितावच्छेदक से अवच्छिन्न प्रतियोगिता वाले अभावों में विशेष-विधि तथा निषेध का अभ्यनुज्ञा तथा विशेष-निषेध फल होने का नियम व्युत्पत्ति-सिद्ध होने के कारण ऐसे विधि तथा प्रतिषेधों का विषय एक होने से इन स्थलों में विकल्प में दोष हो जाता है, परन्तु **'यजतिषु**

---

१. 'दीधितिकारस्तु संसर्गाभावत्वमन्योन्याभावत्वं च नञः शक्यतावच्छेदकमिति नञो नानार्थत्वं, तथाप्यघट इति समासेऽन्योन्याभाववदुपस्थित्यर्थं नञो लक्षणा। अत एव प्रतिषेधापेक्षया पर्युदासो दुर्बलत्वेन गीयते।'

२. 'पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्।
प्रतिषेधः स विज्ञेयः क्रियया सह यत्र नञ्।।'
—मीमांसा-न्याय-प्रकाश, पृ० १६०, पङ्क्ति ५ से पृ० १६१, पं० १

३. मीमांसान्याय-प्रकाश में उद्धृत, चौखम्बा-प्रकाशन, पृ० १६९, १७०, १७२

४. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र २४/१३/६

५. द्रष्टव्य- सिद्धान्तमत-निरूपण, पृ० १९३

६. तंत्रसिद्धांतरत्नावलि में उद्धृत पृ० १४०, पङ्क्ति १२

७. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र २४/१३/६

ये येजामहं करोति, नानुयाजेषु' यहाँ पर विधिद्वारा याग-सामान्य में 'येयजामह' का विधान होने से तथा **'नानुयाजेषु'** इस निषेध से अनुयाज में ही 'येयजामह' का निषेध होने के कारण विधि तथा प्रतिषेध दोनों में एकविषयता न होकर वैषम्य है अत: यहाँ पर प्रतिषेध मानने पर भी विकल्प की प्रसक्ति नहीं होती। इसलिए यहाँ पर वाक्यभेद तथा करोति पद का अनुषङ्ग, इन दो दोषों के परिहार्थ ही पर्युदास माना गया है।[१]

सिद्धान्त-मत-निरूपण

नञर्थ के विषय में सिद्धांती मीमांसकों का कहना है कि नञ् की अभाव-मात्र में शक्ति है तथा शक्यतावच्छेदक भी अभावत्व ही है, क्योंकि इसे ही शक्यतावच्छेदक मानने में लाघव है अत: अन्योन्याभाव भी अभाव होने से इसमें भी नञ् की लक्षणा न मानकर शक्ति मानना ही समीचीन है।[२]

पूर्वपक्षकृत-आक्षेप

पूर्वपक्षियों का यह आक्षेप है कि उक्त प्रकार से नञ् की अभाव मात्र में शक्ति मानने पर भी जैसे घट पद की घटत्व से अवच्छिन्न घट में ही शक्ति होने के कारण नीलघटत्व-प्रकारक घट का बोध होने के लिए घट पद की नील घट में लक्षणा मानी जाती है, उसी प्रकार नञ् पद की अभावत्व से अवच्छिन्न (विशिष्ट) अभाव-मात्र में शक्ति होने पर भी भेदत्व-प्रकारक तथा अभावत्व-प्रकारक के बोध के लिए नञ् की भेद में लक्षणा मानना आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं मानते हैं तो जैसे **'भूतलं घटवत्'** (भूतल घटयुक्त है), ऐसा निश्चय होने पर भी **'भूतलं नील-घटवत् न वा'** (भूतल नील घटयुक्त है? या नहीं?), यह संशय उत्पन्न हो जाता है, वैसे ही **'घट: पटो न'** यहाँ पर भी पटा-भाव-प्रकारक घट की प्रतीति हो जाने पर भी 'घट पट-निरूपित भेदवान् है या नहीं? यह संशय उत्पन्न हो ही जाता है, क्योंकि अभावत्व-प्रकारक पटाभाव का जो निश्चय हुआ है, वह भेदत्व-प्रकारक भेदरूप-अभाव के

---

१. 'नानुयाजेष्वित्यत्र प्रतिषेधेपि न विकल्पापत्ति:। अन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिता-कत्वस्यापि विशेषविधिनिषेधयोर्विशेषनिषेधाभ्यनुज्ञाफलकत्वनियमस्य व्युत्पत्तिसिद्धतया विधिप्रतिषेधयोरेकविषयत्वात्। नानुयाजेष्वित्यत्र तदभावेन वैषम्यात्। अतोऽत्र पूर्वोक्त युक्त्यैव पर्युदाससिद्धिरित्याहु:। —भाट्टचिन्तामणि, पृ० १२०, पङ्क्ति ८ से १२

२. 'अन्ये तु नञोऽभावमात्रे शक्ति:। शक्यतावच्छेदकं च लाघवादभावत्वम् अतो नान्योन्याभावे लक्षणा। —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ११९, पङ्क्ति ८ से ९

निश्चय से भिन्न (अभावत्व) प्रकार वाला है। अतः भिन्न प्रकारकत्व-रूप से होने वाला अभाव का निश्चय, भिन्न प्रकारकत्व रूप से होने वाले उपर्युक्त अभाव के संदेह में प्रतिबंधक न बन पाने के कारण '**घटः पटो न**' इस स्थल में भी पटा-भावत्व-प्रकारक घट का निश्चय, '**घटः पट-भेदवान्न वा**' ऐसे पट-निरूपित भेदत्व-प्रकारक-घट-भेद के संदेह होने में प्रतिबंधक नहीं बन पाता है इसलिए नञ् की अभाव-मात्र में शक्ति मानने पर भी भेद में इसकी लक्षणा मानना आवश्यक है।[१]

इसी प्रकार '**न कलञ्जं भक्षयेत्**' इत्यादि-प्रतिषेध वाक्यों में भी नञ् से अभावत्व-प्रकारक कलञ्जभक्षणाभाव-प्रकारक प्रतीति होने पर भी कलञ्जभक्षण के संसर्गाभावत्व-(अत्यन्ता-भावत्व) प्रकारक अत्यन्ता-भाव रूप संसर्गाभाव का बोध होने के लिए इसमें नञ् की लक्षणा मानना आवश्यक है।[२]

आक्षेप-निराकरण

पूर्वपक्षियों के उक्त आक्षेप का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि नञ् की अभाव-मात्र में शक्ति मानने पर भी अन्योन्या-भाव तथा संसर्गाभाव की प्रतीति होने के लिए नञ् की दोनों में लक्षणा मानना आवश्यक है, ऐसा जो पूर्वपक्षियों का कथन है,[३] वह समीचीन नहीं है, क्योंकि नञ् से होने वाली अन्योन्याभाव (भेद) तथा संसर्गाभाव की प्रतीति में अन्योन्याभाव के प्रतीति का हेतु (कारण) संसर्गाभाव (अत्यन्ताभावादि) की प्रतीति के हेतु (कारण) से भिन्न होता है। जैसे **घटः पटो न** (घट, पट नहीं है), इत्यादि अन्योन्या-भाव-स्थलों में प्रतियोगी पट एवं उसके अधिकरण घट के वाचक 'घट' तथा 'पट' पदों की समान (प्रथमा) विभक्ति से उपस्थिति अन्योन्याभाव के बोध में कारण होती है। इसके विपरीत '**भूतले घटाभावः**' इत्यादि संसर्गाभाव-स्थलों में घटादि प्रतियोगी तथा उनके अधिकरण भूतलादि की

---

२. 'न चैवमपि घटपदान्नीलघटत्व-प्रकारप्रतीतौ घटपदलक्षणेवान्योन्याभावप्रकारकप्रतीत्यर्थं नञो लक्षणावश्यिका। अन्यथा न घट इत्यन्ताभावप्रकारकप्रतीतौ पटः घटो नेति प्रतीत्यनन्तरं पटः घटो न वेति संशयः स्यात्, भिन्न-प्रकारकत्वेनाभावनिश्चयस्या-प्रतिबन्धकत्वात्।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ११९, पङ्क्ति १० से १३

३. एवं वाक्ये प्रतिषेधस्थलेऽपि संसर्गाभावप्रतीत्यर्थं लक्षणावश्यिकेति वाच्यम्। —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ११९, पङ्क्ति १४ से १५

किसी भी विभक्ति से उपस्थिति संसर्गाभाव के बोध में कारण है। नञ् के द्वारा अभाव मात्र का बोध होने पर भी दोनों स्थलों में बोध-सामग्री भिन्न होने से, परस्पर भिन्न बोध-सामग्री द्वारा दोनों का पृथक् रूप से बोध हो जाने के कारण इनमें नञ् की लक्षणा मानने की आवश्यकता नहीं रहती।[१] या फिर ऐसा भी माना जा सकता है कि परस्पर आधाराधेय-भाव-सम्बन्ध से अन्वित पदार्थों के साथ समभिव्याहृत (सहोच्चरित) नञ् अत्यन्ताभाव का तथा परस्पर अभेद-संसर्ग (सम्बन्ध) से अन्वित पदार्थों के साथ समभिव्याहृत नञ् अन्योन्याभाव (भेद) का बोधक है। इसलिए '**चैत्रः न पचति**' (चैत्र पकाता नहीं है), यहाँ पर आधार चैत्र तथा आधेय पाककृति, दोनों में आधारधेय-भाव-संसर्ग होने के कारण इनके साथ समभिव्याहृत नञ् का अर्थ अत्यन्ताभाव है।

यद्यपि '**चैत्रः न पचति**' इस वाक्य से '**चैत्रे पाककृतिर्नास्ति**' इस प्रतीति के आधार पर अत्यन्ताभाव का बोध हो जाता है, तथापि इस वाक्य से हमेशा अत्यन्ताभाव का ही बोध हो, यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि कभी इसी वाक्य में '**पाकानुकूलकृतिमद्भिन्नश्चैत्रः**' इस प्रतीति के आधार पर अन्योन्याभाव का भी बोध होता है अतः यही मानना उपयुक्त होगा कि अत्यन्ताभाव के बोधन में वक्ता का तात्पर्य होने पर नञ् अत्यन्ताभाव का तथा वक्ता का अन्योन्याभाव के बोधन में तात्पर्य होने पर नञ् अन्योन्याभाव का बोधक होता है। इस प्रकार तात्पर्यज्ञान-द्वारा नञ् से अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव के बोध की उपपत्ति हो जाने से नञ् की लक्षणा कहीं पर भी मानना आवश्यक नही है।[२]

पूर्वपक्षियों की यह आपत्ति है कि यदि नञ् की अभाव-मात्र में शक्ति मानी जाएगी तो ऐसी स्थिति में प्रतिषेध तथा पर्युदास, इन दोनों अभावों में नञ्

---

१. 'प्रतियोग्यधिकरणवाचकपदयोः समानविभक्तिकत्वस्यान्योन्याभावबोधहेतुत्वस्य त-योः प्रथमादि-विभक्तिकत्वस्यात्यन्ताभावबोधहेतुत्वस्य च कल्पनया लक्षणाया अभावात्।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ११९, पङ्क्ति १५ से १७

२. 'यद्वा न समभिव्याहारे यत्पदार्थयोराधाराधेयभावसंसर्गेणान्वयः। तत्रात्यन्ताभावप्रत्ययः। यत्राभेदसंसर्गेणान्वयस्तत्रान्योन्याभावभानमिति व्युत्पत्तिः। तेन 'न पचति चैत्र इत्यंत्रात्यन्ताभावबोधः सुवचः। किं चात्रात्यन्ताभावाबोधो न नियतः। कदाचिदस्मादेव वाक्यात्पाकानुकूलकृतिमद्भिन्नश्चैत्र इत्यन्योन्याभावस्यापि बोधात् अतस्तादृश-तात्पर्यज्ञानात्तादृशो बोध इति न लक्षणावश्यिकेति।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ११९, पङ्क्ति १८ से २३

की समान रूप से शक्ति होने के कारण दोनों में समानता होने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाएगा।

पूर्वपक्षियों की इस आपत्ति का समाधान देते हुए सिद्धान्ती मीमांसक कहते हैं कि पूर्वपक्ष द्वारा उपस्थापित आपत्ति सिद्धान्त में इष्ट होने के कारण इष्टापति है। प्रतिषेध तथा पर्युदास दोनों अभाव रूप होने से, दोनों में अभावत्व रूप से समानता होना सिद्धान्त-सम्मत है।[१]

पर्युदास-हेतु-निरूपण

प्रतिषेध तथा पर्युदास दोनों अभावत्व रूप से समान होने से प्रतिषेध के अतिरिक्त रूप में पर्युदास मानने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है? इस पूर्वपक्ष के सम्भावित प्रश्न के समाधानार्थ सिद्धान्ती कहते हैं कि जिन स्थलों में प्रतिषेध मानने पर, अर्थात् नञर्थ का प्रत्ययार्थ (भावना) के साथ अन्वय मानने पर अनुषङ्ग, वाक्यभेद तथा विकल्प, ये तीनों दोष उपस्थित हो जाते हैं, वहाँ इन दोषों के परिहारार्थ, ऐसे स्थलों में प्रतिषेध न मानकर पर्युदास माना जाता है,[२] अर्थात् प्रत्ययार्थ (भावना) से भिन्न पदार्थ के साथ नञर्थ का अन्वय माना जाता है। जैसे **'यजतिषु येयजामहं करोति नानुयाजेषु'** इस स्थल में प्रतिषेध मानने पर तीनों दोष उपस्थित हो जाते हैं। कारण यह है कि प्रतिषेध में नञर्थ का प्रत्ययार्थ (भावना) के साथ ही अन्वय हुआ करता है। यहाँ पर प्रतिषेध मानने पर 'नानुयाजेषु' इस अंश में प्रत्ययार्थ (भावना) की उपस्थिति होने के लिए करोति पद का अनुषङ्ग आवश्यक हो जाता है। इसके अनन्तर करोति पद का अनुषङ्ग कर लेने पर **'यजतिषु येयजामहं करोति अनुयाजेषु न करोति'**,[४] इस प्रकार एक करोति-पद से यागसामान्य तथा अनुयाज में जो एकवाक्यता थी वह विनष्ट हो जाती है फलतः वाक्यभेद दोष उपस्थित हो जाता है।

---

१. न चैवं प्रतिषेध-पर्युदासयोस्तुल्यत्वापत्तिः, इष्टापतेः।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ११९, पङ्क्ति २३ से पृ० १२०, पङ्क्ति १

२. 'यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेषु' इत्यत्र वाक्यभेदकरोत्यनुषङ्गविकल्पपरिहाराणां पर्युदासबीजत्वात्।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० १२०, पङ्क्ति १ से ३

३. तंत्रसिद्धान्तरत्नावलि में उद्धृत पृ० १४०, पङ्क्ति १२।

४. मीमांसा-न्याय-प्रकाश, चौखम्बा-प्रकाशन में उद्धृत, पृ० १६९, १७०, १७१, १७२।

इसके अतिरिक्त दो वाक्य हो जाने पर यजति-पदवाच्य याग-सामान्य में ये-यजामह का विधान तथा अनुयाज भी याग होने से इसमें येयजामह का निषेध होने के कारण विकल्प-दोष की भी प्रसक्ति हो जाती है।

निषेध उसी का होता है, जिसकी प्राप्ति हो चुकी हो। जिसका पहले इष्टसाधनत्व रूप से ज्ञान हो चुका रहता है, उसका ही निषेध होने का नियम है। '**यजतिषु ये यजामहं करोति**' इस विधि से जहाँ ये-यजामह' की इष्टसाधनता का ज्ञान होता है, वहीं 'नानुयाजेषु' यहाँ पर प्रतिषेध मानने पर ये-यजामह' अनिष्ट-साधन है, ऐसा विपरीत ज्ञान होने के कारण दोनों में प्रामाण्य न हो पाने की दशा में '**व्रीहीभिर्यजेत**[१] **यवैर्यजेत**'[२] यहाँ पर जैसे व्रीही द्वारा यागसम्पादन की दशा में व्रीही में तथा यवों से यागसम्पादन होने की दशा में यवों में अंशतः पाक्षिक-प्रामाण्य होने से विकल्प माना जाता है, वैशे ही यहाँ पर भी पाक्षिक प्रामाण्य को मान लेने पर विकल्प की आपत्ति हो जाती है।

उक्त तीनों दोषों के परिहारार्थ यहाँ पर प्रतिषेध न मानकर पर्युदास माना गया है। पर्युदास में नञर्थ का प्रत्ययार्थ (भावना) में अन्वय न होकर प्रत्ययार्थ से भिन्न में ही होता है।[३] अतः '**यजतिषु येयजामहं करोति**[४] **नानुयाजेषु**'[५] यहाँ पर पर्युदास मान लेने पर नञर्थ का प्रत्ययार्थ से भिन्न अनुयाज में अन्वय हो जाने से करोति पद का अनुषङ्ग, इससे उत्पन्न वाक्यभेद तथा इस वाक्यभेद के कारण होने वाली विकल्प-प्रसक्ति, ये तीनों दोष दूर हो जाते हैं। फलतः 'अनुयाज-भिन्न-यागविषयिका ये-यजामहकरणिका अन्याङ्गकलापेति- कर्त्तव्यताका भावना' ऐसा एकवाक्यतापन्न शाब्दाबोध निष्पन्न हो जाता है।

इस प्रकार इस विवेचन से अभाव-मात्र में नञ् की शक्ति सिद्ध हो जाती है।

---

१. आपस्तम्ब श्रौत-सूत्र ६/३१/१३

२. वही, ६/३१/१३

३. पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्।—मीमांसा-न्याय-प्रकार, पृ० १६०, पङ्क्ति ५, अत्रोत्तरपदं क्रियावाचकप्रत्ययातिरिक्तपरम्, अतश्च यत्र नञ् क्रियाभिन्नवाचकपदेन सम्बन्ध्यते तत्र पर्युदासः। क्रिया चाख्यातार्थः। एवञ्चाख्यातार्थभिन्न-प्रतियोगिता-काभावबोधवाक्यत्वं पर्युदासत्वमिति फलितम्।
—मीमांसा-न्याय-प्रकाश की सार-विवेचिनी व्याख्या मी०न्या०प्र०, पृ० १६०, पङ्क्ति ३१ से पृ० १६१, पं० ३

४. 'यजतिषु ये यजामहं करोति।'
—तंत्रसिद्धान्तरत्नावलि में उद्धृत, पृ० १४०, पङ्क्ति १२

५. आपस्तम्ब श्रौत सूत्र २४/१३/६

धात्वर्थ-निरूपण

१. वैयाकरणमत-निरूपण

धातु का वाच्य अर्थ क्या है? इस प्रश्न पर विचार करते हुए वैयाकरण कहते हैं कि भूवादि धातुओं के उत्पत्ति, आदि फल हैं तथा इन फलों का जो जनक व्यापार है, वही धात्वर्थ है।

इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए वैयाकरण कहते हैं कि उत्पत्ति का अर्थ प्राकट्य है। 'भूसत्तायाम्'[१] इस धातु पाठ द्वारा समस्त धातुपाठ-पठित धातुओं की फल में शक्ति है, इस तथ्य का बोध होता है तथा '**भूवादयो धातवः**'[२] इस सूत्र से 'वा' धातु के समान भूवादि की धातु-सञ्ज्ञा का विधान होता है अतः इससे 'वा' धातु के वाच्यार्थ गतिरूप व्यापार के समान सभी धातुओं का अर्थ व्यापार है, यही बोध होता है।[३]

मण्डनमिश्र-मत-निरूपण

धात्वर्थ के विषय में मण्डनमिश्र का कथन है कि फल ही धात्वर्थ है। पच्, गम्, त्यज, पत्, इत्यादि धातुओं के क्रमशः विक्लिति (पाक), उत्तरदेश-संयोग, पूर्वदेश-विभाग तथा अधोदेशसंयोग रूप फल ही अर्थ हैं। इन फलों का जो जनक व्यापार है, वह धात्वर्थ न होकर प्रत्यय का अर्थ है। लट्, लिट् आदि

---

१. धातु पाठ

२. पा०सू० १/३/१

३. 'ननु धातोः किं वाच्यमिति चेत्। अत्र वैयाकरणाः। भूवादि-धातूनामुत्यत्यादिरूपं फलं तदनुकूलो व्यापारश्च वाच्यः। उत्पत्तिः प्राकट्यम्। फले शक्तिग्राहकश्च भूसतायामित्यादयः सर्वोपि धातुपाठः। व्यापारे शक्तिग्राहकं च भूवादयो धातवः इति सूत्रम्, तच्च वा प्रकारेषु भ्वादिषु धातुसंज्ञां विधत्त इति वाधातुवाच्यार्थ-वाचितां सर्वधातूनां सूत्रयति। वाधातोश्च गतिरूप-व्यापार एव वाच्य इति सर्वधातूनां व्यापारवाचित्वम्। —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७६, पङ्क्ति ८ से १४

लकारों के वर्तमानत्व, परोक्षत्वादि अर्थ भी प्रत्यय के ही अर्थ हैं अतः व्यापार तथा लडाद्यर्थ दोनों प्रत्यय रूप एक पद से उपात्त होने के कारण लडाद्यर्थ का समानपदोपात्त व्यापार में अन्वय हो जाने से 'गच्छति' आदि का '**फलानुकूलो वर्तमानकालिको व्यापारः** (फलोत्पादक वर्तमानकालिक व्यापार) ऐसा शाब्दबोध होता है। इसीलिए जिस समय व्यापार समाप्त हो जाता है, उस समय '**पचति**' ऐसा प्रयोग नहीं होता, अपितु फलोत्पत्ति होने के पूर्व केवल व्यापार ही जिस समय विद्यमान रहता है, उसी समय '**पचति**' ऐसा प्रयोग होता है और व्यापार समाप्त हो जाने पर 'पाक विद्यमान है', पच्यर्थ विद्यमान है, ऐसा जो प्रयोग है, वह व्यापार समाप्ति दशा में जैसे 'विक्लित्ति (पाक) विद्यमान है, यह प्रयोग होता है, उसी तरह यह भी इष्ट है, क्योंकि '**पाकं करोति**' या '**पाके व्याप्रियत**' इत्यादि प्रयोग द्वारा पाक से पृथक् रूप में 'कृ' धातु के द्वारा व्यापार का विवरण दिया जाता है अतः पाक यह व्यापार से भिन्न होने के कारण व्यापार- समाप्ति दशा में भी '**पाकं विद्यते**' यह प्रयोग समीचीन है।[1]

कुछ अन्य आचार्यों का मन्तव्य है कि 'जानाति, नष्यति, इत्यादि स्थलों में व्यापार ही प्रत्ययार्थ है। उसका धात्वर्थ के साथ अमेद रूप से अन्वय हो जाता है फलतः 'जानाति' का ज्ञानाभिन्न व्यापार तथा 'नष्यति' का नाशभिन्न व्यापार ऐसा बोध हो जाता है।

इनके सिद्धान्त का खण्डन करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि प्रकृति (धातु) के अर्थ तथा प्रत्यय के अर्थ के मध्य अभेदान्वय अव्युत्पन्न होने के कारण, इस अव्युत्पन्न अन्वय पर आधारित उपर्युक्त अर्थ किसी दाम्भिक व्यक्ति द्वारा लिखित होने से उपेक्षणीय है।[2]

---

१. अत्र मण्डनः-फलमेव धात्वर्थः। पचिगमित्यजिपतत्यादीनां विक्लित्त्युत्तरदेशसंयोग-पूर्वदेशविभागाधोदेशसंयोगादय एवार्थाः अनुकूल-व्यापारस्तु प्रत्ययार्थ। लडाद्यर्थवर्त्त-मानत्वादिकं व्यापारेऽन्वेति, समानपदोपातत्वात्। तेन व्यापार-विरमे न पचतीतिप्रयोगः, फलानुत्पाद-दशायां व्यापारमात्रकाले पचतीति प्रयोगश्च। व्यापार-विरमे पाको विद्यते पच्यर्थो विद्यत इति प्रयोगस्तु विक्लित्तिर्वर्त्तत इतिवदिष्ट एव अतएव पाकं करोति पाके व्याप्रियत इति पाकात्पृथक्-करणेन व्यापार-विवरणम्।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ७६, पङ्क्ति २१ से २८

२. यत्तु जानातिनश्यतीत्यादौ व्यापार एव प्रत्ययार्थः, तस्य च धात्वर्थेऽभेदेनान्वयः, तेन ज्ञानाभिन्नो व्यापारो नाशाभिन्नो व्यापार इत्याह। तत्प्रकृतिप्रत्ययार्थयोर-भेदान्वयस्याव्युत्पन्नत्वेन मूर्खदाम्भिकलिखितत्वेनोपेक्षणीयम्।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ७८, पङ्क्ति १३ से १६

आख्यातार्थ-निरूपण

लट्, लिट् आदि सभी लकारों से होने वाले तिपादि-प्रत्ययों को आख्यात कहते हैं। जिन लकारों के साथ इन तिपादि आख्यात-प्रत्ययों का संयोग होता है उनके अर्थ यद्यपि परस्पर भिन्न होते हैं, तथापि आख्यात-प्रत्यय सभी लकारों के साथ संयुक्त रहने के कारण आख्यातार्थ सर्वत्र समान रूप से विद्यमान रहता है। इस आख्यातार्थ के विषय में वैयाकरण, नैयायिक एवं मीमांसकों में परस्पर मतभेद हैं।

वैयाकरण-मत-निरूपण

वैयाकरणों ने तिपादि आख्यात प्रत्ययों की शक्ति कर्त्ता में मानी है अतः इनके मतानुसार कर्त्ता ही आख्यातार्थ है। **'चैत्रः तण्डुलं पचति'** (चैत्र भात पकाता है) इस स्थल में तिप् इस आख्यात का अर्थ कर्त्ता तथा पच् धातु का अर्थ पाक है। आख्यातार्थ कर्त्ता का प्रथमान्त-पदोपस्थाप्य चैत्र के साथ अभेदान्वय हो जाने पर धात्वर्थमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध ही इन्हें मान्य होने से इनके अनुसार इस वाक्य का **'तण्डुलकर्मकश्चैत्रकर्तृकः पाकः'** ऐसा धात्वर्थ 'पाक'-मुख्यविशेष्यक शाब्दबोध होता है।[१]

नैयायिक-मत-निरूपण

इस विषय में नैयायिकों का कहना है कि यत्नार्थक 'कृ' धातु से सभी आख्यातों का विवरण दिया जाता है। **'किं करोति'** (क्या करता है?) ऐसा यत्न-(कृति) विषयक प्रश्न पर दीए जाने वाले 'पचति' (पाक करता है।) इस

---

१. 'आख्यातार्थकर्तृकर्मणोः प्रथमान्तार्थेन सह अभेदेन अन्वयं कृत्वा धात्वर्थमुख्य-विशेष्यतया शाब्दबोधो भवति – 'चैत्रस्तण्डुलं पचति, चैत्रेण तण्डुलः पच्यते, इति कर्त्ताख्यातस्थले कर्माख्यातस्थले च –'तण्डुलकर्मकश्चैत्रकर्तृकः पाक इति बोधः।' –किरणावली व्याख्या, न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली, पृ० २९७ पङ्क्ति १० से १४।

उत्तर में यदि आख्यात 'ति' का अर्थ यत्न नही मानते हैं तो इस उत्तर की सवर्था अनुपपत्ति हो जाती है अतः यत्न (कृति) ही आख्यातार्थ है।[१]

नैयायिक-सम्मत शाब्दबोध

नैयायिकों के मतानुसार शाब्दबोध में प्रथमान्त पदोपस्थाप्य कर्ता तथा कर्म ही मुख्य विशेष्य होते हैं। इनमें कर्तृवाच्य स्थल में फल का व्यापार में विशेषण रूप में अन्वय होता है तथा कर्मवाच्य स्थल में व्यापार ही फल में विशेषण रूप से अन्वित होता है। दोनों ही स्थलों में प्रत्ययार्थ (आख्यातार्थ) यत्न ही होता है। अतः **'देवदत्तः तण्डुलं पचति'** (देवदत्त भात पकाता है।) इस कर्तृवाच्य का **'तण्डुलनिष्ठ विक्लित्तिजनकयत्नवान् देवतत्तः'** ऐसा शाब्दकोश हो जाता है। इसी प्रकार **'देवदत्तेन तण्डुलः पच्यते'** इस कर्मवाच्य का **'देवदत्तनिष्ठकृतिजन्यव्यापारजन्य फलशाली तण्डुलः'**, ऐसा शाब्दबोध होता है।[२]

मीमांसकमत-निरूपण

भाट्टसम्प्रदाय के मीमांसक भाट्टचिन्तामणिकार आख्यात की शक्ति व्यापाररूप या यत्नरूप भावना में मानते हैं। इनके मतानुसार व्यापार या यत्नरूप भावना ही आख्यातार्थ है।[३]

पूर्वपक्षी इस पर यह आशङ्का व्यक्त करते हैं कि चूंकि धातु ही व्यापार का वाचक है तथा इस धात्वर्थ (व्यापार) से अतिरिक्त भावना के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं है अतः इसे आख्यातार्थ कैसे माना जा सकता है?[४]

---

१. 'अत्र गौतमीयाः। आख्यातस्य यत्नो वाच्यः। यत्नार्थककरोतिना विवरणात्। किं करोतीति यत्नप्रश्ने पचतीत्युत्तरस्य यत्नार्थकत्वं विनानुपपतेः।'
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ८०, पङ्क्ति १ से ३

२. 'अयं च शाब्दबोधप्रकारः। प्रथमान्तपदोपस्थाप्यस्यैव मुख्यविशेष्यत्वम्। कर्ताख्याते फलं व्यापारे विशेषणं, कर्माख्यातेपि व्यापारः फले, जन्यत्वादि च संसर्गः। यत्नश्च प्रत्ययार्थः। तेन तण्डुलनिष्ठविक्लित्तिजनकत्नवान् देवदत्त इति कर्त्ताख्याते, देवदत्तनिष्ठकृतिजन्यव्यापारजन्यफलशाली तण्डुल इति कर्माख्याते बोधः।'
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ८०, पङ्क्ति २७ से ३१

३. एवमाख्यातस्य व्यापाररूप-भावनायां शक्तिः। —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७८, पङ्क्ति १७

४. 'ननु धातोरेव व्यापारवाचितया धात्वर्थातिरिक्तभावनायां मानाभावः।'
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७८, पङ्क्ति १७ से १८

इसके अतिरिक्त '**अस्ति, भवति**' इत्यादि स्थलों में धातुओं से किसी व्यापार की प्रतीति नहीं होती, अपितु उत्पत्ति आदि फलों की ही प्रतीति होती है। फलतः यह सिद्ध हो जाता है कि इन अस् भू आदि धातुओं के समान पच् आदि की शक्ति भी फल में ही है, व्यापार में नहीं।

सिद्धान्ती भाट्टचिन्तामणिकार पूर्वपक्ष की आपत्ति के निराकरणार्थ भावना के अस्तित्व में प्रमाण प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि '**अस्ति, भवति**' इत्यादि स्थलों में भी धर्मी -फल रूप भाव्य में भावनारूप व्यापार विद्यमान रहता है' वैयाकरणों की इस उक्ति के द्वारा तथा 'कपालावस्था में स्थित घट अपने को सम्पन्न (भावित) करता है' इस वार्त्तिक के द्वारा आख्यातार्थ के रूप में भावना का अस्तित्व सिद्ध है।[१]

उपर्युक्त आख्यातार्थ - विचार का निष्कर्ष उपस्थापित करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि व्यापारत्व रूप से मानें या यत्नत्व रूप से, आख्यातार्थ यत्न (कृति) ही है तथा भावना भी वही है और चूंकि इस यत्न का नित्य सकर्मक 'कृ' धातु तथा कर्मार्थक णिजन्त भू धातु द्वारा ही विवरण दिया जाता है, अतः यह यत्न नित्य सकर्मक है। इसीलिए '**स्वास्थ्यकामः स्वपेत्**' इस स्थल में स्वप् अकर्मक होने पर भी स्वास्थ्य यह आख्यातार्थ यत्नरूप भावना का कर्म (साध्य) होने से इस स्वास्थ्य रूप कर्म की अकर्मक स्वप् धातु के साथ उपपत्ति हो जाती है। प्रकृत स्थल में सकर्मक आख्यातार्थ यत्न (कृति) का सकर्मक 'कृ' धातु से '**शयनेन स्वास्थ्य-लाभं कुर्यात्**' ऐसा विवरण दिया जाता है। इसी प्रकार '**शयनेन स्वस्थ्यलाभं भावयेत्**' ऐसा णिजन्त 'भू' धातु से भी इसका विवरण दिया जाता है अतः आख्यातार्थ यत्नरूप भावना की नित्य सकर्मकता सिद्ध हो जाती है।[२]

---

१. 'न चास्तिभवत्यादिधातुतः फलस्यैव प्रतीतेर्व्यापाराऽप्रतीतेश्च तत्सामान्येन पच्यादीनामपि फल एव शक्तिः, न व्यापार इति वाच्यम्। तत्रापि 'अस्त्यादावपि धर्म्यंशे भाव्येऽस्त्येव हि भावना' (वैयाकरण-भूषण-सार, धात्वर्थनिर्णय-कारिका १२) इत्यादि-वैयाकरणोक्तरीत्या कपालावस्थो घट आत्मानं भावयतीति वार्त्तिकोरीत्याच तद्वाचित्वात्।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७८, पङ्क्ति १८ से २३

२. 'तत्सिद्धं व्यापारत्वेन यत्नत्वेन वा प्रत्ययवाच्यो यत्नो भावनेति। स च नित्यं सकर्मकः। नित्यसकर्मकेन णिजन्त-भवतिना च विवरणात्। एवञ्च स्वास्थ्यकामः स्वपेदित्याद्यकर्मकधातूनामपि स्वास्थ्यादिभाव्यकत्वोपपत्तिः।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ८२, पङ्क्ति ३३ से पृ० ८३, पङ्क्ति ३

भावना-मुख्य-विशेष्यक-शाब्दबोध

मीमांसकों ने शाब्दाबोध में भावना को ही मुख्य विशेष के रूप में माना है अतः उपर्युक्त वाक्य का शयनकरणिका स्वास्थ्यसाध्यिका भावना' ऐसा मीमांसा-सम्मत भावनामुख्य-विशेष्यक शाब्दबोध होता है।[1]

पूर्वपक्षियों की इस पर यह आपत्ति है कि चूंकि '**चैत्रः पचति**' इत्यादि स्थलों में '**पाकानुकूल-कृतिमान् चैत्रः**' इस प्रकार भावना का प्रथमान्त पदोपस्थाप्य चैत्रादि में प्रकार-विशेषण रूप से अन्वित होने का ही अनुभव होता है, अतः भावना में 'मुख्यविशेष्यत्व' होना सम्भव नहीं है।

पूर्वपक्षियों की उपर्युक्त आपत्ति का निराकरण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि चूंकि '**स्थाल्यां पचति,**' '**काष्ठैः पचति,**' '**खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्यात्**' इत्यादि स्थलों में कोई प्रथमान्त पदोपस्थाप्य न होने पर भी शाब्दबोध हो जाता है, अतः भावना का शाब्दबोध में विशेषण रूप से अन्वय होने में प्रथमान्त पदोपस्थाप्य् की उपस्थिति कारण है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, फलतः भावना को ही मुख्य-विशेष्य मानना होगा।[2]

उक्त स्थलों में प्रथमान्त पदोपस्थाप्य में भावना का विशेषण रूप से अन्वय होने के लिए यदि पूर्वपक्षी प्रथमान्त कर्त्तावाचक किसी पद का अध्याहार करें तो यह भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि 'गच्छति' इत्यादि स्थलों में प्रत्ययवाच्य संख्या का समान पद – 'ति' प्रत्यय से लक्षणा द्वारा आक्षिप्त कर्त्ता के साथ अन्वय सम्भव होने से तथा प्रथमान्त कर्तृवाचक पद का अध्याहार करने की अपेक्षा प्रत्यय से कर्ता की आक्षेप रूप लक्षणा मानने में लाघव होने के कर्ता में आख्यात (प्रत्यय)की लक्षण मानना ही युक्ति सङ्गत है। इस प्रकार कर्ता की

---

१. तस्य भावनायां कर्मत्वेनान्वयात्। तस्याश्च मुख्यविशेष्यत्वेनैवान्वयः।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ८२, पङ्क्ति ३ से ४

२. 'न च चैत्रः पचतीत्यादौ तस्याः प्रथमान्तपदोपस्थाप्ये चित्रादौ प्रकारतयान्वयानुभवाद् न मुख्यविशेष्यत्वं सम्भवतीति वाच्यम् स्थाल्यां पचति, काष्ठैः पचति-खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्यादित्यादौ प्रथमान्तपदाभावेपि शाब्दबोधानुभवेन भावना-प्रकारक-शाब्दबोधे प्रथमान्तपदोपस्थितेर्हेतुत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्।'

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ८३, पङ्क्ति ४ से ८

आक्षेप द्वारा उपस्थिति हो जाने के कारण शाब्दबोध में आख्यात के अभिधेय अर्थ भावना की मुख्य विशेष्यता सिद्ध हो जाती है।[१]

इस प्रकार शाब्दबोध में भावना की मुख्य विशेष्यता सिद्ध हो जाने पर **'स्थाल्यां पचति', काष्ठैः पचति, खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्यात्** इन वाक्यों के क्रमशः स्थाल्यधिकरणिका पाककरणिका भावना, काष्ठकरणिका पाकसाध्यिका भावना,' तथा 'खादिरभिन्ना यूपकरणिका वीर्य-साध्यिका भावना' इस प्रकार भावना-मुख्य-विशेष्यक शाब्दबोध सम्पन्न हा जाता है।

लकारवाद

जिन लकारों के साथ आख्यात-प्रत्ययों का प्रयोग होता है, वे लकार, लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ्, लुङ् तथा लृङ्, इस भेद से दस हैं। इनमें से लिङ् लकार के अर्थ का विशद रूप से विचार करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार ने इन दसों लकारार्थों का क्रमशः विवेचन किया है।

१. लट्-लकारार्थ-निरूपण

'वर्तमाने लट्'[२] इस सूत्र के अनुशासन से 'लट्' की वर्तमानत्व (वर्तमान काल के बोधन) में शक्ति है। सूत्र में विद्यमान वर्तमान पद का अर्थ स्पष्ट करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि लट् लकार के अधिकरणभूत काल से सम्बन्धित होना या लट् शब्द के प्रयोग के अधिकरणभूत काल रूप उपाधि में विद्यमान रहना ही वर्तमान पदार्थ का अर्थ है अतः तत्तत् क्रियाओं के प्रयोग से प्रयोज्य शब्द का अधिकरण रूप तत्तत् काल ही वर्तमानकाल है। यह वर्तमान काल ही लट् लकार का अर्थ है।[३]

२. लिडर्थ-निरूपण

'अनद्यतने भूते' इस अनुवृत्ति में **'परोक्षे लिट्'**[४] इस पाणिनीय सूत्र के

---

१. 'न च तत्र प्रथमान्तकर्तृवाचिपदाध्याहारः। प्रत्ययवाच्य-संख्यायाः समान-पदोपस्थाप्यकर्त्रन्वयसम्भवेनाध्याहारापेक्षया लक्षणाया लघुत्वेन चाख्याते कर्तृलक्षणाया एव युक्तत्वात्।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ८३, पङ्क्ति ८ से ११

२. पा० सू० ३/२/१२३

३. लटो् वर्तमानत्वे शक्तिः। वर्तमाने लडित्यनुशासनात्। तच्च वर्तमानत्वं लट्प्रयोगाधिकरणकालसम्बन्धित्वं लट्शब्दप्रयोगाधिकरणकालोपाधिवृत्तित्वं वा।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ८६, पङ्क्ति ३२ से पृ० ८७, पङ्क्ति १

४. पा० सू० ३/२/११५

अनुसार (जो आज का नहीं है अर्थात् बीता हुआ) अनद्यतन परोक्ष भूत काल लिट् लकार का अर्थ है।[१]

३. लुडर्थ-निरूपण

'**भविष्यति**' इस अनुवृत्ति में '**अनद्यतने लुट्**'[२] इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार अनद्यतन भविष्यकाल ही लुट् लकार का अर्थ है। जैसे 'श्वो भविता' (कल होगा) यहाँ पर अनद्यतन भविष्यत् अर्थ में लुट् का प्रयोग हुआ है।[३]

४. लृडर्थ-निरूपण

लृट् लकार का अर्थ भविष्य सामान्य है। अद्यतन भविष्यत् या अनद्यतन भविष्यत् दोनों ही अर्थों में लृट् लकार का प्रयोग हो जाता है। जैसे '**अद्य घटो भविष्यति**' (आज घड़ा होगा) यहाँ पर अद्यतन भविष्यत् अर्थ में तथा '**श्वो घटो भविष्यति**' (कल घड़ा होगा) यहाँ पर अनद्यतन भविष्यत् अर्थ में लृट् लकार का प्रयोग हुआ है।[४]

५. लेडर्थ-निरूपण

'लिङ्र्थे लेट्'[५] इस सूत्र से विधि आदि तथा आशीर्वाद ये 'लेट्' लकार के अर्थ हैं। जैसे भवाति, पताति, ये लेट् लकार के प्रयोग हैं, लेकिन इस 'लेट्' लकार का प्रयोग केवल वेद में ही होता है।[६]

---

१. अनद्यतनभूतपरोक्षत्वं लिडर्थः। अनद्यतने भूते इत्यनुवृत्तौ परोक्षे लिडिति पाणिनीयसूत्रात्।'
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ८७, पङ्क्ति २३ से २४

२. पा०सू० ३/३/१५

३. अनद्यतनभविष्यत्वं लुडर्थः। भविष्यतीत्यनुवृतौ अनद्यतने लुडितिपाणिनीय-सूत्रात्। यथा श्वो भवितेति।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ८७, पङ्क्ति ३१ से ३२

४. भविष्यत्सामान्यं लृटोर्थः। यथाद्य श्वो वा घटो भविष्यतीति।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ८८, पङ्क्ति १

५. पा०सू० ३/४/७

६. लिङ्र्थे लेडितिसूत्रात् विध्यादय-आशीश्च लेडर्थः। यथा भवाति, पतातीति अयं तु छन्दमात्र-गोचरः।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ८८, पङ्क्ति ५ से ६

६. लोडर्थ-निरूपण

'लोट् च'[१] तथा **'आशिषि लिङ्लोटौ'**[२] इन पाणिनीय सूत्रों के अनुसार विधि आदि लिङर्थ तथा आशीर्वाद, ये लोट् लकार के अर्थ हैं अतः **मा 'भवतु, भवतात्'** ऐसे प्रयोग होते हैं। यहाँ पर **'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्'** इस सूत्र से आशीर्वाद अर्थ में विकल्प से 'तु' के स्थान पर **'तातङ्'** का विधान हुआ है।[३]

७. लङर्थ-निरूपण

'अनद्यतने लङ्'[४] इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार अनद्यतन भूतकाल लङ् लकार का अर्थ है। जैसे 'ह्यः घटोऽभवत्' यहाँ पर अनद्यतन भूतकाल में लङ् लकार का प्रयोग हुआ है।[५]

८. लिङर्थ-निरूपण

'विधि-निमन्त्रणामन्त्रणाधीष्ठसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्'[६] इस सूत्र के अनुसार विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, सम्प्रश्न तथा प्रार्थना, इन छह अर्थों में लिङ् की शक्ति सिद्ध होती है। इन विध्यादि अर्थों में लिङ् की विधित्व, निमन्त्रणत्व, आमन्त्रण्त्वादि रूप से शक्ति मानने में कल्पना-गौरव-दोष होने के कारण एक प्रवर्तनात्व रूप से ही इनमे लिङ् की शक्ति मानी जाती है फलतः भाट्टचिन्तामणिकार के मतानुसार प्रवर्तना ही लिङ् या लिङर्थक लकार से प्रयुक्त विधि का अर्थ है।[७] लिङ् लकार द्वारा विधि का प्रतिपादन होने से विध्यर्थ के स्थान पर लिङर्थ शब्द का भी प्रयोग होता है।

---

१. पा० सू० ३/३/१६२

२. पा० सू० ३/३/१७३

३. विध्यादयआशीश्च लोडर्थः। लोट् च, अशिषिलिङ्लोटौ (पा॰सू॰३/३/१७३) इति पाणिनीय सूत्रात्। यथा मा भवतु भवतादिति। 'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्तरस्याम् (पा॰सू॰३/३/१७३) इति सूत्रेण 'आशिषि तातङ्विधानात्।'
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ८८, पङ्क्ति ७-९

४. पा० सू० ३/२/१११

५. अनद्यतनभूतत्वं लङोणोऽर्थः। अनद्यतने लङिति पाणिनीयसूत्रात्। यथा घटोऽभवत्।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ८८, पङ्क्ति १०-११

६. पा० सू० ३/३/१६१

७. 'अत्र तत्तत्वेन न शक्तिः। नानाशक्तिकल्पनापत्तेः किन्त्वेतच्चतुष्टयवृतिप्रवर्त्तनात्वेन।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ८८, पङ्क्ति १५ से १६

इस विध्यर्थ के विषय में नैयायिक, मण्डनमिश्र, गुरु प्रभाकर, प्रभृति आचार्यों के परस्पर भिन्न, स्वतंत्र सिद्धान्त हैं। भाट्टचिन्तामणिकार ने अपने सिद्धान्त-मत की स्थापना के पूर्व इनका क्रमशः समीक्षात्मक विवेचन किया है।

नैयायिक सम्मत लिङर्थ (विध्यर्थ-निरूपण)

नैयायिक इष्ट-साधनत्व, कृतिसाध्यत्व तथा बलवद्-अनिष्ठाननुबन्धित्व, इन तीनों अर्थों में लिङ् की शक्ति मानते हैं। इस विषय में उनका कहना है कि इष्ट-साधनत्व, कृतिसाध्यत्व तथा बलवद् अनिष्ट के अननुबन्धित्वज्ञानों में से किसी एक के भी अभाव में चिकीर्षा (कार्य करने की इच्छा) उत्पन्न नहीं होती। ये तीनों ही चिकीर्षा उत्पन्न होने के कारण हैं।

यदि उपर्युक्त तीनों ज्ञानों में एक साथ चिकीर्षा की कारणता न मानकर, तीनों में अलग-अलग रूप से मानी जाए, तो ऐसी स्थिति में 'चन्द्रमण्डलानयन' में इष्ट-साघनता एवं बलवद् अनिष्ट के अननुबन्धित्व का ज्ञान होने से उसमें 'कृतिसाध्यता' का ज्ञान न होने पर भी चिकीर्षा उत्पन्न होने की आपत्ति होगी।[१]

इसी प्रकार इष्ट साधनता-ज्ञान के अभाव में कृतिसाध्यताज्ञान होने से 'अग्निप्रवेश' में भी चिकीर्षा उत्पन्न होने की आपत्ति होगी।

इन दोनों स्थलों के समान मधु तथा विषमिश्रित भोजन में, इष्ट-साधनता तथा बलवद् अनिष्ट का अननुबन्धित्व-ज्ञान न होने पर भी, कृतिसाध्यता-ज्ञान की विद्यमानता से इसमें भी चिकीर्षा होने की आपत्ति होगी। उपर्युक्त तीनों स्थलों में चिकीर्षा न हो सके, इसके लिए जहाँ इष्टसाधनत्व, बलवद् अनिष्टाननु-बन्धित्व तथा कृतिसाध्यत्व, इन तीनों का ज्ञान हो वहीं चिकीर्षा माननी चाहिए। इस प्रकार चिकीर्षा के प्रति समान रूप से तीनों की कारणता होने से इन तीनों में लिङ् की शक्ति है। इसलिए ये तीनों विध्यर्थ हैं।

इसके अतिरिक्त प्रवृत्ति के जनक लिङ् लोट् द्वारा इन तीनों का ज्ञान होने से लिङादि में इनमें से किसके बोधन की शक्ति है, इस तथ्य के निर्णय में उपयोगी एक पक्ष निर्णायिका कोई भी युक्ति (विनिगमना) नहीं है अतः इन

---

१. नैयायिकास्तु इष्टसाधनत्वकृतिसाध्यत्वबलवदनिष्टाननुबन्धित्वाज्ञानानामन्यतमाभावे चिकीर्षाऽजननात्सर्वेषां तज्जनकत्वमविवादम्। अन्यथा चन्द्रमण्डलादावपि चिकीर्षापत्तेः।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६७, पङ्क्ति २२ से २४

तीनों के बोधन की लिङ्ादि में शक्ति है,[१] यही मानना समीचीन है। जिस प्रकार पुष्पवन्त शब्द में सूर्य तथा चन्द्र इन दोनों के अर्थबोधन की एक शक्ति रहती है, उसी तरह लिङादि में भी तीनों के अर्थ-बोधन की एक ही शक्ति है। या फिर लिङादि में इन तीनों के अर्थ-बोधन की तीन शक्तियों से भी एक साथ तीनों का बोध माना जा सकता है। लिङ् से शक्ति द्वारा उपस्थित इन तीनों लिङर्थों का धात्वर्थ में अन्वय होता है। लिङ् में इन तीनों के बोधन की चाहें एक शक्ति मानें या तीन अलग-अलग शक्तियाँ, दोनों ही स्थितियों में लिङ् द्वारा इन तीनों का बोध होने से ये ही तीनों लिङर्थ (विध्यर्थ) हैं।

मण्डनमिश्र-सम्मत लिङर्थ (विध्यर्थ)-निरूपण

लिङर्थ (विध्यर्थ) के विषय में मीमांसक मण्डन मिश्र का कहना है कि यागादि में कृतिसाध्यताज्ञान लोक-व्यवहार द्वारा सिद्ध हो जाने के कारण तथा जो किसी अन्य द्वारा लभ्य न हो, उसे ही शब्दार्थ मानने का नियम होने से, अन्य (लोकव्यवहार)-लभ्य कृतिसाध्यता-ज्ञान को लिङर्थ (विध्यर्थ) नहीं माना जा सकता।

इसी प्रकार बलवद् अनिष्ट के अननुबन्धित्व-ज्ञान को भी लिङर्थ नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि बलवाद् अनिष्ट के अननुबंधित्व का ज्ञान द्वेष (अनिष्ट) के अभाव-ज्ञान का उत्पादक होता है। प्रवृत्ति के प्रति वह अन्यथा सिद्ध होने के कारण प्रवृत्ति में इसकी कारणता नहीं होती। इसलिए इसे भी लिङर्थ (विध्यर्थ) नहीं माना जा सकता।[२]

उक्त दोनों को विध्यर्थ न मानकर मण्डन मिश्र ने केवल इष्ट साधनत्व-ज्ञान को ही विध्यर्थ माना है। इस विषय में उनका कहना है कि आस्तिक कामुक व्यक्ति को परस्त्री-गमन में नरक-साधनता का ज्ञान होते हुए भी उत्कट् राग के कारण नरक-साधनता-ज्ञान अभिभूत हो जाने से बलवद् अनिष्टाननुबन्धित्व-ज्ञान का अभाव हो जाने पर भी राग द्वारा उत्पन्न इष्टसाधनता-ज्ञान से उसकी

---

१. 'एकयोक्त्या पुष्पवन्त दिवाकर-निषाकरौ।

—अमरकोश, प्रथमकाण्ड, श्लो० सं० १०, कालवर्ग ।

२. 'मण्डनस्तु यागादौ कृतिसाध्यताज्ञानस्य लोकत एव सिद्धेरन्यलभ्यत्वान तत्र लिङः शक्तिः। बलवदनिष्ठानुबन्धित्वज्ञानञ्च द्वेषाभावजननेनान्यथासिद्धत्वान्न प्रवृत्तौ हेतुः।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ८८, पङ्क्ति १९ से २१

अगम्यागमन में प्रवृत्ति हो जाती है। प्रवृत्ति में इष्टसाधनत्व-ज्ञान की कारणता होने से इष्टसाधनत्व-ज्ञान ही लिङर्थ या विध्यर्थ है। प्रवृत्तिजनक प्रवर्त्तना भी यही है।[१]

यहाँ पर यह ज्ञातव्य है कि मण्डन मिश्र भी अन्य भाट्टमतावलम्बी मीमांसकों के समान प्रवर्त्तना को ही विध्यर्थ मानते हैं, परन्तु जहाँ अन्य मीमांसकों ने इष्टसाधनता-ज्ञान से अतिरिक्त रूप में प्रवर्त्तनात्व रूप से प्रवर्तना को लिङर्थ या विध्यर्थ माना है, वहाँ इन्होंने प्रवर्त्तनात्व रूप से इष्टसाधनता-ज्ञान को प्रवर्त्तना मानकर इष्टसाधनता को ही लिङर्थ या विध्यर्थ माना है। अतः इनका अन्य भाट्टमतावलंबी मीमांसकों के सिद्धान्त के साथ वैमत्य है।

गुरु प्रभाकर-सम्मत लिङर्थ (विध्यर्थ)-निरूपण

लिङर्थ के विषय में गुरु प्रभाकर का कहना है कि प्रवृत्ति में उद्यत पुरुष में विशेषणवत्ता के ज्ञान से उत्पन्न जो कार्यता-ज्ञान है, वही, जिस कार्य में कृतिसाध्यता का ज्ञान हुआ है, उसी कार्य को विषय करने वाली कार्य-सम्पादिका इच्छा (चिकीर्षा) उत्पन्न होने पर, इस चिकीर्षा द्वारा प्रवृत्ति में कारण है।

यदि इस पक्ष को न मानकर नैयायिकों के मतानुरूप कृतिसाध्यताज्ञान (कार्यताज्ञान) के साथ ही इष्टसाधनताज्ञान तथा बलवद् अनिष्ट के अननुबन्धिज्ञान को भी प्रतिबन्धकाभाव-विधया प्रवृत्ति में कारण मान लिया जाए, तो इस स्थिति में तीन कार्यकारण-भावों की कल्पना करती पड़ेगी, जिसमें कल्पना-गौरव रूप दोष हो जाएगा अतः केवल कार्यता-ज्ञान में ही चिकीर्क्षा द्वारा प्रवृत्ति के प्रति कारणता माननी चाहिए।[२]

गुरु प्रभाकर के मतानुसार कार्यताज्ञान भी '**मया इदं कर्तं शक्यते**, तथा '**मया इदं अवश्यमेव करणीयम्**' इस भेद से दो प्रकार का है। इनमें प्रथम '**मया इदं कर्तृ शक्यते**' (मेरे द्वारा यह कार्य किया जा सकता है, इस प्रकार

---

१. 'अत एवास्तिककामुकस्य नरकसाधनताज्ञानदशायां प्रवृत्तिर्निराबाधा। अतः इष्टसाधनत्वमेव प्रवर्त्तनेत्याह।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ८८, पङ्क्ति २१ से २२

२. '-अत्र गुरवः स्वविशेषणवत्ताप्रतिसन्धान जन्यकार्यताज्ञानस्यैव चिकीर्षा द्वारा प्रवृत्ति-हेतुत्वं, नेष्टसाधनत्वबलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानयोरपि, अन्यथा हेतुहेतुमद्-भावत्रयकल्पनागौरवात्।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६३, पङ्क्ति २० से २२

की प्रतीति का विषयभूत कार्यताज्ञान कार्य में केवल कृतिसाध्यता होने की योग्यता से उत्पन्न होने के कारण **इदं** पदवाच्य कार्य कृति-साध्य है, इतने ही अर्थ का बोधक होने से प्रवृत्ति में कारणाभूत प्रवर्त्तक नहीं होता अतः इसे विध्यर्थ नहीं माना जाता, परन्तु द्वितीय **'मया इदं अवश्यमेव करणीयम्'** (मेरे द्वारा यह कार्य अवश्य ही किया जाना चाहिए), इस प्रतीति का विषयभूत जो कार्यता-ज्ञान है, वह यह कार्य मेरे इष्ट-फल की उत्पत्ति में आवश्यक दुःख से अधिक दुःख का जनक नहीं है, अर्थात् बलवद् अनिष्ट का अननुबन्धि है, इस इष्टसाधनता-ज्ञान तथा बलवद् अनिष्ट के अननुबन्धित्व-ज्ञान से उत्पन्न होता है। यह द्वितीय प्रकार का कार्यताज्ञान ही प्रवृत्ति में कारणभूत प्रवर्तक होने से लिङर्थ या विध्यर्थ है।[1]

यह कार्यताज्ञान स्व-विशेषणवत्ता के प्रतिसन्धान से उत्पन्न होने के कारण ही प्रवृत्ति में कारण होता है। इसमें विद्यमान 'स्वविशेषणवत्ता-प्रतिसन्धानजन्यत्व' में स्व पद का तात्पर्य प्रवृत्ति में उद्यत प्रवर्तमान पुरुष है तथा अग्निहोत्रादि-काम्य-प्रयोग में फलकामना उसका विशेषण है फलतः बलवद् अनिष्ट के अननुबन्धी रूप में इष्ट-साधनताज्ञान से कार्यताज्ञान होने पर तादृश काम्यकर्म में प्रवृत्ति उपपन्न हो जाती है।

नित्य सन्ध्यावन्दनादि कर्मों में पवित्रता तथा उस कर्म के सम्पादन-काल में जीवित्व, ये दो धर्म नियोज्य प्रवर्त्तमान पुरुष के विशेषण होने से, पुरुष में इनके विशेषणवत्ता-ज्ञान के अधीन कृतिसाध्यता(कार्यता) ज्ञान होने पर चिकीर्षा द्वारा कृतिसाध्यताज्ञान (कार्यता ज्ञान) में पुरुष द्वारा इन कार्यों के सम्पादनार्थ होने वाली प्रवृत्ति के प्रति कारणता सिद्ध हो जाती है।[2]

उपर्युक्त विवेचन से यही अर्थ निष्पन्न होता है कि अपने इष्टसाघनताज्ञान से तथा बलवद् अनिष्ट के अननुबन्धित्व-ज्ञान से उत्पन्न कार्यता ज्ञान ही चिकीर्षा द्वारा प्रवृत्ति के कारण बनता है। मधुविषमिश्रित भोजन में मधु मिश्रित

---

१. तथाहि कार्यताज्ञानं द्विविधं, मयेदं कर्तु शक्यत इत्येवं रूपमेकं, ममेदमवश्यं कार्यमित्येवरूपं द्वितीयम्। तत्राद्यं पदार्थनिष्ठयोग्यतागम्यमिति न प्रवृत्तिं प्रति हेतुः। द्वितीयं तु स्वेष्टसाधनत्वबलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानजन्यमिति। चिकीर्षा द्वारा प्रवृत्तिं प्रति हेतुः।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६३, पङ्क्ति २३ से २६

२. इदमेव स्वविशेषणवत्ता-प्रतिसन्धानजन्यत्वं, स्वं नियोज्यः, तद्विशेषणं काम्ये फलकामना, नित्ये शुचितत्कालजीवितत्वादीति स्वेष्टसाधनत्वबलवदनिष्टान-नुबन्धित्वज्ञान -जन्य-कार्यताज्ञानस्य चिकीर्षा -द्वारा प्रवर्त्तकत्वं सिद्धं भवति।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६३, पङ्क्ति २६ से ३०

होने से इष्ट-साधनता का ज्ञान रहने पर भी वह भोजन विष-मिश्रित होने से उसमें अनिष्ट-साधनता का भी ज्ञान हो जाता है। इस मधुविषमिश्रित-भोजन में चिकीर्षा नहीं होती अतः **'मधुविषमिश्रितं भोजनं मया अवश्यमेव करणीयम्'** यह ज्ञान, स्वविशेषणवत्ता-प्रवर्त्तमान पुरुष में कामनावत्ता के प्रतिसन्धान (ज्ञान) से उत्पन्न कार्यता-ज्ञान न होने के कारण इसमें प्रवृत्ति होने की आपत्ति नहीं होती। अतः प्रवर्त्तक कार्यता-ज्ञान ही लिङर्थ या विध्यर्थ है।[१]

गुरु प्रभाकर के मतानुसार यागजन्य अपूर्व ही कार्य होता है, परन्तु लिङर्थक लोटादि से बोध्य 'गामानय' इत्यादि लौकिक वाक्यों मे अपूर्व रूप कार्य सम्भव न हो पाने के कारण ऐसे स्थलों में लक्षणा द्वारा आनयनादि क्रियाओं को अगत्या कार्य मान लिया जाता है।[२]

भाट्टचिन्तामणिकारकृत पूर्वपक्षमत-निराकरण

पूर्वपक्षी नैयायिकों एवं मण्डन मिश्र द्वारा उपस्थापित इष्टसाधनत्व-ज्ञान को लिङर्थ (विध्यर्थ) मानने के सिद्धान्त का निराकरण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि 'शब्दार्थ वही होता है, जो प्रकारान्तर से लभ्य न हो, ऐसा नियम होने के कारण इष्टसाधनत्व-ज्ञान को शब्दरूप लिङ् का अर्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि **"दर्शपूर्ण-मासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः"**[३] इत्यादि स्थलों में याग एवं स्वर्ग में, स्वर्ग साध्य तथा याग साधन होने से एवं स्वर्ग सभी को इष्ट होने के कारण, याग तथा स्वर्ग के साध्यसाधन-भावज्ञान से ही याग में इष्टसाधनत्व का भी ज्ञान हो जाता है। यह इष्टसाधनत्व-ज्ञान अनन्यलभ्य न होने के कारण इसे विध्यर्थ (लिङर्थ) मानना सम्भव नहीं है।[४]

---

१. 'अत एवेष्टसाधनत्वेन ज्ञाते मध्वन्नभोजनेऽनिष्टसाधनत्वेन ज्ञाते बलवदनिष्टानुबन्धित्वेन ज्ञाते मधुविषसम्पृक्तान्नभोजने च न प्रवृत्त्यापत्तिः।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६३, पङ्क्ति, ३० से पृ० ६४ पङ्क्ति ०२

२. 'कार्यञ्चापूर्वमेवेति। यत्र कार्यवाचक-पदाभावस्तत्र न वाक्यार्थबोधः किन्तु पदार्थस्मरणमात्रम्। लिङादियुक्त-लौकिक-वाक्यस्य च लक्षणयाऽऽनयनादिरूप-कार्यान्वितबोधकत्वम्।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६२, पङ्क्ति २९ से ३२

३. शतपथ ब्राह्मण २/६/४/१७

४. 'एवमिष्टसाधनत्वमपि न वाच्यम्। तस्यापि यागस्वर्गयोः साध्यसाधनभावबोधेनैव भानात्। अनन्यलभ्यस्य च शब्दार्थत्वात्।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६७, पङ्क्ति ३० से ३१

इसी प्रकार बलवद् अनिष्ट के अननुबन्धित्व-ज्ञान को भी विध्यर्थ नहीं माना जा सकता है, क्योंकि विधि-वाक्यों के प्राशस्त्य-प्रतिपादक अर्थवाद वाक्यों के ज्ञान से ही विधि-वाक्य-प्रतिपादित यागादि में बलवद् अनिष्ट के अननुबन्धित्व-ज्ञान का बोध हो जाता है। यागादि के अनुष्ठान में परिश्रम, आयासादि अनिष्ट होने पर भी इष्टोत्पत्ति के लिए आवश्यक दुःख से अधिक दुःख का यागानुष्ठान अनुबन्धि नहीं है। इस यागानुष्ठान में जो परिश्रम करना पड़ताहै, वह अनिष्ट होने पर भी इष्टोत्पत्ति (स्वर्ग की उत्पत्ति) में आवश्यक होने के कारण याग बलवद् अनिष्ट का अननुबन्धि ही है। इस प्रकार याग में बलवद् अनिष्ट के अननुबन्धित्व का ज्ञान भी प्रकारान्तर से ज्ञेय होने के कारण इसे भी लिङर्थ (विध्यर्थ) मानना सम्भव नहीं है।[1]

पूर्वपक्षी प्रभाकर ने केवल कृति-साध्यता (कार्यता) ज्ञान को लिङर्थ (विध्यर्थ) माना है। इसके विपरीत नैयायिक इष्टसाधनता-ज्ञान तथा बलवदनिष्टाननुबन्धित्व-ज्ञान के साथ ही इसे लिङर्थ (विध्यर्थ) मानते हैं। उपर्युक्त दोनों के सिद्धांतों का निराकरण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि किसी भी रूप में कृतिसाध्यता-ज्ञान को लिङर्थ (विध्यर्थ) नहीं माना जा सकता, क्योंकि कृति यह याग की जनक होने से कृति में याग-जनकत्व का बोध होते ही समान्-संवित्-संवेद्यता से, अर्थात् जिस ज्ञान से कृतिनिष्ठयागजनकत्व का बोध होता है, उसी ज्ञान से 'याग कृति साध्य है' इस प्रकार याग में कृतिसाध्यता का भी ज्ञान हो जाता है। फलतः अनन्यलभ्य ही शब्दार्थ होने के कारण समान-संवित्-संवेद्यता रूप अन्य प्रकार से ज्ञात कृतिसाध्यता (कार्यता) ज्ञान को लिङर्थ (विध्यर्थ) मानना सर्वथा असम्भव है।[2]

यदि नैयायिकों के मतानुसार इष्ट-साधनत्व, कृतिसाध्यत्व तथा बलवद् अनिष्ट के अननुबन्धित्व-ज्ञान को लिङर्थ (विध्यर्थ) मानें तो इष्ट-साधन,

---

१. 'एवं बलवदनिष्टाननुबन्धित्वमपि न वाच्यम्। अर्थवादेनैव तद्बोधात्। क्लमायासादिरूपानिष्टे इष्टोत्पत्तिनान्तरीयकदुःखाधिकत्वाभावबोधेनैव बलवदनिष्टाननुबन्धित्वस्य लाभात्।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६८, पङ्क्ति ३ से ६

२. 'अत्रेदमवधेयम्-कृतिसाध्यत्वं न विधिवाच्यम्। कृतौ यागानुकूलत्वबोधेन समानसंवित्संवेद्यतया यागे कृतिसाध्यत्वस्यापि भानात्।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६७, पङ्क्ति २८ से २९

कृतिसाध्य तथा बलवद् अनिष्ट के अननुबन्धी ज्योतिष्टोम के साथ अभेद से अन्वित याग (ज्योतिष्टोम याग) की उत्पादक कृति से युक्त (कृतिमान्) स्वर्ग-कामनावान् पुरुष है, इस शाब्दबोध में आख्यातार्थ कृति इष्टसाधन, कृतिसाध्य तथा बलवद् अनिष्टाननुबन्धी ज्योतिष्टोमाभिन्न याग की जनक होने से उसका विशेष्य रूप से तथा कृतिमान में वह विशेषण होने से विशेषण रूप में भी भान होने के कारण उसमें वैरूप्य होने की आपत्ति हो जाती है।

कोई भी पदार्थ या तो विशेषण होना चाहिए या फिर विशेष्य ही होना चाहिए। यदि एक ही पदार्थ दोनों में प्रतीत होता है तो उसमें वैरूप्य-दोष हो जाता है। इस वैरूप्य-दोष के कारण भी इष्ट साधनत्व-ज्ञान, कृतिसाध्यत्वज्ञान तथा बलवदनिष्टानुबन्धित्व-ज्ञान को लिङर्थ (विध्यर्थ) मानना सम्भव नहीं है।[१]

सिद्धान्तमत-प्रदर्शन

स्वाभिमत लिङर्थ (विध्यर्थ) का निरूपण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि शब्दनिष्ठ प्रवर्त्तना, अर्थात् प्रवृत्ति की उत्पादिका प्रेरणा रूप जो अभिधा है, वही लिङर्थ (विध्यर्थ) है।[२]

प्रवर्त्तना-निरूपण

प्रवर्त्तना के स्वरूप को प्रदर्शित करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि दूसरे (मध्यम वृद्ध) में होने वाली प्रवृत्ति का उत्पादक, प्रवर्त्तयिता (प्रयोजक वृद्ध) का जो व्यापार-विशेष-रूप मानसिक अभिप्राय है, वही प्रवर्त्तना है।[३] चेतन आदि की आज्ञा रूप लौकिक स्थलों में यह लौकिक-प्रवर्त्तना तथा वेदस्थल में, वेद अपोरूषेय होने से वेद के वक्ता का अभाव होने के कारण अचेतन वेद का शब्द-समवेत जो अलौकिक अभिधानियामक रूप

---

१. किञ्चेष्टसाधनकृतिसाध्यबलवदनिष्टाननुबन्धिज्योतिष्टोमाभिन्न- यागानुकूलकृतिमान् स्वर्गकाम इति बोधे आख्यातार्थ-कृतेर्विशेष्यतया प्रकारतया च भाने वैरूप्यापतिरित्यादि-दिक्।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६८, पङ्क्ति ६ से ८

२. अभिधैव शब्दनिष्ठा प्रवर्त्तनारूपा विध्यर्थः।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६८, पङ्क्ति ९

३. प्रवर्त्तना च प्रवर्तयितुः परप्रवृत्यनुकूलव्यापारविशेषः।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६८, पङ्क्ति १५

व्यापार-विशेष है, वही वेदनिष्ठ प्रेरणा या शाब्दी भावना है। गुर्वाज्ञा, राजाज्ञादि प्रेरणा के ज्ञान से होने वाली प्रवृत्ति के समान, विधिनिष्ठ अभिधा नामक भावना या प्रवर्त्तना के ज्ञान से भी प्रवृत्ति होने की उपपत्ति हो जाती है। यह प्रवर्त्तना ही लिङर्थ या विध्यर्थ है।[१]

यह प्रवर्त्तना शब्द के आश्रित होने से शब्द-शक्ति है तथा शब्द का व्यापार होने से यही शाब्दी भावना भी कही जाती है। भावना-पद व्यापार रूप अर्थ का वाचक होने से आख्यातार्थ भावना भी व्यापार ही है।[२]

भावनाद्वय-निरूपण

उपर्युक्त भावना-पद से शाब्दी भावना तथा आर्थी भावना, इन दोनों का बोध होता है। इनमें **'गच्छति'** आदि आख्यात-प्रत्ययों से ज्ञात भावना प्रवृत्ति रूप होने से आर्थी भावना तथा प्रवर्त्तक लिङ् एवं लिङर्थक लेट, लोट, तव्य आदि अभिधेय पदों से ज्ञात, प्रवृत्ति की उत्पादिका प्रवर्त्तना रूप भावना शाब्दीभावना कही जाती है। इस संदर्भ में वार्तिककार कुमारिल भट्ट का कहना है कि -

लिङ् तथा लिङर्थक, लेट, लोट, तव्य आदि से होने वाली आर्थी भावना से अन्य अभिधा को शाब्दी भावना कहते हैं तथा समस्त आख्यातों (तिपादि प्रत्ययों) से ज्ञात होने वाली दूसरी भावना आर्थी भावना कहलाती है।[३]

अंशत्रय-निरूपण

शाब्दी भावना तथा आर्थी भावना, इन दोनों में कर्म (फल या साध्य), करण तथा इतिकर्तव्यता, इन तीनों अंशों की नियमतः आकाङ्क्षा होती है। दोनों

---

१. स च चेतनस्य राजादेराज्ञादिः। वेदे वक्तुरभावादचेतनस्य वेदस्याभिधानियामकः कश्चिच्छब्दसमवेतो लौकिकः। तथा राजाज्ञादि- ज्ञानाद्यथा प्रवृत्तिस्यथा विधेरभिधाज्ञानादिति। सैव लिङर्थः।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६८, पङ्क्ति १५ से १८

२. सा च शब्दाश्रितत्वाच्छब्दशक्तिः। शब्दव्यापारत्वाच्चशब्दभावनेत्युच्यते। भावनापदस्य व्यापारवाचकत्वात्। अत एवाख्यातार्थो भावनापि व्यापार एव।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६८, पङ्क्ति १९ से २१

३. 'अभिधा भावनामाहुरन्यामेव लिङादयः।
अर्थात्मभावनात्वन्या सर्वाख्यातस्य गोचरः।।'

—तंत्रवार्त्तिक, द्वितीय अध्याय, प्रथम पाद, पृ० ३४४।

भावनाओं में समान रूप से अंशत्रयों की आकाङ्क्षा होने के कारण दोनों के लिए भावना-पद का प्रयोग किया जाता है। इसलिए दोनों में विद्यमान यह त्रितय-सांकाङ्क्षत्व ही भावना-पद का प्रवृत्ति निमित्त है।[१]

शाब्दी भावना-अंशत्रय-निरूपण

उक्त दोनों भावनाओं में **'यजेत'** यहाँ पर 'त' प्रत्यय-निष्ठ लिङत्व अंश से उपस्थित अंशत्रयात्मिका शाब्दी भावना का मेरा भाव्य (साध्य) क्या है? ऐसी भाव्याकाङ्क्षा होने पर पुरुष-प्रवृत्ति-पद-सूचित आर्थी भावना उसके साथ साध्य-रूप में अन्वित होती है।[२]

इस आर्थी भावना को शाब्दी भावना का भाव्य (साध्य) क्यों माना जाए? क्यों न धात्वर्थ याग को ही शाब्दी भावना का भाव्य मान लिया जाए? ऐसी पूर्वपक्षियों द्वारा सम्भावित आशङ्का के निराकरणार्थ भाट्टचिन्तामणिकार का कहना है कि **'यजेत'** यहाँ पर एक पद 'त' के द्वारा ही शाब्दी भावना तथा आर्थी भावना दोनों प्राप्त हैं। धात्वर्थ याग की अपेक्षा आर्थी भावना शाब्दी भावना के साथ अधिक समीप होने से प्रत्यासत्तितारतम्य से उसका ही शाब्दी भावना के साथ भाव्य (साध्य) रूप में अन्वय होता है।[३]

इस प्रकार शाब्दी भावना में आर्थी भावना का विषय (भाव्य, साध्य) रूप से अन्वय हो जाने पर 'यह आर्थी भावना इष्ट स्वर्गादि को उत्पन्न करती है, इस व्युत्पत्ति से आर्थी भावना में इष्ट-साधनत्व रूप योग्यता सिद्ध हो जाने के कारण शाब्दी भावना का इसके साथ अन्वय होने पर प्रवर्त्तना रूप विध्यर्थ (शाब्दी भावना) में भी इष्ट-साधनता का परम्परया ज्ञान हो जाता है। फलतः इस प्रवर्त्तना-ज्ञान से प्रवृत्ति हो जाती है।[४]

---

१. द्विविधापि भावना नियमतः कर्मकरणेतिकर्तव्यतारूपांशत्रयसाकाङ्क्षा तत्त्रितयसाकाङ्क्षत्वमेवोभयानुगतं भावना-पद-प्रवृत्तिनिमित्तम्।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६९, पङ्क्ति ५ से ७

२. 'अर्थभावनैव शब्दभावना-भाव्येत्यर्थः।'
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६९, पङ्क्ति २१ से २२

३. एकदोपाततया धात्वर्थापेक्षया प्रत्यासति-तारतम्यात्।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६९, पङ्क्ति २९

४. 'प्रवर्त्तनात्वविशिष्टस्य च विषयतयाऽर्थभावनायामन्वये इष्टभावनात्वमिष्टं भावयति उत्पादयतीति व्युत्पत्त्येष्टसाधनत्वरूपं, योग्यता विध्यर्थेऽपि।'
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६९, पङ्क्ति ३२ से पृ० ७०, पङ्क्ति १

उक्त शाब्दी भावना को करण की आकाङ्क्षा होने पर लिङ्-निष्ठ अभिधा-शक्ति-ज्ञान का शाब्दी भावना के साथ उसके करण-रूप से अन्वय होता है। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि जिसे लिङ् की अभिधा-शक्ति का ज्ञान नहीं है, ऐसे पुरुष में प्रवृत्ति नहीं हो पाती। अतः लिङ्निष्ठ प्रवर्त्तनात्व रूप से विद्यमान अभिधा-शक्ति का ज्ञान प्रवृत्ति में आवश्यक होने से शाब्दी भावना के करण रूप में इसका शाब्दी भावना के साथ अन्वय हो जाता है।[1]

इसी प्रकार शाब्दी भावना को 'कथं' किस प्रकार भाव्य निष्पादित करे ऐसी इतिकर्त्तव्यता की आकाङ्क्षा होने पर याग में होने वाली पुरुष-प्रवृत्ति में कारणीभूत होने से अर्थवाद वाक्यों की शाब्दी भावना के साथ इतिकर्त्तव्यता रूप से एकवाक्यता हो जाती है।

आर्थी भावना-अंशत्रय-निरूपण

उपर्युक्त प्रकार से शाब्दी भावना के तीनों अंशों का निरूपण करने के उपरांत प्रत्यय-निष्ठ आख्यातत्व-धर्म से उपस्थित आर्थी भावना के अंशत्रयों का निरूपण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि इस आर्थी भावना को **'किमिष्टं कुर्यात्'** (किस इष्ट-साध्य का सम्पादन करें, इस प्रकार भाव्याकाङ्क्षा होने पर, याग कष्ट स्वरूप तथा इष्ट का साधन होने से तथा एक ही पदार्थ का साध्य एवं साधन दोनों के रूप में अस्तित्व असम्भव होने के कारण याग का साध्य रूप में आर्थी भावना के साथ अन्वय न हो पाने से, इस याग से पृथक् किसी इष्ट की ही आर्थी भावना के साध्य या भाव्य रूप में उपस्थिति होती है।[2]

इसके उपरान्त आर्थी भावना का वह इष्ट रूप भाव्य क्या है? ऐसी अकाङ्क्षा होने पर **'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः'**[3] इत्यादि स्थलों में

---

१. 'अगृहीतलिङ्शक्तिकस्याप्रवृत्त्या सङ्केतग्रहस्य तत्सहकारित्वमित्याशयः।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ६९ पङ्क्ति २३ से २४

२. 'तत्र आख्यातोपस्थितार्थभावना किं केन कथमित्यंशत्रयं क्रमेणापेक्षमाणा किमिष्टं कुर्यादित्याकाङ्क्षायां यागस्य कष्टत्वेन करणत्वेन चासाध्यतया यागेनान्यद्भावयेदिति।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७०, पङ्क्ति ३ से ६

३. शतपथ ब्राह्मण २/६/४/१७

स्वर्गकाम-पद से उपस्थित 'स्वर्गकामनावान् पुरुष' का साध्य के रूप में भावना के साथ अन्वय असिद्ध होने के कारण 'स्वर्गकाम' पद से उपस्थित स्वर्गकामनावान् पुरुष' रूप अर्थ में से विशेषण स्वर्ग का ही आर्थी भावना में साध्य के रूप में अन्वय माना जाता है।[१]

याग से पहले स्वर्ग अनुपस्थित रहने से जिस प्रकार याग द्वारा उसकी उत्पत्ति सम्भव है, वैसी याग द्वारा पुरुष की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि पुरुष याग के पहले भी विद्यमान रहता है अत: विशेष्य पुरुष का आर्थी भावना में साध्यत्व रूप से अन्वय बाधित हो जाने के कारण 'स्वर्गकाम पद' से आर्थी भावना के भाव्य (साध्य) के रूप में अन्ततोगत्वा परिशेषन्याय से स्वर्ग का ही अन्वय होता है। फलत: 'याग से स्वर्ग की भावना करे, अर्थात् याग द्वारा स्वर्ग सम्पादित करे, ऐसा शाब्दबोध हो जाने पर शाब्दी भावना तथा आर्थी भावना दोनों की एकवाक्यता हो जाने से' याग जिसका करण तथा स्वर्ग जिसका फल है, ऐसी यागकरणिका स्वर्गफलिका प्रवृत्तिरूप आर्थी भावना प्रवर्त्तना (शाब्दी भावना) का विषय (भाव्य साध्य) है, ऐसा एकवाक्यतापन्न उभय भावनाओं का शाब्दबोध हो जाता है।[२] जिस स्थल में आर्थी भावना के साधन याग के साथ उसके फल का बोधक कोई वाक्य न होने से वाक्य-समभिव्याहार द्वारा किसी फल की उपस्थिति नहीं हो पाती, वहाँ प्रकरणादि के द्वारा उस याग के फल का निश्चय किया जाता है। जैसे "**समिधो यजति**"[३] यहाँ पर समिद् यागरूप-साधन की उपस्थिति तो हो जाती है, लेकिन उसके साध्य फल की उपस्थिति नहीं होती। दर्शपूर्णमास प्रकरण में यह वाक्य पठित होने से दर्शपूर्ण-मास-याग के साथ अङ्गत्व रूप से इसकी एकवाक्यता मानकर दर्शपूर्णमास-याग के फल स्वर्ग को ही प्रकरण द्वारा इसका फल मान लिया जाता है।[४]

---

१. 'तत: किमिदन्तदन्यदित्याकाङ्क्षायां स्वर्गकामपद-समर्पितमसिद्धतया साधनापेक्षं स्वर्गमेवार्थ-भावनाभाव्यत्वेन स्वीकरोति।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७०, पङ्क्ति ६ से ८

२. 'श्रुतिवृत्या हि पदार्थभूतस्य स्वर्गकामस्य भाव्यत्वमुच्यमानं विशेष्ये बाधे विशेषणे स्वर्गे पर्यवस्यति। तथा च यागेन स्वर्गं भावयेदिति फलितं, यागकरणिका स्वर्गफलिका प्रवृत्ति: प्रवर्त्तना-विषय इति बोध:।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७०, पङ्क्ति ८ से ११

३. तैत्तिरीय संहिता, २/ ६/ १/१

४. यत्र च समभिव्याहृतानुपस्थितं फलं तत्र प्रकरणादिना।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७०, पङ्क्ति ११

जिस स्थल में प्रकरण का भी अभाव रहता है, वहाँ जिसे विधि की अपेक्षा है, ऐसे विधि-सापेक्ष अर्थवाद् वाक्यों द्वारा फल का निश्चय किया जाता है। जैसे-

'**ज्योतिगौरायुः**' इस रात्रि-याग का कोई फल वाक्य-समभिव्याहार या प्रकरण से प्राप्त नही है। यहाँ पर '**प्रतितिष्ठन्ति हवै य एता रात्रीरूपयन्ति**'[1] इस अर्थवाद वाक्य द्वारा इस रात्रि-याग के फलरूप में 'प्रतिष्ठा' का निश्चय हो जाता है।[2]

जहाँ पर अर्थवाद् वाक्य भी नहीं होते, ऐसे स्थल में विश्वजिन्न्याय से फलविशेष की कल्पना कर ली जाती है। जैसे-

'**विश्वजिता यजेत**' इस याग का फल उपर्युक्त किन्हीं भी साधनों से प्राप्त नहीं है अतः स्वर्ग रूप फल सबको प्रिय होने से, इस याग का फल भी वह स्वर्ग ही है, ऐसा निश्चय कर लिया जाता है।[3]

इस प्रकार से आर्थी भावना के साध्याकाङ्क्षा की निवृत्ति हो जाने के उपरान्त आर्थी भावना को करणकाङ्क्षा होने पर 'याग' की करण रूप से उपस्थिति हो जाती है। पुरुष-प्रवृत्ति रूप आर्थी भावना से निष्पाद्य याग-सामान्य रूप से आर्थी भावना का करण नहीं बन सकता है, अतः याग में आर्थी भावना का जो करणत्व है, उसे पारिभाषिक करणत्व समझना चाहिए।

पारिभाषिक करणत्व क्या है? इसे स्पष्ट करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि 'फलोद्देश्य से प्रवृत्त यजमान-निष्ठ कृति (व्यापार) रूप आर्थीभावना के विषय याग में विद्यमान फलोद्देश्य से प्रवृत्त की कृति का विषयत्व ही पारिभाषिक करणत्व है'[4] अतः फल के उद्देश्य से प्रवृत्त होने वाले यजमान के व्यापार रूप आर्थी भावना का विषय होने से याग का करण रूप में आर्थी

---

१. ताण्ड्य ब्राह्मण २३/ २०/४

२. तेषामप्यभावेऽर्थवादेन विधि-सापेक्षेण।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७०, पङ्क्ति ११ से १२

३. तस्याप्यभावे विश्वजिन्न्यायेन फलविशेषः कल्प्यते।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७०, पङ्क्ति १२ से १३

४. 'यद्यपि पुरुषप्रवृत्तिरूपभावनानिष्पाद्यो यागस्तत्र न करणं तथापि फलावच्छिन्न-भावनायां विषये करणत्वे करणत्वोपचार इति फलोद्देश्यकप्रवृतकृति-विषयत्वमेवात्र करणत्वम्।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७०, पङ्क्ति १४ से १६

भावना के साथ अन्वय हो जाता है। इसके अनन्तर अनुष्ठान के पश्चात् नष्ट हो जाने वाले याग रूप करण से स्वर्ग की निष्पत्ति कैसे हो सकेगी? ऐसी आशङ्का उपस्थित होने पर याग के अनन्तर तथा स्वर्ग की उत्पत्ति से पूर्व जिससे स्वर्ग की निष्पत्ति हो सके, ऐसे याग-जन्य एक अपूर्व की कल्पना होती है। इस अपूर्व के माध्यम सेही याग स्वर्ग का साधन बनता है। यह यागजन्य अपूर्व फलोत्पत्ति तक विद्यमान रहने के कारण याग विनिष्ट हो जाने पर भी इसके द्वारा स्वर्ग रूप फल की निष्पत्ति हो जाने से याग एवं स्वर्ग के साध्य-साधन भाव की उपपत्ति हो जाती है।[१]

इसके पश्चात् याग द्वारा स्वर्ग रूप फल का उत्पादक अपूर्व कैसे सम्पन्न करें, ऐसी इतिकर्त्तव्यता की आर्थी भावना को आकाङ्क्षा होने पर इत्थंभावना से अपूर्व में अन्वित हाने वाली इतिकर्त्तव्यता 'अङ्गादि' रूप इतिकर्त्तव्यता अपूर्व के लिए है, ऐसे बोध से विविध अङ्गानुष्ठानों से जन्य अङ्गापूर्वों के द्वारा फलापूर्व की निष्पत्ति का बोध होने से प्रयाजादि अङ्गों का इतिकर्त्तव्यता के रूप में आर्थी भावना के साथ अन्वय हो जाता है।[२]

इस प्रकार शाब्दी भावना और आर्थी भावना दोनों की एकवाक्यता हो जाने पर भाट्टमत में विधिवाक्यों का निम्नलिखित क्रम में शाब्दबोध होता है-

(१) **'यजेत-स्वर्गकामः'** इस विधिवाक्य का सर्वप्रथम 'सर्वकामनावान् पुरुषनिष्ठ याग जिसका करण है, ऐसी यागकरणिका, स्वर्ग-फलिका एवं प्रयाजादि इतिकर्त्तव्यता वाली भावना, ऐसा आर्थी भावना का बोध होता है।[३]

(२) इसके अनन्तर विधिवाक्य में रहने वाली प्रवर्त्तना में लिङ् की शक्ति का ज्ञान जिसका करण है, ऐसी शक्तिग्रह-करणिका तथा स्तुति रूप

---

१. इत्थञ्च कथं विनष्टेन यागेन स्वर्गो भाव्य इति प्रतीत्यवसानेन्तरापूर्वकृत्वेति सम्बन्ध्यते।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७०, पङ्क्ति २१ से २२

२. 'ततः कथमपूर्वं यागेन कर्त्तव्यमित्यपूर्वभावनायामित्थं-भावेन संयुज्यमान-मितिकर्त्तव्यताजातमपूर्वप्रयुक्तमुच्यते।'
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७०, पङ्क्ति २२ से २४

३. 'तदयं भट्टमते बोधक्रमः। स्वर्गकामनिष्ठा यागकरणिका स्वर्गफलिका प्रया-जादीतिकर्त्तव्यताका भावनेत्यर्थभावनाबोधः।'
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७०, पङ्क्ति २८ से २९

अर्थवाद वाक्यों से उपकृत होने वाली प्रवर्त्तना ऐसा शाब्द-भावना का बोध होता है।[१]

इस प्रकार इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि आर्थी भावना शाब्दीभावना की विषय (साध्य) होने से शाब्दी भावना के साथ साध्यत्व रूप से उसका अन्वय हो जाने पर दोनों में एकवाक्यता होने पर दोनों से संयुक्त महावाक्य का 'यागकरणिका स्वर्गफलिका प्रवृत्तिरूप आर्थी भावना प्रवर्त्तना रूप शाब्दी भावना की साध्य है।' ऐसा शाब्द-बोध हो जाता है, इसलिए भाट्टमतानुसार शाब्दी भावना से विशिष्ट आर्थी भावना ही लिङर्थ या विध्यर्थ है।[२]

इस शाब्दी भावना का आर्थी भावना में विशेषण रूप से अन्वय होता है। इसी प्रकार लौकिक स्थलों में गुर्वाज्ञा तथा राजाज्ञादिकों का भी उन आज्ञाओं से होने वाला प्रवृत्ति में विशेषणत्व रूप से ही अन्वय होता है।

इस प्रकार यद्यपि प्रवर्त्तना में बलवदनिष्टाननुबन्धित्व तथा इष्टसाधनत्व नहीं रहता है, तथापि आर्थीभावना में ये दोनों विद्यमान रहने के कारण इस आर्थी भावना में अन्वित होने की शाब्दी भावना रूप प्रवर्तना में योग्यता रहने से आर्थी भावना के साथ अन्वित होने पर शाब्दी भावना रूप प्रवर्त्तना में भी बलवदनिष्टाननुबन्धित्व एवं इष्ट-साधनत्व की सङ्गति हो जाती है।

इसी प्रकार प्रतिषेध वाक्यों में अनिष्ट-साधनत्व रहने से इष्ट साधनत्व तथा बलवद् अनिष्टाननुबन्धित्व न रहने पर भी प्रतिषेध वाक्यों से उत्पन्न निवृत्ति में ये दोनों विद्यमान रहने के कारण इस निवृत्ति के साथ प्रतिषेध रूप निवर्तना की एकवाक्यता हो जाने पर प्रतिषेध रूप निवर्तना में भी इनका बोध हो जाता है।[३]

---

१. 'विधिनिष्ठा शक्तिग्रहकरणिका स्त्युत्यर्थवादोपकृता, प्रवर्त्तनेति शाब्दभावनाबोधः।'
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७०, पङ्क्ति २९ से ३०

२. ततो निरुक्तार्थ-भावना निरुक्त -प्रवर्त्तना विषय इत्येकवाक्यतया महावाक्यार्थ-बोधः। अतएव विध्युपरक्ता भावना लिङर्थ इति भट्टसिद्धान्तः।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७०, पङ्क्ति ३१ से ३३

३. अर्थ-भावना-विशेषणत्वेनैव शब्दभावनाया अन्वयः। राजादिकृताज्ञादेस्तथैवान्वयात्, तदन्वयेन योग्यत्वेन प्रवर्त्तनायामपि बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वं लभ्यते। 'न सुरां पिबेदि' त्यादौ प्रतिषेधवाक्यार्थोपीत्थमेवोन्नेयः।
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ७१, पङ्क्ति १ से ४

लुङर्थ-निरूपण

'भूत इस अधिकार में '**लुङ्**'[१] इस सूत्र से भूत सामान्य अर्थ में लुङ् का प्रयोग होने से भूतकाल सामान्य ही लुङ् लकार का अर्थ है। जैसे '**घटोऽभूत्**' यहाँ पर भूतकाल सामान्य में लुङ्लकार का प्रयोग हुआ है।[२]

१०. लृङर्थ-निरूपण

'**लिङ्-निमिते लृङ् क्रियातिपत्तौ**'[३] इस सूत्र से अनिष्पन्न क्रियाओं के कार्य-कारणभाव में लृङ्लकार का प्रयोग होने से अनिष्पन्न क्रियाओं का कार्यकारण भाव ही लृङ् लकार का अर्थ है। जैसे 'सुवृष्टिश्चेदभविष्यत् सुभिक्षमप्यभविष्यत्। यदि घटोऽभविष्यत् तदा अद्राक्ष्यत् (यदि सुवृष्टि हुई होती तो अच्छी फसल हुई होती, यदि घट उत्पन्न हुआ होता तो दिखाई पड़ता।)

उपर्युक्त दोनों स्थलों में जो क्रियाएं हैं, वे अनिष्पन्न हैं तथा उनमें कार्यकारणभाव भी है। इसी अर्थ में यहाँ लृङ् लकार का प्रयोग हुआ है।[४]

---

१. पा॰ सू॰ ३/२/१/१०

२. भूतयामान्यं लुङर्थं भूत इत्यधिकारे लुङिति सूत्रात्। यथा घटोभूदिति।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ८८, पङ्क्ति २९ से ३०

३. पा॰सू॰ ३/३/१३९

४. अनिष्पन्नयोः क्रिययोहेतु-हेतुमद्भावो लृङर्थः। लिङ-निमित्ते लृङ-क्रियाति-पत्ताविति सूत्रात्। लिङो निमितं हेतु-हेतुमद्भावः। यथा सुवृष्टिश्चेदभविष्यत्सुभिक्षमप्य-भविष्यत्। यदि घटोऽमविष्यतदाद्राक्ष्यदिति।

—भाट्टचिन्तामणि, पृ॰ ८८, पङ्क्ति ३१ से ३४

तृतीय खण्ड

पदार्थ-विचार

प्रथम भाग

भाट्टचिन्तामणिकार ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय शक्ति तथा अभाव, ये सात पदार्थ माने है।[१]

१. द्रव्य-निरूपण

मीमांसकों के मतानुसार पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन, शब्द तथा तम ये ग्यारह द्रव्य माने गए हैं। इनमें पृथ्वी से लेकर मन तक के नव द्रव्य नैयायिक तथा मीमांसक दोनों को अभिमत हैं लेकिन नैयायिक जहाँ पृथिवी से लेकर मन तक द्रव्य नौ ही मानते है, वहाँ मीमांसकों ने शब्द तथा अन्धकार (तम) को भी द्रव्य माना है अतः इनके अनुसार द्रव्य ग्यारह हैं।[२]

शब्द में द्रव्यत्व की सिद्धि

मीमांसक शब्द को द्रव्य मानने में यह युक्ति देते हैं कि कर्म तथा गुणयुक्त होना ही (कर्मवत्वं गुणवत्वं द्रव्यत्वम्) द्रव्य का लक्षण है, जिसकी शब्द में सङ्गति हो जाती है क्योंकि शब्द में वेग (संस्कार) गुण तथा उच्चारणदि कर्म दोनों विद्यमान है अतः शब्द द्रव्य है।

पूर्वपक्ष-मत-निरूपण

पूर्वपक्षी नैयायिकों के मतानुसार शब्द द्रव्य नहीं है, अपितु आकाश का

१. 'एवञ्च द्रव्य-गुणकर्मसामान्यसमवायशक्त्यभावाः सप्तपदार्थाः।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० १७, पङ्क्ति २८

२. 'द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवायवाकाशकालदिगात्मनोऽन्धकारशब्दरूपाण्येकादश।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० १७, पङ्क्ति १९ से २०

गुण है। शब्द में गुणत्व की सिद्धि करने के लिए नैयायिकों ने निम्नलिखित अनुमान उपस्थापित किया है-

१. शब्द गुण है (प्रतिज्ञा)

२. बाह्येन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होने से (हेतु)

३. जो बाह्येन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होते हैं, वे सभी गुण हैं। जैसे रूप रस-गंध एवं स्पर्श बाह्येन्द्रिय-ग्राह्य हैं तथा गुण हैं (व्याप्ति सहित उदाहरण)

४. शब्द भी श्रोत्ररूप बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य है (उपनय)

५. अतः शब्द गुण है (निगमन)

इस प्रकार इस बाह्येन्द्रियग्राहत्वरूप हेतु से शब्द का गुण होना सिद्ध हो जाता है।[1]

पूर्वपक्षमत-निराकरण

पूर्वपक्षी नैयायिकों द्वारा शब्द में गुणत्व मानने के सिद्धान्त का निराकरण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि पूर्वपक्ष द्वारा उपस्थापित अनुमान में 'बाह्येन्द्रिय-ग्राह्यत्व' हेतु असद् हेतु होने के कारण इस असद् हेतु से शब्द में गुणत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती।

यदि बाह्येन्द्रिय-ग्राह्यत्व को सद् हेतु माना जाए तो वायु को भी गुण मानना होगा, क्योंकि वायु का भी त्वग् रूप बाह्येन्द्रिय द्वारा स्पर्श रूप प्रत्यक्ष होने के कारण बाह्येन्द्रिय -ग्राह्यत्व हेतु वायु में भी विद्यमान है। लेकिन वायु को गुण मानना सिद्धान्त के समान पूर्वपक्षी नैयायिकों को भी अभिप्रेत नहीं है अतः वायु में बाह्येन्द्रिय-ग्राह्यत्व हेतु होने पर भी गुणत्व न होने से बाह्येन्द्रिय-ग्राह्यत्व-हेतु का साध्य-गुणत्व के साथ अन्वय-व्यभिचार है।

इसी प्रकार बाह्येन्द्रिय-ग्राह्यत्व हेतु का साध्य गुणत्व के साथ व्यतिरेक व्यभिचार भी है। हेतु में साध्य की व्यतिरेक व्याप्ति होने के लिए जहाँ साध्य न हो वहाँ हेतु भी नहीं रहना चाहिए, ऐसा नियम है। जैसे धूम से वह्नि का अनुमान होने से धूम यह हेतु तथा वह्नि साध्य है तथा जहाँ (तालाब, नदी समुद्रादि में) वह्नि नहीं रहता वहाँ (इन सभी स्थलों में) धूम भी नहीं रहता।

---

१. 'ननु बाह्येन्द्रियग्राह्यतया शब्दे गुणत्वमिति चेत्।'

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० १६, पङ्क्ति १७

धूम में वह्नि की व्यतिरेकव्याप्ति सिद्ध हो जाने से धूम सद्हेतु है। इसी प्रकार बाह्येन्द्रिय-ग्राह्यत्व हेतु को सद् हेतु होने के लिए जिन स्थलों में साध्य गुणत्व न हो वहाँ नही रहना चाहिए था, लेकिन घटत्व, रूपत्व, आदि द्रव्य एवं गुणवृत्ति जातियों का क्रमशः संयुक्त-समवाय (संयुक्त तादात्म्य) तथा संयुक्त समवेत-समवाय (संयुक्त तादात्म्य तादात्म्य) सन्निकर्ष से चक्षु आदि बाह्येन्द्रियों द्वार ग्रहण होने के कारण इनमें साध्य-गुणत्व न होने पर भी बाह्येन्द्रिय-ग्राह्यत्व हेतु विद्यमान रहता है अतः 'बाह्येन्द्रिय-ग्राहयत्व' हेतु का साध्य गुणत्व के साथ व्यतिरेक व्यभिचार है।

इसी प्रकार बाह्येन्द्रिय-ग्राह्यत्व हेतु का साध्य गुणत्व के साथ व्यतिरेक व्यभिचार भी है। हेतु में साध्य की व्यतिरेक व्याप्ति होने के लिए जहाँ साध्य न हो वहाँ हेतु भी नहीं रहना चाहिए, ऐसां नियम है। जैसे धूम से वह्नि का अनुमान होने से धूम यह हेतु तथा वह्नि साध्य है तथा जहाँ (तालाब, नदी समुद्रादि में) वह्नि नहीं रहता वहाँ (इन सभी स्थलों में) धूम भी नहीं रहता। धूम में वह्नि की व्यतिरेकव्याप्ति सिद्ध हो जाने से धूम सद्हेतु है। इसी प्रकार बाह्येन्द्रिय-ग्राहयत्व हेतु को सद् हेतु होने के लिए जिन स्थलों में साध्य गुणत्व न हो वहाँ नहीं रहना चाहिए था, लेकिन घटत्व, रूपत्व, आदि द्रव्य एवं गुणवृत्ति जातियों का क्रमशः संयुक्त-समवाय (संयुक्त तादात्म्य) तथा संयुक्त समवेत-समवाय (संयुक्त तादात्म्य तादात्म्य) सन्निकर्ष से चक्षु आदि बाह्येन्द्रियों द्वारा ग्रहण होने के कारण इनमें साध्यगुणत्व न होने पर भी बाह्येन्द्रिय-ग्राहत्व हेतु विद्यमान रहता है अतः ब्राह्येन्द्रिय-ग्राह्यत्व हेतु का साध्य गुण्त्व के साथ व्यतिरेक व्यभिचार है।[१]

इस प्रकार 'बाह्येन्द्रिय-ग्राह्यत्व' हेतु अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों तरह से व्यभिचारग्रस्त होने के कारण इसके द्वारा शब्द में गुणत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती।

इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष द्रव्यगत (गुणनिष्ठ) गुणत्व प्रत्यक्षत्व रूपी हेतु से भी व्यतिरेक व्याप्ति के आधार पर निम्नलिखित प्रकार से शब्द में गुणत्व के अभाव की सिद्धि हो जाती है।

१. शब्द गुण नहीं है। (प्रतिज्ञा)

२. प्रत्यक्ष द्रव्यगत (गुणनिष्ठ) गुणत्वविशिष्ट प्रत्यक्षवान् न होने से (हेतु)

---

१. 'न। वायौ रूपत्वादि-सामान्ये च व्यभिचारात्।'

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० १६, पङ्क्ति १७ से १८

जो गुण नहीं होते वे प्रत्यक्ष द्रव्यगत (गुणनिष्ठ) गुणत्व-विशिष्ट प्रत्यक्षत्ववान् भी नहीं होते हैं। रूप, रस आदि गुण हैं तथा पृथिवी एवं जलादि प्रत्यक्ष-द्रव्यनिष्ठ गुण होते हुए इनका संयुक्त-समवाय (संयुक्त-तादात्म्य) सन्निकर्ष द्वारा प्रत्यक्ष हो जाने से इनमें प्रत्यक्ष द्रव्यगत (गुणनिष्ठ) गुणत्व-विशिष्ट प्रत्यक्षत्ववत्व भी है। शब्द उनकी तरह गुण नहीं है अत: उसमें यह हेतु भी नहीं है। शब्द को पूर्वपक्षमतानुरूप, क्षणमात्र के लिए यदि आकाश का गुण मान भी लें तो भी आकाश प्रत्यक्ष द्रव्य न होने से शब्द में प्रत्यक्ष द्रव्यगत (गुणनिष्ठ)गुणत्व-विशिष्ट प्रत्यक्षत्व हेतु नहीं है अत: इस हेतु द्वारा उसमें गुणत्व सिद्ध न होने से वह द्रव्य है, यह तथ्य सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार प्रत्यक्षद्रव्यगत (गुणनिष्ठ) गणुत्वविशिष्ट प्रत्यक्षत्वाभाव की जगह प्रत्यक्षद्रव्यगत (गुणनिष्ठ) गुणत्वाभावविशिष्ट प्रत्यक्षत्व को हेतु मानने पर इस हेतु से भी अन्वय व्याप्ति द्वारा शब्द में गुणत्व के अभाव की अनुमिति हो जाती है।

१. शब्द में गुणत्व जाति का अभाव है। (शब्द गुण नहीं है) (प्रतिज्ञा)
२. उसमें प्रत्यक्षद्रव्यगत (गुणनिष्ठ) गुणत्वाभाव-विशिष्ट प्रत्यक्षत्व होने से (हेतु)
३. जहाँ प्रत्यक्षद्रव्यगत (गुणनिष्ठ) गुणत्वाभावविशिष्ट प्रत्यक्षत्व (हेतु) रहता है, वहाँ गुणत्व का अभाव रहता है। जैसे पृथिवी, जल, तेज में प्रत्यक्ष-द्रव्यगत (गुणनिष्ठ) गुणत्वाभावविशिष्ट प्रत्यक्ष-हेतु विद्यमान है तथा इसमें गुणत्व-जाति का अभाव भी है। (उदाहरण)

शब्द को नैयायिकों के कथनानुसार थोड़ी देर के लिए आकाश का गुण मान भी लिया जाए तो भी आकाश यह प्रत्यक्ष द्रव्य होने के कारण तथा उसमें विद्यमान शब्द का श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होने से शब्द में भी प्रत्यक्ष द्रव्यगत (गुणनिष्ठ) गुणत्वाभावविशिष्ट प्रत्यक्षत्व हेतु की विद्यमानता सिद्ध हो जाने से इस हेतु के द्वारा उसमें गुणत्व का अभाव भी सिद्ध हो जाता है।[१]

उक्त अनुमानों द्वारा शब्द में गुणत्वाभाव की सिद्धि प्रदर्शित करने के उपरान्त शब्द में द्रव्यत्व-सिद्धि के लिए कर्मवत्व तथा गुणवत्व हेतु के आधार पर भाट्टचिन्तामणिकार ने निम्नलिखित अनुमान प्रदर्शित किया है–

१. शब्द द्रव्य है (प्रतिज्ञा)

---

१. 'प्रत्यक्षद्रव्यगुणत्वाभावविशिष्ट-प्रत्यक्षेण गुणत्वाभावानुमानाच्च।'

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० १६, पङ्क्ति १८ से १९

२. उसमें कर्मवत्व तथा गुणवत्व होने से (हेतु)

३. जिनमें कर्मवत्व तथा गुणवत्व होते हैं, वे सभी द्रव्य होते हैं। जैसे घटादि में कर्मवत्व तथा गुणवत्व विद्यमान है तथा वे द्रव्य हैं। (उदाहरण)

शब्द में उच्चारणादि कर्म तथा वेग (संस्कार) गुण होने से उसमें भी कर्मवत्व तथा गुणवत्व हेतु विद्यमान होने के कारण इन हेतुओं द्वारा उसमें द्रव्यत्व की सिद्धि हो जाती है।[1] इस प्रकार शब्द द्रव्य है, यह तथ्य सिद्ध हो जाता है।

अन्धकार में द्रव्यत्व-सिद्धि

मीमांसकों ने अन्धकार को भी द्रव्य माना है। **'नीलं तमश्चलति'** (नीला अन्धकार (तम) चल रहा है) इस प्रतीति से अन्धकार में नीलरूप गुण तथा चलन रूप कर्म का ज्ञान हो जाने से गुणवत्व तथा कर्मवत्व रूप द्रव्यत्व की इसमें सङ्गति हो जाती है अतः अन्धकार (तम) द्रव्य है, यह तथ्य सिद्ध हो जाता है।

प्रकाश-रहित चक्षु से ग्राह्य इस अन्धकार का नैयायिक-सम्मत नव द्रव्यों में से किसी में भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता। गन्धशून्य होने से इसका पृथिवी में अन्तर्भाव नहीं होता। इसी प्रकार यह नील-रूपवान् होने से नीलरूप रहित जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन में भी इसका अन्तर्भाव सम्भव नहीं है अतः इन नव द्रव्यों से यह एक पृथक् द्रव्य है, यह तथ्य सिद्ध हो जाता है।[2]

इस प्रकार शब्द तथा अन्धकार (तम) में द्रव्यत्व की सिद्धि हो जाने के कारण मीमांसा-दर्शन में द्रव्यों की संख्या ग्यारह मानी गई है।

इन्द्रिय-निरूपण

प्रत्यक्ष-ज्ञान में कारणीभूत इन्द्रिय-पदार्थ का निर्वचन करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि अपने से सम्बद्ध घटादि विषयों का जिनके द्वारा

---

१. 'तत्रापि कर्मवेगवत्वेन द्रव्यत्वानुमानम्।'

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० १६, पङ्क्ति १५ से १९

२. 'तमो नाम द्रव्यं बहुलविरलं मेचकचलं प्रतीमः,
केनाऽपि क्वचिदपि न बाधश्च ददृशे
अतः कल्प्यो हेतुः प्रमितिरपि शाब्दी विजयते
निरालोकं चक्षुः प्रथयति हि तद्दर्शनवशात्।'

-न्यायसिद्धाञ्जनम्, पृ० २११, तंत्र-सिद्धान्त-रत्नावलि, पृ० ४४ में उद्धृत।

समग्र रूप से प्रकाश होता है, वे ही इन्द्रियाँ है या फिर ये इन्द्रियाँ अपरोक्ष-(प्रत्यक्ष)-ज्ञान की जनक होने से तथा पृथिवी, अप् (जल), तेज, वायु तथा दिक्, इन द्रव्यों से निर्मित होने के कारण इन्हें अपरोक्ष-ज्ञानजनक द्रव्य भी कहा जा सकता है।[१]

ये इन्द्रियां घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र तथा मन, इस भेद से छह प्रकार की हैं। इन षड्इन्द्रियों में घ्राण, रसना, चक्षु तथा त्वक्, ये चार इन्द्रियाँ क्रमशः गन्ध, रस, रूप और स्पर्श की अभिव्यञ्जक होने से पृथिवी, जल, तेज तथा वायु-मूलक है, अर्थात् पृथिवी, अप् (जल), तेज तथा वायु इनकी प्रकृतियाँ है।

पृथिवी आदि द्रव्य इन चारों की क्रमशः प्रकृतियाँ है, इस तथ्य की गन्धमत्वादि हेतुओं से निम्नलिखित अनुमान द्वारा सिद्धि हो जाती है–

१. घ्राणेन्द्रिय की प्रकृति पृथिवी है - (प्रतिज्ञा)
२. क्योंकि इसमें गन्धमत्व है (हेतु)
३. जहाँ पृथ्वी नहीं है, वहाँ गन्धमत्व भी नहीं होता। इस व्यतिरेक व्याप्ति से केवल पृथिवी में गन्धमत्व का बोध हो जाने के उपरान्त घ्राणेन्द्रिय गन्ध की प्रकाशिका होने से इसकी प्रकृति पृथिवी है, यह अनुमिति हो जाती है।[२]

इसी प्रकार व्यतिरेक व्याप्ति के आधार पर रसमत्व, रूपमत्व तथा स्पर्शमत्वरूप हेतुओं से जल, तेज तथा वायु, ये क्रमशः रसनेन्द्रिय, चक्षु तथा त्वगिन्द्रियों के प्रकृति रूप हैं, इस तथ्य की सिद्धि हो जाती है।

श्रोत्रेन्द्रिय-निरूपण

श्रोत्रेन्द्रिय के विषय में भाट्टचिन्तामणिकार का नैयायिकों के साथ विरोध है। नैयायिकों के अनुसार शब्द यह आकाश का गुण होने से केवल आकाश में ही रहता है इसलिए आकाशमात्रवृत्ति शब्द का ग्राहक होने से शब्दवत्व हेतु

---

१. 'इन्द्रियत्वं च सम्बद्धार्थ-विशदावभासकत्वम्, अपरोक्षज्ञानजनकद्रव्यत्वं वा'
–भाट्टचिन्तामणि, पृ० १५, पङ्क्ति २४ से २५

२. 'तच्च षड्विधम्। घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोमनोभेदात्। तत्राद्यानि चत्वारि गन्धरसरूप-स्पर्शमात्राभिव्यञ्जकतया गन्धादिमत्वानुमानेन पृथिव्यप्तेजोवायु-प्रकृतीनि।
–वही पृ० १५, पङ्क्ति २६ से २८

से व्यतिरेक व्याप्ति के आधार पर श्रोत्र के आकाशात्मक होने की अर्थात् आकाश ही इसकी प्रकृति है, इस तथ्य की अनुमिति होती है।

नैयायिकों के इस सिद्धान्त के विरुद्ध भाट्टचिन्तामणिकार का कहना है कि '**अध्रिगुप्रैषान्तर्गतदिशः श्रोत्रम्**' इस मंत्र में '**दिशः श्रोत्रम्**' इस लिङ्ग रूप प्रमाण से श्रोत्र का दिशा के साथ विनियोग होने से श्रोत्र की प्रकृति आकाश न होकर दिक् है, यह तथ्य सिद्ध हो जाता है।[1]

इस प्रकार घ्राण, रसना, त्वक्, चक्षुरिन्द्रिय तथा श्रोत्र, इन पाँचों इन्द्रियों की पृथिवी, अप्, तेज दिक् प्रकृतियाँ है।

मनोनिरूपण

सुख-दुःखादि के प्रत्यक्ष-ज्ञान के साधन-रूप में मन का अस्तित्व माना गया है। सभी प्रत्यक्ष-ज्ञान इन्द्रियजन्य ज्ञान होते हैं। इसलिए सुखादिकों का ज्ञान भी प्रत्यक्ष-ज्ञान होने से इनके कारण मन के इन्द्रियत्व की भी सिद्धि हो जाती है। भाट्टचिन्तामणिकार ने मन के इन्द्रियत्व-सिद्धि के लिए निम्नलिखित अनुमान उपस्थापित किया है-

१. मैं सुखी हूं, यह प्रत्यक्ष-ज्ञान इन्द्रियजन्य है-

२. इसमें प्रत्यक्षत्व होने से

३. जो भी ज्ञान प्रत्यक्ष-ज्ञान होते हैं, वे सभी इन्द्रिजन्य होते हैं।

जैसे घटादि के प्रत्यक्ष-ज्ञान होते हैं, वे विद्यमान हैं तथा ये घटादिप्रत्यक्ष-ज्ञान इन्द्रियजन्य भी हैं। ऐसे ही सुखादि के प्रत्यक्ष में प्रत्यक्षत्व हेतु विद्यमान होने के कारण सुखादि-प्रत्यक्ष भी इन्द्रिजन्य है अतः मन भी इन्द्रिय है। इस प्रकार प्रत्यक्षत्व-हेतु से मन का इन्द्रियत्व सिद्ध हो जाता है।[2]

मन के अन्तरिन्द्रिय होने में युक्ति

मन के इन्द्रियत्व-सिद्धि के अनन्तर मन के अन्तरिन्द्रिय होने में युक्ति प्रदर्शित करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि मन के द्वारा आत्मा तथा

१. 'श्रोत्रमपि शब्दमात्रग्राहकतया शब्दवत्वानुमानेनाकाशात्मकमित्यक्षपादीयाः।
'अध्रिगुप्रैषान्तर्गतदिशः श्रोत्रम्। (द्रव्टव्य-अध्रिगु-प्रैष तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।५।६।)
इति लिङ्गाद्दिगात्मकत्वं युक्त्। -भाट्टचिन्तामणि, पृ० १५, पङ्क्ति २८ से ३०

२. 'मनसि च सुखीति प्रत्यक्षमिन्द्रियजन्यं, प्रत्यक्षत्वादित्यनुमानं प्रमाणम्।'
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० १६, पङ्क्ति ३० से ३१

उसके प्रत्यक्ष-योग्य सुखदु:खादि गुण एवं उनमें विद्यमान गुणत्व जाति के प्रत्यक्ष होने में मन को किसी अन्य सहकारि कारण की अपेक्षा नहीं होती। मन के द्वारा स्वतंत्र रूप से इन अन्तर विषयों का प्रत्यक्ष हो जाता है, परन्तु बाह्यविषयों का उसके द्वारा स्वतंत्रता पूर्वक प्रत्यक्ष नहीं होता। इन्द्रियों का बाह्य विषयों के साथ सन्निकर्ष होने के पश्चात् इन बाह्य विषयों से सम्पृक्त इन्द्रियों के साथ मन का सम्बन्ध होकर जब उसका आत्मा क साथ संयोग होता है, तभी आत्मा को इन बाह्य विषयों का प्रत्यक्ष-ज्ञान हो पाता है अत: बाह्य विषयों के प्रत्यक्ष में मन को इन्द्रियों के सहकार्य की अपेक्षा होने से इसे बाह्य-इन्द्रिय नहीं माना जाता अत: मन अन्तरिन्द्रिय है।[१]

२. गुण-निरूपण

भाट्टचिन्तामणिकार ने निम्नलिखित बीस गुण माने हैं-

१. रूप, २. रस, ३. गन्ध, ४. स्पर्श, ५. परिमाण, ६. संयोग, ७. विभाग, ८. परत्व, ९. अपरत्व, १०. गुरुत्व, ११. द्रवत्व, १२. स्नेह, १३. संस्कार, १४. अदृष्ट, १५. बुद्धि, १६. सुख, १७. दु:ख, १८. इच्छा, १९. द्वेष, २०. यत्न।[२]

इसके विपरीत न्यायशास्त्र में निम्नलिखित चौबीस गुण माने गए है-

१. रूप, २. रस, ३. गन्ध, ४. स्पर्श, ५. संख्या, ६. परिमाण, ७. पृथक्त्व, ८. संयोग, ९. विभाग, १०. परत्व, ११. अपरत्व, १२. बुद्धि, १३. सुख, १४. दु:ख, १५. इच्छा, १६. द्वेष, १७. यत्न, १८. गुरुत्व, १९. द्रवत्व, २०. स्नेह, २१. संस्कार, २२. शब्द, २३. धर्म, २४. अधर्म (अदृष्ट)।

इन दोनों मतों की तुलना करने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि न्यायशास्त्र में रूप रसादि के भेद से गुण बाईस (२२) माने गए हैं, तथा अदृष्ट को एक गुण न मानकर धर्म एवं अधर्म रूप में दो मानकर गुणों की संख्या चौबीस (२४) की गई है। यदि अदृष्ट को एक ही गुण माना जाता तो गुणों की संख्या तेईस (२३) ही रहती है।

इसके विपरीत भाट्टचिन्तामणिकार ने जो बीस गुण माने हैं, उनमें अदृष्ट

---

१. 'तच्चान्तरिन्द्रियं स्वातन्त्र्येणात्मतद्योग्यगुणतद्गतजातिमात्रग्राहकं बाह्य-विषयेषु तस्य स्वातन्त्र्याभावात्।' -भाट्टचिन्तामणि, पृ० १६, पङ्क्ति ४ से ५

२. 'गुणा रूपरसगन्धस्पर्शपरिमाणसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्व-स्नेह-संस्कारा-दृष्टबुद्धिसुखदु:खेच्छाद्वेषयत्ना इति विंशाति:। -भाट्टचिन्तामणि, पृ० १७, पङ्क्ति २१ से २२

धर्म एवं अधर्म के भेद से दो गुण न मानकर एक ही माना गया है। इसमें ही धर्म तथा अधर्म दोनों का समावेश माना गया है। नैयायिकों द्वारा अदृष्ट के दो भेद स्वीकृत होने के कारण ही गुणों की संख्या चौबीस होने से भाट्टचिन्तमाणिकार द्वारा बीस ही गुण मानने पर भी दोनों पक्षों में चार गुणों का अन्तर न होकर केवल तीन गुणों का ही अन्तर है।

न्यायशास्त्र-सम्मत उन चौबीस गुणों में[१] संख्या, पृथक्त्व, एवं शब्द, इन तीनों को भाट्टचिन्तामण्किार ने गुण नहीं माना है। इनके गुणत्व का खण्डन किया गया है-

१. संख्या के गुणत्व का निराकरण

संख्या इसलिए गुण नहीं है क्योंकि यह एक द्रव्य है, यह एक रूप है, यह एक क्रिया है, यह एक शक्ति है, इत्यादि प्रतीतियों के आधार पर संख्या का गुण तथा अन्य पदार्थों में भी अस्तित्व सिद्ध हो जाता है अतः संख्या को गुण मानना सम्भव नहीं है। यदि नैयायिक संख्या को गुण मानें तो ऐसी स्थिति में उनके गुणादि को गुण तथा क्रिया से रहित मानने के सिद्धान्त का व्याघात हो जाता है अतः संख्या को गुण मानना नैयायिकों के लिए भी उपर्युक्त नहीं है।[२]

२. पृथक्त्व के गुणत्व का निराकरण

पृथक्त्व भी मीमांसा-शास्त्र में गुण नहीं माना गया है, अपितु मीमांसकों ने इसे अन्योन्याभाव रूप माना है।

नैयायिक तथा वैशेषिकों के मतानुसार 'घट पट के पृथक् है, इस प्रकार के व्यवहार का आसाधारण कारण पृथक्त्व गुण है।[३]

इस सिद्धान्त का निराकरण करते हुए मीमांसकों का कहना है कि

१. 'अथ गुणा रूपं रसोगन्धस्ततः परम्।।३।। स्पर्शः संख्यापरिमितिः पृथ्कत्वं च ततः - परम्। संयोगश्च विभागश्च परत्वं चापरत्वकम्।।४।। बुद्धिः-सुख-दुःख-मिच्छाद्वेषोयत्मो गुरुत्वकम्। द्रवत्वं स्नेह-संस्कारावदृष्टं शब्द एव च ।।५।।

-न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली, पृ० ३९

२. 'संख्यापि गुणादिवृत्तित्वात्पदार्थान्तरमित्यन्ये' -भाट्टचिन्तामणि, पृ० १७, पङ्क्ति २९

३. इदमस्मात्पृथगिति पृथक्त्वव्हारकारणं पृथक्त्वम्। तदपि गुण इति काणादाः।

-तंत्रसिद्धान्त-रत्नावलि, पृ० ४७, पङ्क्ति २२ से २३

'इदमस्मात् पृथक्' (यह इससे पृथक् है) इस प्रकार की जो प्रतीति है वह **'इदमस्मात् भिन्नम्'** (यह इससे भिन्न है) इस प्रकार अन्योन्याभाव (भेद) रूप ही है अतः भेदरूप अभाव में इसका अन्तर्भाव हो जाने से इसे गुण नहीं माना जा सकता।[१]

शब्द में गुणत्व का निराकरण

शब्द भी मीमांसाशास्त्र में गुण नहीं माना गया है, अपितु मीमांसकों ने इसे द्रव्य माना है।[२] अदृष्ट को एक गुण मानने से तथा संख्या, पृथक्त्व एवं शब्द के गुणत्व का निराकरण हो जाने के कारण भाट्टचिन्तामणिकार ने गुणों की संख्या बीस मानी है।

३. कर्म-(क्रिया) निरूपण

न्यायशास्त्र में कर्म (क्रिया) के उत्क्षेपण (ऊपर फेंकना), अपक्षेण (नीचे फेंकना), आकुञ्चन (सिकोड़ना), प्रसारण (फैलाना) तथा गमन (चलना) - ये पाँच भेद माने गए हैं।[३]

इनमें गमन 'में ही भ्रमण (घूमना), रेचन (किसी वस्तु का बाहार निकलना), स्यन्दन (बहना), ऊर्ध्वज्वलन (ऊपर की ओर जलना), तथा तिमर्ग्गमन (टेढ़ा चलना) इन पाँचों का समावेश हो जाता है।[४]

नैयायिकों के विपरीत भाट्टचिन्तामणिकार के मतानुसार चलनात्मक रूप में कर्म एक ही है। इस एक चलन रूप कर्म में नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित कर्मों के सभी प्रकारों का समावेश हो जाता है। कारण यह है कि कर्मचलनरूप है, तथा चलन का तात्पर्य गति है, जो नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित कर्मों के सभी भेदों में विद्यमान है। कर्मों के पाँच भेद मानने में गौरव है। इसके विपरीत एक चलन

---

१. 'तत्र। यतो भेदमात्रान्नातिरिच्यते तत्र तत्त्वान्तरम्। भेदो यावत्प्रतियोगिकः तावत्प्रति-योगिकस्यैव पृथक्त्वस्याऽपि दर्शनात्। पृथक् पदस्य भेदपदेन सह प्रयोगादर्शनाच्च। अतो भेदमात्रमेव पृथक्त्वम्।'
-तंत्र-सिद्धान्त-रत्नावलि, पृ० ४७, पङ्क्ति २३ से पृ० ४८, पङ्क्ति २

२. द्रष्टव्य -शब्द में द्रव्यत्वसिद्धि', पृ० २२२

३. उत्क्षेपणं ततोऽपक्षेपणमाकुञ्चन तथा
प्रसारणञ्च गमनं कर्माण्येतानि पञ्च च।। -न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली, पृ० ४१

४. भ्रमणं रेचनं स्यन्दनोर्ध्वज्वलनमेव च।
तिर्यग्गामनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते।।७ -वही, पृ० ४१

रूप कर्म में सभी का अन्तर्भाव मानने में लाघव भी है अतः चलनात्मक कर्म एक है।[१]

कर्म-(क्रिया)-प्रत्यक्ष है

प्रभाकर का कहना है कि क्रिया का प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं होता। अपितु क्रिया से होने वाले विभाग तथा उत्तरदेश-संयोग द्वारा इसका अनुमान से ही ज्ञान होता है।[२] प्रभाकर का यह सिद्धान्त भाट्टचिन्तामणिकार को अभिमत नहीं है। इनके मतानुसार संयुक्त-समवाय (संयुक्त तादात्म्य) सन्निकर्ष द्वारा क्रिया (कर्म) का भी प्रत्यक्षात्क ज्ञान होता है।[३]

४. सामान्यनिरूपण

भाट्टचिन्तामणिकार के मतानुसार 'सामान्य नित्य, एक तथा अनेक-वृत्ति है।' इस सामान्य के विषय में भाट्टचिन्तामणिकार का नैयायिकों के साथ कोई मतभेद नहीं है। दोनों ने ही सामान्य के परसामान्य तथा अपर-सामान्य, दो भेद माने हैं। इनमें द्रव्य, गुण तथा कर्म, इन तीन पदार्थों में रहने वाले (जातिरूप) सामान्य को पर-सामान्य (सत्ता) कहते हैं तथा पर से भिन्न जो (जातिरूप) सामान्य है, उसे अपर सामान्य कहते हैं।[४]

अधिकतर सामान्य जातिरूप ही होता है, परन्तु जहाँ पर उसके जातिरूप होने में कोई जातिबाधक होता है, वहाँ उसे उपधिरूप माना जाता है।

---

१. 'कर्मचलनात्मकमेकम्'। –भाट्टचिन्तामणि, पृ० १७, पङ्क्ति २४

२. 'केचित्तु क्रिया न प्रत्यक्षा, किंतु विभागोत्तरसंयोगाभ्यामनुमेया।'
–भाट्टचिन्तामणि, पृ० १७, पङ्क्ति १७

३. 'सन्निकर्षश्च संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायश्चेति।
द्रव्यं संयोगेन, तद्गतगुणकर्मजातयो : द्वितीयेन-'
—भाट्टचिन्तामणि पृ० १६, पङ्क्ति १० से ११

४. 'सामान्यं च नित्यमेकमनेकानुगतम्।' -वही पृ० १८, पङ्क्ति २४ से २५
सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परञ्चापरमेव च।
द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते।।
परभिन्ना या जातिः सैवापरतयोच्यते।।९।। —न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली, पृ० ४३

जातिबाधक-निरूपण

नैयायिकों के अनुसार व्यक्ति का अभेद, तुल्यत्व, सङ्कर, अनवस्थिति, रूपहानि तथा असम्बन्ध, ये छह (६) जातिबाधक माने गए हैं, जिनका किरणावलीकार उदयनाचार्य ने निम्नलिखित कारिका में संग्रह किया है–

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधक-संग्रहः॥[१]

भाट्टचिन्तामणिकार ने इस कारिका के चतुर्थ चरण '**जातिबाधक-संग्रहः**' के स्थान पर '**ह्यांशिकत्वमपीष्यंत**' इस स्वनिर्मित चरण का समावेश कर 'आंशिकत्व' को भी जातिबाधक माना है। इनके मतानुसार 'व्यक्ति का अभेद, तुल्यत्व, सङ्कर, अनवस्थिति, रूपहानि, असम्बन्ध तथा आंशिकत्व, ये सात जातिबाधक हैं।[२] भाट्टचिन्तामणिकार ने क्रमशः इनका विवेचन किया है।

१. व्यक्ति का अभेद

व्यक्ति-विशेष में रहने वाला (सामान्य) धर्म जाति नहीं होता, अपितु उपाधि रूप होता है। अभिप्राय यह है कि जिस धर्म का आश्रय केवल एक ही व्यक्ति होता है, उस सामान्य धर्म को जाति न मानकर उसे उपाधि माना जाता है। जैसे आकाशत्व-रूप सामान्य धर्म केवल आकाश में ही रहता है अतः आकाशत्व के आश्रय-स्वरूप व्यक्ति (आकाश) का अभेद होने से, अर्थात् आकाशत्व का एक ही आश्रय होने से इसके जातिरूप होने में व्यक्ति का अभेद बाधक है। आकाशत्व के जातिरूप न होने से इसे उपाधि रूप माना गया है। इसी प्रकार 'कालत्व' एवं 'दिक्त्व,' ये सामान्य भी काल एवं दिग्रूप एक व्यक्ति में ही विद्यमान रहते हैं। इनके जातिरूप होने में भी व्यक्ति का अभेद रूप जातिबाधक विद्यमान होने के कारण इन्हें भी उपाधिरूप माना गया है।[३]

---

१. द्रष्टव्य-किरणावली पृष्ठ १६१

२. 'व्यक्तरभेदस्तुल्यत्वं संङ्करोथानवस्थितिः।
रूपहानिरससम्बन्धो ह्यांशिकत्वमपीष्यते॥'
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० १८, पङ्क्ति २६ से २७

३. 'एक-व्यक्तिगतश्च सामान्यम्। यथाकाशत्वम्।'
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० १८, पङ्क्ति २८

२. तुल्यत्व

तुल्य (समान) व्यक्तियों में विद्यमान (सामान्य) धर्म भी जातिरूप नहीं होता। जैसे घटत्व तथा कलशत्व। ये दोनों सामान्य-धर्म जाति-रूप नहीं हैं। कारण यह है कि (घट एवं कलश) ये दोनों परस्पर एक दूसरे से भिन्न (दो व्यक्ति) नहीं हैं, अपितु जो घट है, वही कलश है। घटत्व एवं कलशत्व ये दोनों समनियत धर्म हैं। यहाँ घटत्व एंव कलशत्व दोनों सामान्यों के जातिरूप होने में तुल्यत्व 'बाधक है इसलिए घटत्व एंव कलशत्व को जातिरूप न मानकर इनमें प्रसिद्ध होने से, घटत्व को ही जाति माना जाता है। 'कलशत्व, सामान्य' को उपाधि माना गया है।

इसके अतिरिक्त घटत्व एवं कलशत्व में वर्णोपस्थितिकृतलाघव के कारण भी 'धटत्व' को ही जातिरूप माना गया है। घट में घ + अ + ट + अ ये चार वर्ण हैं जबकि 'कलश' में क + अ + ल + अ + श + अ' ये छ वर्ण हैं अतः 'घटत्व' में कलशत्व की अपेक्षा लाघव होने से इसे ही जाति रूप माना गया है।[१]

३. सङ्कर

परस्पर एक दूसरे की अविद्यमानता (अत्यन्तभाव) के साथ रहने वाले व्यक्ति-विशेष में विद्यमान दो सामान्य रूप धर्म जाति नहीं माने जाते। एक दूसरे के अत्यन्ताभाव के साथ रहने वाले दो धर्मों का एक व्यक्ति में रहना 'सङ्कर' कहा जाता है। यह 'सङ्कर' भी सामान्य के जाति होने में बाधक है। अतः इस सङ्कर के कारण भूतत्व तथा मूर्त्तत्व - को जाति रूप न मानकर उपाधिरूप ही माना जाता है।

भूतत्व आकाश में मूर्त्तत्व के अत्यन्ताभाव के साथ रहता है। आकाश में मूर्त्तत्व नहीं रहता, इसलिए 'भूतत्व' यह मूर्त्तत्वात्यन्ताभाव-समानाधिकरण है। इसी प्रकार 'मन' में मूर्त्तत्व रहता है, लेकिन भूतत्व नहीं रहता अतः मन में विद्यमान मूर्त्तत्व भूतत्वात्यन्ताभाव-समानाधिकरण है।

इस प्रकार भूतत्व तथा मूर्त्तत्व ये दो धर्म एक दूसरे के अत्यन्ताभाव के समानाधिकरण होने पर भी पृथिवी, जल, तेज तथा वायु में दोनों के विद्यमान

---

१. 'तुल्यव्यक्तिगतं न सामान्यद्वयम्। यथा घटत्व-कलशत्वादि।'

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० १८, पङ्क्ति २८ से २९

होने पर भी पृथिवी, जल, तेज तथा वायु में दोनों के विद्यमान होने से इनका 'सङ्कर' है, जो इनके जातिरूप होने में बाधक है। परिणाम स्वरूप भूतत्व तथा मूर्त्तत्व, को जातिरूप न मानकर उपाधिरूप ही माना गया है।[१]

४. अनवस्थिति

जिस सामान्य को जातिरूप मानने से अनवस्था (क्रम सामाप्त न होने का) दोष उत्पन्न हो, उसे जातिरूप न मानकर उपाधि रूप ही माना जाता है। इस 'अनवस्था' के कारण 'जातित्व' इस सामान्य धर्म को जातिरूप न मानकर उपाधि रूप माना गया है।

अवस्था (कल्पना की अवधि) का अभाव ही अनवस्था है। इसे कल्पना का आनन्त्य भी कहा जा सकता है। यह अनवस्था 'जातित्व' के जातिरूप होने में बाधक है। 'घटत्व-जाति', ' पटत्व-जाति', महत्त्व-जाति' इन अनुगता-कारक प्रतीतियों के अनुरोध से घटत्व आदि जातियों को 'जातित्व' नाम की जाति का आश्रय नहीं माना जाता। उक्त अनुगता-कारक प्रतीतियों के अनुरोध से यदि घटत्वादि जातियों मे जातित्व नामक जाति की कल्पना की जाए, तो फिर 'घटत्व जाति' आदि प्रतीतियों के समान 'जातित्वं जातिः' इस प्रतीति के अनुरोध से जातित्वत्वनामक एक और ऐसी जाति की कल्पना करनी होगी जो घटत्व, पटत्व आदि समस्त जातियों में रह सके। इसके बाद इस जाति में भी एक तीसरी जाति की कल्पना करनी होगी और फिर इस तीसरी जाति में चौथी, फिर उसमें पाँचवी, इस तरह अनन्त जातियों की कल्पना करनी होगी, जिसकी कोई सीमा ही नहीं है। इस अनवस्था के कारण जाति में कल्पित जातित्व-रूप सामान्य को जाति न मानकर उपाधिरूप माना गया है।[२]

५. रूप-हानि

इस जातिबाधक के विषय में नैयायिकों तथा मीमांसकों में मतभेद है। नैयायिक 'विशेष' पदार्थ में विद्यमान 'विषेत्व' सामान्य को जाति मानने से 'विशेष' पदार्थ के स्वतः व्यावर्त्तकत्वरूप की हानि मानते हैं। इस रूप-हानि

---

१. 'परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणमेकव्यक्तिवृत्ति न सामान्यद्वयम्।' यथा भूतत्वमूर्तत्वे।' —वही पृ० १८, पङ्क्ति २९ से ३०

२. 'अनस्थितं न सामान्यं यथा जातित्वम्।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० १८, पङ्क्ति ३१

दोष के कारण 'विशेषत्व' को इन्होंने जाति रूप न मानकर उपाधि रूप माना है।[१]

मीमांसक विशेष पदार्थ नहीं मानते। उनके मत में विशेष में स्वतः व्यावर्त्तकत्व की रक्षा के लिए 'विशेषत्व' को जाति मानने या न मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए भाट्टचिन्तामणिकार के अनुसार अनित्य पदार्थो का रूप बदलते रहने से उनमें विद्यमान धर्म इस रूपहानि नामक जातिबाधक के कारण जातिरूप न होकर उपाधिरूप होता है। पृथुबुध्नोदराकार (घड़े के आकार) में विद्यमान 'पृथुबुध्नोदराकारत्व' रूप सामान्य रूपहानि-दोष के कारण जातिरूप नहीं होता फलतः उसे उपाधिरूप माना गया है।[२]

६. असम्बन्ध

सम्बन्ध के अभाव को असम्बन्ध कहते हैं। इस असम्बन्ध-रूप बाधक के कारण अभाव में विद्यमान 'अभावत्व' सामान्य (धर्म) को जातिरूप न मानकर उपाधिरूप माना गया है। कारण यह है कि न तो अभाव में समवाय से कोई पदार्थ रहता है, और न अभाव किसी में समवाय से रहता है। अभाव अनुयोगी या प्रतियोगी किसी भी रूप में समवाय का आश्रय नहीं है। इसलिए उसमें समवाय सम्बन्ध का अभाव है। इसमें रहने वाले अभावत्व-धर्म को जातिरूप होने के लिए इसमें समवाय सम्बन्ध से रहना अपेक्षित था किन्तु ऐसा होता नहीं है फलतः अभाव को जातिरूप मानना असम्भव होने के कारण इसे उपाधि रूप माना गया है।[३]

इसी प्रकार इस असम्बन्ध दोष के कारण समवाय में विद्यमान समवायत्व-रूप सामान्य (धर्म) को भी जातिरूप नहीं माना जाता। कारण यह है कि यदि समवाय में समवायत्वजाति की कल्पना करें तो इस समवायत्वरूप

---

१. 'रूपस्य - विशेषाणां स्वरूपस्य परमाणुगतपरस्परव्यावर्त्तकत्वद्वारा। हानिः असिद्धिः, विशेषणपदार्थाऽसिद्धिरित्यर्थः' (कृष्णवल्लभाचार्यकृतन्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली की किरणावली व्याख्या),

—न्या० सि० मु०, पृ० ४८, पङ्क्ति २७ से २८

२. 'अनित्यम् न सामान्यं, यथा पृथुबुध्नोदराकारत्वम्।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० १८, पङ्क्ति ३१ से ३२

३. 'असमवेतं न सामान्यम्। यथाऽभावत्वादि।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० १८, पङ्क्ति ३२

जाति तथा इसके आश्रय-समवायत्व के बीच सम्बन्ध के रूप में एक और समवाय की कल्पना करनी होगी। तथा फिर उसके सम्बन्ध के लिए अन्य समवाय मानना होगा। इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाता है अतः जाति के समवाय सम्बन्ध से ही रहने से तथा समवाय में समवाय होने में अनवस्था दोष होने के कारण 'समवायत्व' का समवाय के साथ कोई सम्बन्ध नहीं बन पाता, अतः असम्बन्ध दोष के कारण इसे जातिरूप नहीं माना जाता, अपितु उपाधि-रूप माना जाता है।[१]

७. आंशिकत्व

समूहालम्बनात्मक ज्ञान के अंश (भाग) में रहने वाला सामान्य आंशिकत्व-रूप बाधक के कारण जातिरूप नहीं मान जाता। ऐसे सामान्य को उपाधि रूप माना जाता है। जैसे उपेक्षात्वरूप सामान्य समूहालम्बन-ज्ञान के एक अंश (भाग) में ही रहता है अतः इसे जातिरूप न मानकर उपाधि रूप माना गया है।

अभिप्राय यह है कि '**इमौ घटपटौ**' इस प्रकार अनेक विषयों का समूहालम्बनात्मक प्रत्यक्ष-ज्ञान हो जाने के उपरान्त किसी स्थल-विशेष में उक्त समूहालम्बनज्ञान के अनेक विषयों में से जब किसी एक विषय का प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है, उस समय समूहालम्बनज्ञान के वे विषय, जिनका प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है, स्मरण द्वारा उनकी उपस्थिति हो जाती है। जिस विषय का प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है, उसमें उपेक्षात्व सामान्य (धर्म) रहता है, तथा जिनका स्मरण होता है, उनमें अनुपेक्षात्व रहता है।

ये उपेक्षात्व तथा अनुपेक्षात्व (सामान्य) समूहालम्बन-ज्ञान में आंशिक रूप में ही रहते हैं उपेक्षात्व (सामान्य) प्रत्यक्षगम्य विषय में रहता है। समूहालम्बन-ज्ञान के स्मृतिगम्य-भाग में इसका रहना असम्भव है। इसी प्रकार अनुपेक्षात्व (सामान्य) भी स्मृतिगम्य भाग में ही रहता है। वह भी समूहालम्बन-ज्ञान के प्रत्यक्षगम्य-ज्ञान में आंशिक रूप में रहने से इसके भी जातिरूप होने में आंशिकत्व-दोष बाधक है।[२]

---

१. 'अयं च समवायाऽभावयोर्जातिमत्वे समवायत्वाऽभावत्वयोर्जातित्वे च बाधकः।'
(न्या० सि० मु० की कृष्णवल्लभकृत किरणावली व्याख्या),
—न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली पृ० ४९, पङ्क्ति १५ से १६

२. आंशिकं न सामान्यम्। यथोपेक्षात्वमिति।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० १८, पङ्क्ति ३३

इस प्रकार भाट्टचिन्तामणिकार के मतानुसार जातिबाधक सात हैं।

५. समवाय एवं तदात्म्य-निरूपण

भाट्टचिन्तामणिकार के मतानुसार 'आधार में आधेय (जाति गुण आदि) जिस सम्बन्ध में स्वानुरक्त बुद्धि को उत्पन्न करते है, वही सम्बन्ध समवाय है।[१] जैसे 'घट' यह आधार है तथा उसमें जो श्याम रूप गुण है वह आधेय है। यह आधेय श्याम-रूप गुण अपने आधारभूत घट में 'श्याम घट' इस प्रकार स्वानुरक्त ज्ञान को समवाय-सम्बन्ध द्वारा उत्पन्न करता है। इसी प्रकार जाति तथा द्रव्य भी द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से ही अपने से अनुरक्त बुद्धि उत्पन्न करते हैं। जैसे घटत्व जाति घट में 'घटत्वावच्छिन्न घट', इस प्रकार समवाय सम्बन्ध से स्वानुरक्त बुद्धि उत्पन्न करती है। इसी प्रकार आधार, तन्तु-रूप द्रव्य में आधेय पट-समवाय सम्बन्ध से ही स्वानुरक्त बुद्धि उत्पन्न करता है। अभिप्राय यह है कि पट बन जाने पर भी तन्तु विद्यमान रहते हैं, तथापि उस समय 'ये तन्तु' हैं इस प्रकार की बुद्धि नहीं रहती। अपितु उनमें समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न' पट से अनुरक्त तन्तु हैं' ऐसी ही प्रतीति होती है। इसी प्रकार कर्म भी आधार द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से ही **'गच्छन्तं मृगम्'**, इस प्रकार स्वानुरक्त बुद्धि को उत्पन्न करता है।

नैयायिकों ने समवाय को अयुतसिद्ध (अपृथक् सिद्ध) सम्बन्ध माना है।[२] नैयायिकों द्वारा समवाय को अयुतसिद्ध सम्बन्ध मानने के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि जब तक 'युतसिद्धि' क्या है, इसे स्पष्ट नहीं किया जाता, तब तक समवाय को अयुत-सिद्ध-सम्बन्ध नहीं माना जा सकता तथा 'युतसिद्धि क्या वस्तु है? इसका स्पष्टीकरण सर्वथा असम्भव है।[३] अतः समवाय को अयुतसिद्ध सम्बन्ध न मानकर भेदाऽभेद (भेद सह अभेद) सम्बन्ध मानना ही उपयुक्त है।[४]

१. 'येन सम्बन्धेनाधेयमाधारस्य स्वानुरक्तबुद्धिजनकं स सम्बन्धः समवायः।'
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० १८, पङ्क्ति १९ से २०

२. 'तत्रायुतसिद्धसम्बन्धो समवायः।' —तर्कभाषा, पृ० ४०।

३. 'न त्वयुतसिद्धसम्बन्धः सः। युतसिद्धेर्वक्तुमशक्यत्वात्।'
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० १८, पङ्क्ति २० से २१

४. 'भेदाभेदसहमन्योन्याभाव-विरोधि तादात्म्यम्।' —विवरण-प्रमेय-संग्रह, पृष्ठ ४४

इसके अतिरिक्त यदि अयुतसिद्ध (अपृथक् सिद्ध) सम्बन्ध को ही समवाय माना जाए तो वृक्ष तथा उसकी शाखाओं में जो समवाय सम्बन्ध है, वह फिर नहीं हो सकेगा। कारण यह है कि वृक्ष में तथा उसकी शाखाओं में पृथक् चलन दृष्टिगोचर होता है, जिससे वृक्ष तथा उसकी शाखाओं में अभिन्नता के साथ ही साथ पृथकता का भान होता है। इसलिए समवाय का लक्षण 'अयुत-सिद्ध सम्बन्ध' करने पर वृक्ष तथा उसकी शाखाओं में जो समवाय सम्बन्ध माना जाता है, उसकी अनुपपत्ति हो जाएगी अतः समवाय को अयुत-सिद्ध सम्बन्ध न मानकर उसे भेदाऽभेद सम्बन्ध ही मानना चाहिए।[१] जिनमें भी समवाय सम्बन्ध दिखलाई देता है, उनमें परस्पर भिन्नता तथा अभिन्नता दोनों की प्रतीति होती है। उदाहरणार्थ 'घटत्व' जाति घट-विशेष के साथ ही उसके अतिरक्ति घटों में भी विद्यमान होने से घट-विशेष से भिन्न है, तथा घट-विशेष से अभिन्न भी है। कारण यह है कि यदि वह घट से भिन्न हो जाए तो वह घट-विशेष घटत्वावच्छिन घट ही नहीं हो पाएगा अतः जाति व्यक्ति में समवाय सम्बन्ध से रहने के कारण व्यक्ति से भिन्न तथा अभिन्न, दोनों रूपों में रहती है।

इसी प्रकार अवयव एवं अवयवी, गुण एवं गुणी तथा क्रिया (कर्म) एवं क्रियावान् में भी परस्पर भेदाऽभेदरूप समवाय सम्बन्ध रहता है।[२] जैसे तन्तु ये अवयव तथा उनसे निर्मित पट अवयवी होने से दोनों में भेदाऽभेद (समवाय) सम्बन्ध रहता है, क्योंकि जब तक पट की उत्पत्ति नहीं होती तब तक केवल तन्तु-समूह की ही प्रतीति होती है। जब उन तन्तुओं में पट उत्पन्न हो जाता है, उस समय तन्तु पट-रूप में ही प्रतीत होने लगते है अतः तन्तु तथा पट परस्पर अभिन्न हैं। इसी प्रकार पटरूपता-ग्रहण करने पर भी तन्तुओं की प्रतीति होती ही है, अतः तन्तु पट से भिन्न भी हैं। इसी प्रकार अवयव-अवयवी के समान समवाय-सम्बन्ध से रहने वाले गुण भी गुणी से भिन्न तथा अभिन्न, दोनों रूपों में प्रतीत होते हैं। जैसे 'इस घट का रूप नील है तथा इसका मध्यम परिमाण है, इस प्रतीति में नील रूप तथा परिमाण-रूप गुण घट से पृथक् रूप में प्रतीत

१. 'पृथक्चलनत्वस्य वृक्षशाखयोः सत्त्वेन तयोः समवायसम्बन्धो न स्यात्। अतो भेदाऽभेदः।'

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० १८, पङ्क्ति २१ से २२

२. 'एवमवयवावयविनार्गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोरपि भेदाभेदोऽनुसन्धेयः।'

-वही, पृ० १८, पङ्क्ति २३ से २४

होते हैं। इसी तरह घट अपने परिमाण एवं रूप से पृथक् रूप में दृष्टिगोचर न हो पाने से इनमें अभिन्नता भी है।

इसी प्रकार द्रव्य तथा कर्म में भी समवाय-सम्बन्ध रहता है तथा वहाँ भी दोनों में भेदाऽभेद प्रतीत होता है। जैसे दौड़ते हुए अश्व में विद्यमान गमन-क्रिया इसके साथ अभिन्न रूप में प्रतीत होती है जब अश्व रुक जाता है, उस समय उसमें गमन क्रिया न रहने से दोनों में भेद भी दृष्टिगोचर होता है। जिनमें भी समवाय-सम्बन्ध रहता है, वे परस्पर भिन्न तथा अभिन्न दोनों प्रकार से परिलक्षित होने के कारण समवाय को अयुतसिद्ध (अपृथकृ सिद्ध) सम्बन्ध न मानकर भेदाऽभेद सम्बन्ध मानना ही समीचीन है।

भाट्टचिन्तामणिकार ने उन सभी स्थलों में जहाँ नैयायिकों ने समवाय माना है वहाँ समवाय के स्थान पर भेदाऽभेदसम्बन्ध रूप तादात्म्य का स्वीकार किया है।[१] भाट्टचिन्तामणिकार ने यद्यपि तादात्म्य के स्थान पर 'समवाय सम्बन्ध को माना है, तथापि उक्त विवेचनानुसार भेदाऽभेद सम्बन्धरूप तादात्म्य के अर्थ में ही उन्हें 'समवाय' अभिप्रेत है अत: 'तादात्म्य' के स्थान पर 'समवाय' शब्द का प्रयोग होने से 'भाट्ट सम्प्रदाय'[१] के तादात्मय' सम्बन्ध मानने के सिद्धान्त के साथ इनका विरोध नहीं है।[२] इसलिए प्रबन्ध में जहाँ भी समवाय का प्रयोग आया है, वहाँ पर कोष्ठक में 'तादात्म्य' का उल्लेख कर दिया गया है।

६. शक्ति-निरूपण

भाट्टचिन्तामणिकार ने शक्ति को एक स्वतन्त्र पदार्थ माना है। शक्ति के विषय में मीमांसकों का कहना है कि बिना शक्ति के कोई भी कारण कार्योत्पत्ति में समर्थ नहीं हो पाते। जैसे बीज ये अङ्कुर रूप कार्य के कारण होने पर भी बीजत्व रूप से कारण नहीं होते, अपितु इनमें जो अङ्कुरोत्पादक शक्ति है, उस शक्ति से ही बीज अङ्कुरोत्पत्ति में कारण होते हैं। चूँकि बीज भून दिये जाने पर भी उनमें बीजत्व धर्म विद्यमान रहता है, तथापि इनसे अङ्कुरोत्पति नहीं हो पाती अत: कारणों से कार्योत्पत्ति होने में सहायक, कारणों में विद्यमान शक्ति की कल्पना हो जाती है।

१. 'येन सम्बन्धेनाधेयमाधारे स्वानुरूपं बुद्धिं जनयति स्वाकारेण बोधयतीत्यर्थः स सम्बन्धः समवायः।'

-शास्त्रदीपिका, प्रथम पाद सू० अ० ५, पृ० ३९१

२. 'भेदाभेदसहमन्योन्याभाव-विरोधि तादात्म्यम्।' -विवरण-प्रमेय-संग्रह, पृष्ठ ४४

पृथक् पदार्थ के रूप में 'शक्ति' की सिद्धि के लिए भाट्टचिन्तामणिकार ने निम्नलिखित अनुमान प्रदर्शित किया है –

१. वह्नि में दाहानुकूल (दाहजनक) अद्विष्ट (दो में न रहने वाला) अतीन्द्रिय (प्रत्यक्ष न दिखने वाला) शक्ति-रूप धर्म समवाय (तादात्म्य) सम्बन्ध से विद्यमान है - (प्रतिज्ञा)

२. क्योंकि इसमें दाहजनकत्व है (हेतु)

३. अदृष्टावान् आत्मा के समान (दृष्टान्त)

इस अनुमान में कार्यमात्र के प्रति अदृष्ट की हेतुता मानकर ही अदृष्ट को दाहानुकूल, अद्विष्ट तथा अतीन्द्रिय धर्म कहा गया है, जो आत्मा में समवाय सम्बन्ध (तादात्म्य) से विद्यमान होने से 'अदृष्टवान् आत्मा' इस दृष्टान्त की उपपत्ति हो जाती है।

शक्ति-भेद-निरूपण

इस 'शक्ति' के 'सहजा' 'आधेया,' तथा 'पदशक्ति ये तीन भेद माने गए हैं।[१]

१. सहजा-शक्ति

वह्नि आदि कारणों में ज्वलनादि कार्यों की उत्पादक स्वाभाविक शक्ति सहजा-शक्ति कही जाती है। तृण, अरणि तथा मणि में भी ज्वलनरूप कार्य की उत्पादक स्वाभाविक (सहजा) शक्ति विद्यमान रहती है। इसी प्रकार वैदिक स्थल में व्रीहि तथा यव में भी यागरूप कार्य की उत्पादका सहजा-शक्ति विद्यमान है।

२. आधेया शक्ति

प्रतिबन्धक चन्द्रकान्तमणि के संयोग से वह्नि में रहने वाली ज्वलनरूप कार्य की उत्पादिका स्वाभाविक शक्ति नष्ट हो जाने पर उत्तेजक सूर्यकान्तमणि के सन्निधान से वह्नि में फिर से ज्वलनरूप कार्य की उत्पादिका जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसे आधेया-शक्ति कहते हैं।

---

१. शक्तिस्त्रिधा। सहजाऽऽधेया पदशक्तिश्चेति। –भाट्टचिन्तामणि पृ. १७ पङ्क्ति २६

इसी प्रकार '**व्रीहिन्प्रोक्षति**'[१] इस विधिवाक्य से प्रोक्षण द्वारा उत्पन्न होकर अपूर्व की उत्पादिका शक्ति भी आधेया शक्ति है

भाट्टचिन्तामणिकार का कहना है कि यदि प्रोक्षणादि से जन्य व्रीहि में अपूर्व की उत्पादिका आधेया शक्ति न मानी जाए तो व्रीहि में किए गए प्रोक्षण से उत्पन्न अपूर्व आत्मा का गुण होने से आत्मा में ही रह सकेगा अत: अपूर्व के निमित्त '**व्रीहिन्प्रोक्षति**' इस प्रोक्षण-विधि से की गई प्रोक्षण-क्रिया के कर्म के रूप में व्रीहियों की अनुपपत्ति हो जाएगी।[२]

इस दोष के निवारणार्थ व्रीहि में, प्रोक्षण से उत्पन्न होकर व्रीहि के माध्यम से अपूर्व को उत्पन्न करने वाली आधेयाशक्ति मानना भी नितान्त आवश्यक है।

आधेया-शक्ति तथा सहजाशक्ति का भेद-निरूपण

उक्त दोनों शक्तियों के परस्पर भेद को स्पष्ट करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि सहजा शक्ति कारण में मन्त्रादि साधनों से उत्पन्न न होकर सहज (स्वाभाविक) रूप में विद्यमान रहती है। इसके विपरीत आधेय-शक्ति स्वयं प्रोक्षणादि द्वारा कारण व्रीहि आदि में उत्पन्न होते हुए व्रीहि आदि के माध्यम से अपूर्व की उत्पादिका भी होती है। सहजा शक्ति जहाँ मात्र जनिका (उत्पादिका) है, वहाँ आधेय-शक्ति जनिका होने के साथ जन्या भी है। यही दोनों में परस्पर भेद है।[३]

पदशक्ति-निरूपण

घटादि पदों में उनके शक्त अर्थ की बोधक वृत्ति पदशक्ति कही जाती है। पद एवं पदार्थ के सम्बन्ध-रूप में पदशक्ति का अस्तित्व नैयायिक तथा

---

१. आपस्तम्ब श्रौत्र सूत्र ६।३१।१३

२. 'एवमाधेयशक्तिरपि प्रोक्षणादिजन्या व्रीहिनिष्ठा। अन्यथा प्रोक्षणादि-जन्यापूर्वस्यात्म-निष्ठतया व्रीहीणां प्रोक्षणकर्मत्वानुपपत्ति:।'

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३४, पङ्क्ति १ से २

३. 'तयोश्चायमेव भेदो यत्सहजशक्तिर्जनकतावच्छेदिका, आधेयशक्तिर्जनिका जन्या चेति।' -भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३४, पङ्क्ति ४ से ५

मीमांसक दोनों को स्वीकृत है। भाट्टचिन्तामणिकार ने पदशक्ति का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित अनुमान उपस्थित किए हैं-

१. पद में उसके अर्थ को उत्पन्न करने वाली (पद) शक्ति विद्यमान है- (प्रतिज्ञा)
२. उसमें (पद में) उसके शाब्द-बोध का जनक पदत्व रहने से (हेतु)
३. अन्य पद के समान (दृष्टान्त)

इस प्रकार पदवृत्तितच्छाब्दबोधक-पदत्व-हेतु से पदशक्ति का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार -

१. पदों में पदशक्ति है (पदार्थबोधक शक्ति) है। (प्रतिज्ञा)
२. क्योंकि वृद्ध (ज्ञानी) लोग विशेष विशेष अर्थों के लिए विशेष विशेष पदों का प्रयोग करते हैं। (हेतु)
३. जैसे घटरूप अर्थ-विशेष के बोध के लिए घटरूप पद-विशेष का प्रयोग किया जाता है। (दृष्टान्त)

यदि पदों में उनके अर्थों की बोधिका पदशक्ति न होती तो वृद्ध तत्तत् अर्थों के लिए तत्तत् पदों का प्रयोग नहीं कर पाते। पदों में वृद्धों के द्वारा प्रयुज्यमानत्व-हेतु से भी पदशक्ति का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।[१]

यद्यपि पद तथा पदार्थ के सम्बन्ध-रूप में पदशक्ति नैयायिक तथा मीमांसक दोनों को स्वीकृत है, तथापि यह शक्ति ईश्वरेच्छा रूप है या ईश्वरेच्छा से अतिरिक्त पदार्थ है? इस प्रकार इसके स्वरूप के विषय में दोनों में मतभेद है।[२]

नैयायिकों का कहना है कि पद तथा अर्थ के सम्बन्ध रूप में जो पदशक्ति स्वीकृत की गई है, वह द्रव्य, गुण आदि सप्त पदार्थों से पृथ्क पदार्थ नहीं है, अपितु '**अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः**' (इस पद का यह अर्थ जानना

---

१. 'पदशक्तिस्तूभयसिद्धा। तच्छाब्दबोधजनकपदत्व-हेतुकानुमानगम्या, वृद्धैस्तत्र प्रयुज्यमानत्वहेतुकानुमानगम्या वा।'

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३४, पङ्क्ति १३ से १४

२. 'परं तु सेश्वरेच्छारूपाऽतिरिक्ता वेत्यावयोर्विवादः।'

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३४, पङ्क्ति १४ से १५

चाहिए) इस प्रकार ईश्वरेच्छा रूप है। ईश्वरेच्छा (आत्मा के गुण) में पद-शक्ति का अन्तर्भाव हो जाने से उसे पृथक् पदार्थ नहीं माना जा सकता।[1]

नैयायिकों के उपर्युक्त मत का निराकरण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि पद में विद्यमान पदशक्ति को ईश्वरेच्छा रूप नहीं माना जा सकता। इसका कारण यह है कि पद (शब्द) को नैयायिकों ने आकाश का गुण माना है। इसी तरह ईश्वरेच्छा भी (आत्मा का) गुण मानी गई है। पद (शब्द) में विद्यमान पदशक्ति को यदि नैयायिक ईश्वरेच्छा रूप मानते हैं तो ऐसा मानने से गुण मे गुण न मानने का उनका जो सिद्धान्त है, उसके साथ इस मान्यता का विरोध हो जाता है अतः पदशक्ति को ईश्वरेच्छा रूप मानना स्वयं न्यायमत के भी अनुरूप नहीं है।

इसी प्रकार ईश्वरकृत संयोग को भी पद-शक्ति नहीं माना जा सकता, क्योंकि संयोग गुण होने से वह भी गुणरूप शब्द में नहीं रह सकेगा, अतः नैयायिकों के दृष्टिकोण से विचार करने पर भी शक्ति का ईश्वरेच्छा या ईश्वरकृत संयोग में अन्तर्भाव असम्भव होने के कारण इसे दोनों से पृथक् मानना नितान्त आवश्यक है।[2]

इसी प्रकार विवेचित शक्ति व्यक्ति में मानी जाए या जाति में? इस प्रश्न का समाधान करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि इस पदशक्ति को व्यक्ति में न मानकर जातिरूप अर्थ में मानना ही समीचीन है। कारण यह है कि यदि शक्ति को व्यक्ति में माना जाए, तो तत्तत् पदरूप अनन्त-व्यक्तियों में प्रत्येक व्यक्ति की प्रत्येक पद से जन्य व्यक्ति में शक्ति मानने में अनन्त व्यक्तियों में अनन्त शक्तियों की कल्पना करनी पड़ेगी, जिसमें अत्यधिक गौरव-दोष हो जाएगा। इसके विपरीत सभी गौ व्यक्तियों में विद्यमान गोत्व जाति में गोपद की शक्ति मानने में अनन्त गौ व्यक्तियों तथा अनन्त शक्तियों की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी अतः जाति में पद की शक्ति मानना ही उपयुक्त है।

---

१. 'सा चास्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इत्याकारिकेश्वरेच्छेति न्यायविदः।'

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ५६, पङ्क्ति १४

।। शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धः। सा चास्मात्पदादमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छारूपा'। -न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ० २९३, पङ्क्ति २ से ३

२. 'पदार्थान्तरमिति मीमांसकाः।' -भाट्टचिन्तामणि,

तत्रेश्वरेच्छावदीश्वरसंयोगस्य गुणरूपपदे असम्भवात्'

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३४, पङ्क्ति १५ से १६

इसके अतिरिक्त जाति में पद-शक्ति मान लेने पर नैयायिकों के मत में पद (शब्द) तथा अर्थ दोनों अनित्य होने पर भी शब्दार्थ-सम्बन्ध की उपपत्ति हो जाएगी। परन्तु वस्तिविकता में पद (शब्द) नित्य हैं तथा जातिरूप अर्थ भी नित्य है अतः पद में पदार्थ-बोधन की पदशक्ति भी नित्य है। शब्द, शब्दार्थ तथा दोनों का सम्बन्ध-पदशक्ति, तीनों नित्य होने से पद (शब्द) तथा पदार्थ के सम्बन्ध में अनुपपत्ति का लेश भी नहीं है, जिसके निमित्त पदशक्ति को ईश्वरेच्छा रूप मानने की आवश्यकता हो अतः पद-शक्ति पृथक् पदार्थ है।[१]

इस प्रकार सहज-शक्ति, आधेय-शक्ति तथा पदशक्ति, तीनों का पृथक् अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

७. अभाव-निरूपण

भाट्टचिन्तामणिकार ने ध्वंस, अत्यन्ताभाव तथा भेद, इस प्रकार अभाव के तीन भेद माने है।[२] इनमें कपाल में विद्यमान घट पर मुद्गर-प्रहार होने पर घट का जो अभाव हो जाता है, उसे ध्वंस कहते हैं।[३] अधिकरण में जो वस्तु तीनों काल मे कभी नहीं रहती ऐसे वस्तु के अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं। जैसे वायु में रूप तथा खरहे में सीङ्ग कभी नहीं रहते अतः वायु तथा खरहे में रूप तथा सीङ्ग का जो अभाव है, वह अत्यन्ताभाव है।[४]

'घट पट नहीं है, गाय घोड़ा नहीं है, इस प्रकार की प्रतीति का विषयभूत परस्पर एक दूसरे से एक दूसरे का जो भेद-रूप अभाव है, उसे भेद या अन्योन्याभाव कहते है।[५]

---

१. 'तत्तत्स्वरूपाणां सम्बन्धत्वकल्पनमपेक्ष्यैकसमवायस्योचितत्वात्
पदानामर्थानामनित्यत्वेपि नानुपपतिः।
वस्तुतस्तु पदानां नित्यात्वाज्जात्यादिरूपाणामर्थानाञ्च तथात्वाच्छक्तिरपि नित्येति तत्सम्बन्धस्य सुतरां नित्यतेति नानुपपत्तिलेश इति दिक्।'
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३४, पङ्क्ति १६ से २०

२. 'अभाव-स्त्रिधा। ध्वंसोऽत्यन्ताभावो भेदश्चेति।' —वही, पृ० १७, पङ्क्ति २६

३. 'घटे मुद्गरप्रहारानन्तरं योऽभावः सः प्रध्वंसाभावः'
—तंत्रसिद्धान्त-रत्नावलि, पृ० ५५, पङ्क्ति २२

४. 'यत्राऽधिकरणे यस्य कालत्रयेप्यभावस्सोऽत्यन्ताभावः। यथा वायौ रूपात्यन्ताभावः।' शशे शृङ्गाभावश्च।' —वही, पृ० ५६, पङ्क्ति ४ से ६

५. इद-मिदं नेति प्रतितिविषयोऽन्योन्याभावः। गवि योऽश्वाद्यभावः सोऽन्योन्याभावः।
—तंत्रसिद्धान्त-रत्नावलि, पृ० ५६, पङ्क्ति १ से २

प्रागभाव-निराकरण

नैयायिकों ने उपर्युक्त तीनों अभावों के अतिरिक्त प्रागभाव का भी अस्तित्व माना है, परन्तु प्रागभाव का अस्तित्व भाट्टचिन्तामणिकार को मान्य नहीं है। उनका कहना है कि चूँकि प्रागभाव के अस्तित्व में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है, अतः इसे नहीं माना जा सकता।[१]

पूर्वपक्षी नैयायिकों की यह आपत्ति है कि यदि प्रागभाव का अस्तित्व न माना जाए तो उत्पन्न कार्य के भी पुनरुत्पति का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाएगा। जैसे सौ तन्तुओं वाले पट की उत्पत्ति होने पर द्वितन्तुक पट का उसमें अन्तर्भाव होने से उसकी भी उत्पत्ति हो जाती है, परन्तु शततन्तुक पट के प्रागभाव के सथ ही उसका प्रागभाव न मानने पर शततन्तुक पट के निर्मित होने पर इस द्वितन्तुक पट के प्रागभाव का नाश भी नहीं होगा फलतः शततन्तुक-पट की निर्मिति हो जाने पर इसके साथ ही उत्पन्न द्वितन्तुक पट की पुनरुत्पत्ति में प्रतिबन्धक प्रागभाव का नाश न हो पाने से इस द्वितन्तुक पट की पुनरुत्पत्ति का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाएगा। इसके निराकरणार्थ प्रागभाव को मानना आवश्यक है।

इस न्यायमत का निराकरण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि प्रागभाव न मानने पर उक्त आपत्ति का समाधान नहीं होगा, ऐसा जो नैयायिकों का कथन है वह ठीक नहीं है, क्योंकि जिसकी उत्पत्ति हो चुकी है, उस व्यक्ति को ही उसकी पुनरुत्पत्ति मे प्रतिबन्धक मान लेने पर इसकी पुनरूत्पत्ति की जो आपत्ति हो रही थी, वह निरस्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त अप्रमाणित प्रागभाव को कार्य की उत्पत्ति में कारण मानने पर गौरव दोष भी होगा, इसलिए 'प्रागभाव' को न मानकर अभाव के ये तीन भेद मानना ही उपयुक्त है।[२]

---

१. वस्तुतः प्रागभावे प्रमाणाभावात् सर्वमिदं गर्भस्रावगलितमिति।'

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० २२, पङ्क्ति २८ से २९

२. 'न च प्रागभावानङ्गीकारे उत्पन्नस्य पुनरुपत्तिप्रसङ्गः । शततन्तुकपटे द्वितन्तुक-पटोत्पत्ति-प्रसङ्गश्चेति वाच्यम्। तद्वयक्तरेव प्रतिबन्धकत्वाङ्गीकारात् अक्लृप्तप्रागभावत-द्धेतुत्वकल्पने गौरवात्।'

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० २२, पङ्क्ति २९ से ३२

द्वितीय भाग

१. अवयवि-निरूपण

पूर्वपक्षी बौद्धों का कथन है कि 'अवयवी' अपने अवयवों से भिन्न नहीं है, अपितु अवयवों का समूह ही अवयवी है। अवयव-परमाणुओं का सङ्घात ही अवयवी के रूप में प्रतीत होता है। तन्तुरूप अवयवों से भिन्न किसी पट की उत्पत्ति नहीं होती, अपितु इनका समुदाय ही पटरूप अवयवी है।

उक्त बौद्धमत का निराकरण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि यदि पटादि अवयवियों को उनके (तन्तु) अवयवों से पृथक् न माना जाए तो 'पट उत्पन्न हुआ, पट विनष्ट हुआ' इस प्रकार के जो अनुभव होते हैं, वे फिर नहीं हो पाएङ्गे अतः लोकानुभव अवयव-समुदाय के अवयवी होने में बाधक है।

पट के अवयव (तन्तु) पट की उत्पत्ति के पहले भी विद्यमान रहते हैं, तथापि उस समय 'यह पट है' ऐसी प्रतीति न होकर ये तन्तु है, ऐसी ही प्रतीति होती है। पट के समवायिकरण तन्तुरूप अवयवों के साथ जब असमवायिकारण तन्तुसंयोग, तुरी, वेमा, जुलाहा आदि समस्त कारण-सामग्री का सन्निधान हो जाने पर पट उत्पन्न हो जाता है, तभी 'यह पट है' ऐसी प्रतीति होती है। इस प्रतीति से पटादि अवयवियों की अवयवों से पृथकता सिद्ध हो जाती है।

.... इसी प्रकार जब पट के असमवायिकारण तन्तुसंयोग का नाश हो जाता है, अर्थात् प्रत्येक तन्तु अलग-अलग कर दिये जाते हैं, उस समय अवयव-तन्तु विद्यमान रहने पर भी 'पट विनष्ट हो गया' ऐसी प्रतीति हो जाती है जो अवयवी को अवयवों से पृथक् माने बिना नहीं हो सकती अतः इस प्रतीति से भी अवयवों में समवाय-सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले अवयवी की अपने अवयवों से पृथकता सिद्ध हो जाती है।[१]

२. आत्म-निरूपण

भारतीय-चिन्तन के आस्तिका दार्शनिक प्रस्थानों ने अपनी तत्त्वमीमांसा में

---

१. 'अन्ये त्ववयवसमुदायमेवावयविनमाहुः तदपि न, उत्पन्नः पटो विनष्टः पट इत्यादि प्रतीतेः।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० १७, पङ्क्ति ३३ से पृ० १८, पङ्क्ति १

सर्वाधिाक महत्त्व आत्मतत्त्व के विवेचन को प्रदान किया है। गागा भट्ट ने भी चार्वाकों के शरीरात्मवाद तथा इन्द्रियात्मवाद का निराकरण कर शरीर तथा इन्द्रियों से आत्मा के पृथक् अस्तित्व की सिद्धि प्रदर्शित की है।

चार्वाकमतोपस्थापना

अनात्मवादी चार्वाकों के मतानुसार शरीर में जो चैतन्य उत्पन्न होता है, वह आत्मा के कारण नहीं होता, अपितु चारों भूतों (पृथिवी), जल, तेज, वायु) के संयोग से ही इस चैतन्य की उत्पत्ति होती है। शरीर तथा इन्द्रियों से अतिरिक्त जीवत्मा नामक किसी पदार्थ के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं है।

चार्वाकों का कहना है कि आस्तिक-दार्शनिक **'अहं जानामि'** इस मानस- प्रत्यक्ष-प्रमाण द्वारा' अहं पद के वाच्य रूप में शरीर से अतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व सिद्ध नहीं कर सकते। कारण यह है कि जिस प्रकार **'अहं गौरः, अहं श्यामः** (मैं गौर हूं, श्याम हूँ) इन स्थलों में अहं पद का विषय शरीर है, उसी प्रकार **'अहं जानामि'** इत्यादि स्थलों में भी शरीर को ही अहं पद का विषय मान लेने पर इस मानस प्रत्यक्ष की उपपत्ति हो जाती है। इस मानस प्रत्यक्ष-प्रमाण के आधार पर शरीर तथा इन्द्रियों से पृथक् रूप में आत्मा का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता।[१]

चार्वाकमत-निराकरण

चार्वाकों के अनात्मवाद के विरुद्ध शरीरादिकों से पृथक् रूप में आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि के लिए सिद्धान्त पक्ष का कहना है कि शरीर के अन्तर्गत विद्यमान वायु के ऊर्ध्व तथा अधोगमन के जनक प्रयत्न के आश्रय रूप में या सुख दुःख आदि विशेष गुणों के आश्रय रूप में आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। शरीरन्तर्गत वायु के ऊर्ध्वाऽधोगमन के जनक प्रयत्न तथा सुख दुःखादि मात्र जीवित शरीर में ही उपलब्ध होते हैं। मृतावस्था में शरीर विद्यमान रहने पर भी उसमें ये नहीं रहते। इनमें यावत् शरीर-भावित्व (शरीर मात्र वृत्तित्व) नहीं है, जबकि शरीर का गुण होने के लिए इन्हें (शरीर मात्र वृत्तित्व)

---

१. 'ननु सर्वमिदं शरीरेन्द्रियातिरिक्तजीवात्मसद्भावे स्यात्तत्रैव मानं न पश्यामः। न चाहं जानमीति प्रत्यक्षं तत्र मानं, तस्याहं गौर इत्यादिवच्छरीरादिविषयकत्वेनाप्युपपत्तेरिति चेत्।' -भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४१, पङ्क्ति १ से ३

होना आवश्यक था अतः इन्हें शरीर-धर्म मानना असम्भव होने के कारण इनके धर्मों के (आश्रय) के रूप में देह से भिन्न आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

इसके अतिरिक्त कार्यद्रव्यवृत्ति विशेष गुणों का पाक, विरोधी गुणान्तर की उत्पत्ति तथा द्रव्यनाश, इन तीन कारणों से नाश हो जाता है। यदि उक्त शरीरान्तर्गत वायु के ऊर्ध्वाऽधोगमन-जनक यत्न तथा सुख दुःखादि को शरीर का धर्म मानते हैं तो इन्हें शरीर कार्य-द्रव्य होने से कार्य-द्रव्य-वृत्ति विशेष गुण मानकर उपर्युक्त कारण-त्रय द्वारा इनका नाश भी मानना होगा, लेकिन मृतावस्था में इन तीनों कारणों में से किसी के न रहने पर भी इनका नाश दृष्टिगोचर होता है। मृतावस्था में न तो पाकादि होते हैं, न तो किसी विरोधी गुण की उत्पत्ति होती है, और मृतावस्था में शरीर रूप कार्य-द्रव्य विद्यमान रहने से द्रव्यनाश भी नहीं है। ये तीनों ही कारण मृतावस्था में न रहने पर भी सुखादि के नाश रूप कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। इन्हें शरीर का धर्म (गुण) मानने पर कार्यद्रव्यवृत्ति विशेष गुणों का उक्त कारण-त्रय द्वारा नाश होने का नियम अनुपपन्न हो जाता है फलतः इन गुणों के आश्रय रूप में शरीर से भिन्न आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।[१] इसके अतिरिक्त **'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः'**[२] (स्वर्ग कामनावान् दर्शपूर्णमास याग करे) इत्यादि श्रुतिवाक्यों से भी देहेन्द्रियों से अतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व सिद्ध है। यदि देह को ही आत्मा मान लिया जाए तो ऐसी स्थिति में देह यहीं नष्ट हो जाने से तथा मरणोपरान्त देहातिरिक्त आत्मा न होने के कारण यागकर्त्ता को स्वर्गादि फलों की प्राप्ति नहीं होगी फलतः इन श्रुतिवाक्यों में तथा इनके द्वारा समस्त वेद में अप्रामाण्य का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाएगा। इस आपत्ति के निवारणार्थ यह मानना होगा कि यागकर्त्ता को अवश्य ही स्वर्ग रूप फल प्राप्त होता है। चूँकि यह स्वर्ग-प्राप्ति यहीं पर नष्ट हो जाने वाले देह को सम्भव नहीं है, अतः इस यागरूप कर्म से जन्य स्वर्ग रूप फल के भोक्ता के रूप में, शरीर तथा इन्द्रियों से भिन्न आत्मा की, **'यजेत'** इत्यादि श्रुतियों से अनुमिति हो जाती है।

---

१. 'शरीरान्तर्गतवायोरूर्ध्वाधोगमनानुकूलप्रयत्नाश्रयतया सुखाद्याश्रयतयावा तत्सिद्धिः। तेषामयावच्छरीरभावित्वेन तद्धर्मत्वासम्भवात्। कार्य-द्रव्यवृत्तिविशेषगुणानां। पाकदिना विरोधिगुणान्तरोत्पत्या द्रव्यनाशेन वा नाश्यत्वमिति नियमः। उक्तयत्नस्य सुखादीनाञ्च मृतावस्थायामुक्तनाशकत्रयाभावेन नाशानुपपत्तेर्न शरीरगुणत्वं सम्भवति।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४१, पङ्क्ति ४ से ९

२. शतपथ ब्राह्मण २।६।४।१७

इसी प्रकार **'अविनाशी वा अरे अयमात्मा'**[१] इत्यादि उपनिषद् वाक्य भी आत्मा शरीरादि से अतिरिक्त है, इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं। कारण यह है कि उपनिषद् वाक्य आत्मा को अविनाशी बता रहे हैं, लेकिन शरीर यह विनाशी है, यह तथ्य प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है। शरीर अविनाशी न होने से इस उपनिषद् वाक्य द्वारा अविनाशी रूप में आत्मा का प्रतिपादन होने के कारण आत्मा शरीर से भिन्न है, यह तथ्य सिद्ध हो जाता है।[२]

इन्द्रियात्मवाद-निराकरण

ज्ञानेच्छादिकों को भी शरीर के समान इन्द्रियों का गुण (धर्म) मानना भी सम्भव नहीं है। यदि इन्हें इन्द्रियों का गुण मानें तो किसी इन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर उस इन्द्रिय से पूर्वाऽनुभूत प्रत्यक्ष-ज्ञान का संस्कार भी इन्हीं ज्ञानेच्छादिकों में से एक गुण होने के कारण नष्ट हो जाएगा फलतः पूर्वानुभूत पदार्थों का इन्द्रियानाश होने पर स्मरण भी नहीं होगा, लेकिन इन्द्रिय नष्ट हो जाने पर भी उस इन्द्रिय से पूर्वाऽनुभूत पदार्थों का स्मरण होना सार्वजनीन अनुभव से सिद्ध है। ज्ञानेच्छादिकों को इन्द्रिय-धर्म मानने से इस पूर्वानुभूत पदार्थ के स्मरण-ज्ञान की अनुपपत्ति हो जाने से इन्हें इन्द्रियों से किसी पृथक् द्रव्य का गुण मानना आवश्यक है। इस तर्क के द्वारा इनके आश्रय रूप में इन्द्रियों से पृथक् द्रव्य के रूप में आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।[३]

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद् ४।५।१४।

२. 'किञ्च स्वर्गकामादिश्रुत्यापि देहातिरिक्तात्मसिद्धिः। तथाहि स्वर्गकामादिश्रुतयः कर्मजन्यफलभोक्तारं शरीरातिरिक्तं कर्त्तारमाक्षिपन्ति।'
अविनाशी वा अरेऽयमात्मा' इत्यादय उपनिषदोपि तमेवार्थं द्रढयन्ति।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४१, पङ्क्ति १७ से २०

॥ 'स्वर्गकामादिश्रुतयो हि शरीरातिरिक्तं परलोकफलोपभोगयोग्यं कर्त्तारमन्तरेणा-ऽनुपपद्यमानास्तामाक्षिपन्ति ताभिश्चाक्षिप्तं साक्षादेवोपनिषदः समर्थयन्ति-'अविनाशी वा अरेऽयामात्मा' इत्येवमादयः,

–शास्त्रदीपिका, पृ० ४७९, पङ्क्ति १ से ४

३. 'न च तेषामिन्द्रियगुणत्वम्। इन्द्रिनाशेन संस्कारनाशे स्मरणानुपपतेः।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४१, पङ्क्ति १३ से १४

॥ कथमिन्द्रियभेदः ? इन्द्रियाभावेपि ज्ञातुरेकस्य प्रत्यभिज्ञानात्-योहं रूपमद्राक्षं सोऽहं स्पृशामीति योऽहमग्रहीषं सोऽहं स्मरामीति।

–शास्त्रदीपिका पृ० ४८६, पङ्क्ति ४ से ६

इन्द्रियों के समान ज्ञानेच्छा सुखादिकों को मन का गुण (धर्म) भी नहीं माना जा सकता। कारण यह है कि न्यायमत में मन का अणु-परिमाण स्वीकृत है[१] तथा प्रत्यक्षमात्र के लिए महत् परिमाण की अपेक्षा होती है। अणु परिमाण होने से मन का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसलिए यदि इन ज्ञानेच्छा सुखादिकों को प्रत्यक्ष न होने वाले मन का गुण मानें तो इनका भी प्रत्यक्ष नहीं हो पाएगा फलत: **'अहं सुखी'** इत्यादि प्रतीतियों से इनका जो प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है, वह फिर नहीं हो सकेगा।[२]

यदि वेदान्तियों के मतानुसार मन का विभु परिमाण मानकर सुख-दु:खादि तथा ज्ञानेच्छादिकों को मन का धर्म माना जाए तो इन सुखादि तथा ज्ञानेच्छादिकों के प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति इस पक्ष में भी प्रथम पक्ष के ही समान बनी रहती है। कारण यह है कि वेदान्ती मन को विभु तो मानते हैं, लेकिन वे उसे इन्द्रिय नहीं माानते तथा प्रत्यक्ष-ज्ञान में इन्द्रिय ही करण होता है। मन को विभु मानने पर भी मन प्रत्यक्ष-ज्ञान का कारण न हो पाने से इसके द्वारा इनके प्रत्यक्ष-ज्ञान की उपपत्ति नहीं हो सकेगी। इसलिए ज्ञानेच्छासुखादिकों में मनोगुणत्व सम्भव न हो पाने के कारण इनके आश्रय (धर्मों) के रूप में शरीर, इन्द्रिय तथा मन, इन तीनों से पृथक् द्रव्य के रूप में आत्मा का अस्तित्व मानना नितान्त आवश्यक है।[३]

आत्मज्ञान-प्रकार-निरूपण

आत्मविषयक ज्ञान के सम्बन्ध में भाट्टमीमांसकों का कहना है कि **'अहं जानामि'** इत्यादि ज्ञानों में 'अहं प्रत्यय' के वाच्य रूप में इस आत्मा का ज्ञान होता है।[४]

---

१. 'अयौगपद्याज्ज्ञानां तस्याणुत्वमिहेष्यते'।

-न्यायसिद्धान्तमुक्तावली कारिका ८५, पृ० ३६१

२. 'नापि मनोगुणत्वं, तस्याणुतया तद्गुणप्रत्यक्षानुपपत्या ज्ञानादीनामप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गत्।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४१, पङ्क्ति १४ से १५

'मनोऽपि न तथा ज्ञानाद्यनध्यक्षं' न्यायसिद्धान्तमुक्तवली, पृ० १६२।

३. 'मनसो विभुत्वनये तु तद्गुणत्वे ज्ञानादीनां तदा भवेत् करणाभावात्प्रत्यक्षानुपपत्तिस्तुल्या।'

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४१, पङ्क्ति १५ से १६

'न तावदन्त:करणमिन्द्रियमित्यत्र मानमस्ति।' -वेदान्त-परिभाषा, पृ० ३२

४. 'अतोऽहं प्रत्ययवेद्य: शरीरातिरिक्त आत्मेति। -भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४१, पङ्क्ति २०-२१

'इति सिद्ध: शरीरातिरिक्तो मानसप्रत्यक्षरूपाऽहं-प्रत्ययगम्यो ज्ञाता।'

-शास्त्रदीपिका, पृ० ४७९, पङ्क्ति ४ से ५

कुमारिल भट्ट के इस अहंवित्ति से आत्मज्ञान होने के सिद्धान्त पर आक्षेप करते हुए प्रभाकर-सम्प्रदाय का कहना है कि 'अहमात्मानं जानमि' इत्यादि अहंवित्ति में ज्ञाता तथा ज्ञेय ये दोनों जिन्हें परस्पर विरुद्ध होने से भिन्न होना चाहिए था, एक हो जाते हैं। इस ज्ञान में ज्ञान-क्रिया का कर्त्ता तथा कर्म भी आत्मा है, लेकिन एक ही क्रिया में कर्त्ता तथा कर्म दोनों एक हों यह सम्भव नहीं है। कारण यह है कि '**अहं घटं पश्यामि**' इत्यादि स्थलों में' अहं पदवाच्य कर्त्ता तथा अवलोकन क्रिया का कर्म घट परस्पर भिन्न हैं। इसलिए कर्तृत्व तथा कर्मत्व, ये दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म होने के कारण पृथक्-पृथक् ही रहते हैं अतः 'अहंवित्ति' में कर्तृत्व तथा कर्मत्व, इन दोनों का एक आत्मा में अस्तित्व अनुपपन्न होने के कारण इस अहंवित्ति के आधार पर आत्मा का ज्ञान नहीं माना जा सकता है।[१]

प्रभाकर सम्प्रदाय द्वारा प्रदर्शित 'अहंवित्ति ज्ञान में कर्तृत्व तथा कर्मत्व के अनुपपत्ति रूप दोष के निवारणार्थ भाट्टमत प्रदर्शितत करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते है कि आत्म-रूप एक ही स्थल में कर्तृत्व तथा कर्मत्व वहीं पर दोष माना जाता है, जहाँ ऐसा होने से स्वात्मा में क्रियाविरोध रूप दोष हो। कर्तृत्व तथा कर्मत्व की एकता-स्थल में क्रिया-विरोध की ही दूषकता होने से जिन स्थलों में इन कर्तृत्व तथा कर्मत्व के एक होने के कारण क्रिया-विरोध होता है, वहीं कर्तृत्व तथा कर्मत्व की अनुपपत्ति होती है। जैसे '**सः आत्मानमचिन्तयदपि नाबोधत्**' इस स्थल में चिन्तन-क्रिया का कर्त्ता आत्मा है तथा कर्म भी वही है। साथ ही यहाँ पर जहाँ आत्मा में चिन्तन-क्रिया है, वहीं पर उसकी विरोधी न जानने की क्रिया भी विद्यमान होने से क्रिया विरोध भी है। इस क्रियाविरोध के कारण यहाँ पर कर्तृत्व तथा कर्मत्व की एकता दोष मानी जा सकती है परन्तु '**अहमात्मानं जानामि**' इत्यादि 'अहं-वित्ति' में कोई क्रिया-विरोध नहीं है,

---

१. 'न च तस्याहं प्रत्ययगम्यत्वमनुपपन्नं, ज्ञातृत्वज्ञेयत्वयोर्विरोधात्,'

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४१, पङ्क्ति २१ से २२

।। 'नह्येकस्य कर्तृत्वं कर्मत्वञ्च स्वात्मनि क्रियाविरोधात् सम्भवति।'

-शास्त्रदीपिका, पृ० ४७९, पङ्क्ति ६ से ७

।। तथा आत्मा च न मानस-प्रत्यक्षः, कर्मकर्तृभावविरोधात्।'

-तंत्ररहस्यम्,पृ० २०, पङ्क्ति १८

इसलिए यहाँ पर कर्तृत्व तथा कर्मत्व का ऐक्य-दोष न होने के कारण' अहंवित्ति-ज्ञान की अनुपपत्ति नहीं होती।[१]

३. मुक्ति-निरूपण

वेदान्तमत-निरूपण

वेदान्तियों के मतानुसार शरीर, इन्द्रिय तथा सुखदुःखोत्पादक भोग्य विषयों से सम्बद्ध आत्मा बद्ध कहा जाता है। आत्मा में विद्यमान पापपुण्यकर्मजन्य धर्माऽधर्म रूप अदृष्ट ही उसके बन्धन में कारण होते हैं। बन्धन के कारणीभूत इन अदृष्टों का परिक्षय (नाश) हो जाने से शरीर, इन्द्रिय एवं भोगों का हमेशा के लिए (आत्यन्तिक विलय) नाश हो जाने पर नित्यानन्दरूप आत्मा की अभिव्यक्ति (साक्षात्कार होना) ही मोक्ष है।[२]

वेदान्तमत-निराकरण

वेदान्तियों द्वारा प्रतिपादित मोक्ष-स्वरूप का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि आत्मानन्द रूप सुख की अभिव्यक्ति को मोक्ष नहीं माना जा सकता। कारण यह है **'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्'**[३], (ब्रह्म का आनन्द जानने वाला) **'स एको ब्रह्मण आनन्दः'**[४] (वह एक ब्रह्म का आनन्द है) इन श्रुतिवाक्यों में ब्रह्म में विद्यमान षष्ठी विभक्ति के द्वारा ब्रह्म तथा सुखादि में भेद की ही प्रतीति होती है। इसके अतिरिक्त मुझे कुछ भी सुख नहीं है, केवल दुःख ही है, इस अनुभव से भी आत्मा सुखरूप नहीं है, यही तथ्य सिद्ध होता है। इसलिए नित्यसुखरूप आत्मानन्द की अभिव्यक्ति को मोक्ष नहीं माना जा सकता। संसार रूप प्रपञ्च का सर्वथा विलय हो जाना ही मुक्ति है।

उपर्युक्त 'आत्मातिरिक्त संसार रूप प्रपञ्च के सर्वथा विलय रूप इस मुक्ति में आत्मा सुखरूप न होने के कारण यद्यपि सुख-प्राप्ति नहीं होती,

१. 'स्वात्मनि क्रियाविरोधस्य दूषकताबीजभावेनादूषत्वात्।'
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४१, पङ्क्ति २३

२. प्रपञ्चसम्बन्धोबन्धः। तस्यात्यन्तिको विलयो मोक्षः। तथाहि। भोगायतन- भोगासाधन- भोगविषयाणां शरीरेन्द्रियाणां सम्बन्धादात्माबद्ध इत्युच्यते।
एतत्कारणधर्माधर्मपरिक्षयादेतेषामात्यन्तिको विलयः पूर्वनाशपरानुत्पादस्वरूपः।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४२, पङ्क्ति ९ से १२

३. तैत्तिरीयोपनिषद् २।४।१

४. वही, २।८।४

तथापि दु:खों का अत्यन्ताभाव रूप पुरुषार्थ होने से इस मुक्ति-स्वरूप में अपुरुषार्थत्व होने की आपत्ति भी नहीं है अत: मुक्ति को दु:खात्यन्ताभाव रूप मानना ही समीचीन है।[1]

धर्माऽधर्मरूप अदृष्ट के नाश की प्रक्रिया

दु:खाभावरूप मोक्षस्वरूप के प्रतिपादन के अनन्तर दु:ख-कारण-धर्माऽधर्मों के नाश की प्रक्रिया स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि दु:खों के कारणीभूत सञ्चित, तथा प्रारब्ध धर्माऽधर्मरूप अदृष्टों में संञ्चित धर्माऽधर्मों से जिन सुखदु:खों का प्रारम्भ हो चुका है, उन प्रारब्ध दु:खों का उनके भोग द्वारा नाश हो जाता है तथा सञ्चित कर्मों से उत्पन्न धर्माऽधर्म के रूप में जो सुख-दु:ख विद्यमान हैं, लेकिन जिनका अभी भोग प्रारम्भ नहीं हुआ है, ऐसे सुखदु:खादिकों का उनसे भोग प्रारम्भ होने के पहले ही आत्मज्ञान, चन्द्रग्रहणादि के अवसर पर किए गए स्नानदानादि नैमित्तिक तथा कृच्छ्चान्द्रायणादि के प्राचश्चित कर्मों के अनुष्ठान से नाश हो जाता है। इसके अतिरिक्त दर्शपूर्णमासादि काम्य-कर्मों के अनुष्ठान न करने से उनसे शरीरादि बन्धनों की उत्पत्ति में कारणीभूत धर्माऽधर्म की उत्पत्ति नहीं होती। इसी प्रकार **'अहरहः सन्ध्यामुपासीत'** इत्यादि वेद-वाक्यों द्वारा विहित सन्ध्यावन्दनादिकर्मों का अनुष्ठान करते रहने से तथा निषिद्ध कलञ्चभक्षणादि कर्मों का परित्याग कर देने से जिन प्रत्यवाय तथा अधर्मरूप दु:खहेतु पापों की उत्पत्ति होती है, उनका परिहार हो जाता है। सुखदु:खों में कारणीभूत धर्माऽधर्मों का नाश हो जाने से प्रारब्ध कर्मों का भोग द्वारा नाश हो जाने पर तथा वर्तमान देह नष्ट हो जाने पर, नित्य नैमित्तिक कर्मों का आचरण करते हुए निषिद्ध कर्मों का त्याग कर देने वाला आत्मज्ञानी मुक्त हो जाता है अत: मोक्ष में ज्ञान तथा कर्म दोनों समुच्चय से कारण है।[2]

---

१. तन्न – 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्, स एकोब्रह्मण आनन्द:' इति श्रुत्या भेद-प्रतीते:। मम न किमपि सुखं, केवल दु:खमेवेत्यनुभवात्। अतो न नित्यसुखाभिव्यक्तिर्मुक्ति:। तस्मात्प्रपञ्चस्य सर्वथा विलयो मुक्ति:।'

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४२, पङ्क्ति २८ से पृ० ४३, पङ्क्ति ३

२. 'सञ्चितानां प्रारब्धानां चादृष्टानां भोगात्मज्ञाननैमित्तिकप्रायश्चित्तानुष्ठानेन नाशात्काम्यानुष्ठानजन्यानां तदननुष्ठानेनानुत्पादाद्विहितानुष्ठाननिषिद्धाकरणाभ्यां प्रत्यवाय-परिहाराच्च सुखदु:खजनकधर्माऽधर्मनाशात्पूर्वशरीरनाशे मुक्तो भवति। अत एव ज्ञान-कर्मणो: समुच्चयेन जनकता।'

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ४३, पङ्क्ति १८ से २२

४. अपूर्व-निरूपण

अपूर्व के विषय में मीमांसकों का कहना है कि याग होमादि कर्म, क्रिया रूप होने से क्षणमात्र में विनष्ट हो जाते हैं। इन यागदि से फलोत्पत्ति पर्यन्त विद्यमान रहने वाले अपूर्व शक्ति (अदृष्ट) का अस्तित्व माने बिना यागादि में वेद-बोधित करणत्व की अनुपपत्ति हो जाती है। इसलिए इन यागादि कर्मों के नष्ट होने पर भी, इनसे उत्पन्न, तथा फल-प्राप्ति पर्यन्त रहने वाले अपूर्व (अदृष्ट) का अस्तित्व, अन्यथानुपपत्तिमूलक अर्थापत्ति-प्रमाण से सिद्ध हो जाता है।[१]

पूर्वपक्ष की आपत्ति है कि जिस प्रकार बीजगत शक्ति केवल बीज में ही रहती है, उसी प्रकार स्वर्गादि फल उत्पन्न करने वाली अपूर्व-रूपयाग-शक्ति भी केवल याग में ही रह सकती है। याग के विनष्ट हो जाने पर उसमें विद्यमान अपूर्व-रूप शक्ति भी विनष्ट हो जाएगी।[२]

पूर्वपक्ष की इस आपत्ति का निराकरण करते हुए मीमांसक कहते है कि शक्ति अपने आश्रय में ही रहे ऐसा कोई नियम नहीं है। जिस प्रकार राजा के मरने पर उसका प्रभुत्व पुत्र में चला जाता है, उसी प्रकार याग के विनष्ट होने पर उसमें रहने वाली अपूर्व रूप शक्ति भी जीवात्मा में यागजन्य फल-प्राप्ति पर्यन्त विद्यमान रहती है अतः याग के नष्ट हो जाने पर भी उससे उत्पन्न अपूर्वरूप शक्ति का अस्तित्व सङ्गत है।[३]

१. 'एवं यागादेरपूर्वस्वर्गादिसाधनशक्तिकल्पनमूहनीयम्'

–शास्त्रदीपिका, पृ० ३०८, पङ्क्ति ६ से ७

'तच्च करणत्वमाशुतरविनाशिनां कर्मणां यागहोमादीनां कालान्तरभावि-स्वर्गादिं प्रति न सम्भवतीति श्रुतकरणत्वनिर्वाहाय यागस्वर्गयार्मध्ये यागजन्यं फलोत्पत्तिपर्यन्तावस्थायि अपूर्वाख्य किञ्चित्कल्पयते।'

–तंत्रसिद्धान्त-रत्नावली, पृ० ७६, पङ्क्ति १८-२०

२. 'कथं पुनः शक्तिमति-यागे विनष्टे निराधारा शक्तिरवतिष्ठते?'

–शास्त्रदीपिका, पृ० ३०८, पङ्क्ति ८ से पृ० ३०९, पङ्क्ति १

३. 'यथा प्रभुत्वं राजनि मृते तत्पुत्रे तिष्ठति तथेषा शक्तिरपि तदाश्रये यागे विनष्टे आत्मनि तिष्ठति।'

–सुदर्शनाचार्य-विरचित शास्त्रदीपिका-प्रकाश, पृ० ३०९, पङ्क्ति १८-१९

इस अपूर्व के परमापूर्व, समुदायापूर्व, उत्पत्त्यपूर्व, तथा अङ्गपूर्व के भेद चार भेद माने गये हैं।[१]

५. सृष्टि-निरूपण

नैयायिक वैशेषिक-मत-निरूपण

नैयायिक एवं वैशेषिकों के अनुसार जितने भी वस्तु समूह हैं, उन्हें तीन भागों में विभक्त किया गया है। इनमें प्रथम वे वस्तुसमूह हैं, जो किसी न किसी चेतनकर्त्ता से उत्पन्न हैं, जैसे कुम्हार जुलाहा आदि चेतनकर्त्ताओं से निर्मित घट पटादि हैं। इनका चेतनकर्तृक होना सर्वविदित होने से इसमें कोई विवाद नहीं है। दूसरे प्रकार के वस्तसमूहों में वे वस्तुएं आती हैं, जिनका किसी भी चेतनकर्त्ता से उत्पन्न न होना निश्चित है। जैसे व्योम, आकाश, काल आदि हैं। तीसरे वस्तु समूह में वे वस्तुएं आती हैं जिनका किसी चेतनकर्त्ता से निर्माण विवादास्पद है। जैसे पृथिवी अङ्कुर आदि हैं।

इस विषय में नैयायिक-वैशेषिकों का कहना है कि ये ईश्वर रूप चेतनकर्त्ता से निर्मित होने के कारण चेतनकर्तृक हैं, लेकिन मीमांसक इन्हें ईश्वर द्वारा निर्मित नहीं मानते। उनके मत में ये चेतन-कर्तृक नहीं है। इनके चेतन-कर्तृक होने में विप्रतिपत्ति (विवाद) है।

इस सन्दर्भ में नैयायिकों एवं वैशेषिकों का कहना है कि पृथिवी अङ्कुर आदि वस्तु समूह सावयव (अवयवों वाले) हैं, तथ्य प्रत्यक्षात्मक अनुभव से ही विदित हो जाता है तथा जो सावयव होते हैं वे कार्य होते हैं, जैसे घट पटादि सावयव हैं तथा कार्य भी हैं। इसी प्रकार पृथिवी अङ्कुर आदि भी सावयव होने से कार्य हैं। इस प्रकार सावयवत्व हेतु से पृथिवी अङ्कुरादि में कार्यत्व की सिद्धि हो जाने पर इन्हें पक्ष बनाकर कार्यत्त्व हेतु से उनके बुद्धिमान्-कर्त्ता के रूप में ईश्वर की निम्नलिखित अनुमान द्वारा अनुमिति हो जाती है-[२]

---

१. 'तच्चाऽपूर्वं परमापूर्व-समुदायापूर्वोत्पत्यपूर्वाङ्गापूर्वभेदाच्चतुर्धा भिद्यते।'
—तंत्रसिद्धान्तरत्नावलि, पृ. ७८, पङ्क्ति ४

२. 'अत्र नैयायिकवैशेषिकौ। त्रिविधं वस्तुजातं, संप्रतिपन्न-चेतनकर्तृकं यथा घटादि, सम्प्रतिपन्न-चेतनार्कृकं व्योमादि, विप्रतिपन्नचेतनकर्तृकं महीरूहाङ्कुरादि। तत्र तृतीयं सावायत्वेन सिद्धकार्यत्वकं पक्षीकृत्य बुद्धिमत्कर्तृकं कार्यत्वात्परवदिति ईश्वरं कर्त्तारमनुमापयति।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३५, पङ्क्ति १३ से १६

१. जिनमें कार्यत्त्व की सिद्धि हो चुकी है ऐसे पृथिवी अंङ्कुर आदि कार्यों का कोई न कोई बुद्धिमान कर्त्ता अवश्य है- (प्रतिज्ञा)
२. इनमें कार्यत्व होने से (हेतु)
३. जो कार्य होते हैं, उनका कोई न कोई बुद्धिमान्कर्त्ता अवश्य होता है। जैसे घट पटादि कार्य हैं एवं कुम्हार, जुलाहा आदि इनके बुद्धिमान कर्त्ता हैं- (उदाहरण)
४. इसी तरह पृथिवी वृक्ष अङ्कुरादि भी कार्य हैं- (उपनय)
५. अतः इनका भी कोई न कोई बुद्धिमान् कर्त्ता सामान्य मानव हो नहीं सकता। अतः वह कर्त्ता सबसे विलक्षण-बुद्धि-शक्ति-सम्पन्म ईश्वर है। (निगमन)

इस प्रकार उक्त अनुमान द्वारा जिनके बुद्धिमान कर्त्ता के रूप में ईश्वर की सिद्धि की गई है, उन पृथिवी, वृक्ष, अङ्कुरादि समस्त जागतिक पदार्थों के समवायिकारण नित्य-परमाणु, परमाणुओं का संयोग असमवायिकारण तथा क्षेत्रज्ञ पदवाच्य जीवात्मा एवं धर्माऽधर्मरूप अदृष्ट निमित्तकारण हैं। यद्यपि परमाणु जागतिक सृष्टि के समवायिकारण हैं, तथापि ये स्वभावतः जड़ एवं निष्पन्द होने से इनमें परस्पर संयोग के लिए आवश्यक क्रिया नहीं हो सकती। अदृष्ट की सहकारिता से ईश्वर की इच्दा से ही परमाणुओं में स्पन्दन रूप क्रिया उत्पन्न होती है जिसके परिणाम स्वरूप अणु-परिमाण-विशिष्ट परमाणुओं के संयोग से द्वयणुक, तीन द्वयणुकों के संयोग से त्र्यणुक, चार त्र्यणुकों से चतुराणुक तथा इसी क्रम से स्थूल सृष्टि होते होते पृथिवी, जल, तेज तथा वायु, इन चारों अवयवियों का आरम्भ होता है। इसके अनन्तर जीवों के अदृष्ट के अनुरूप ईश्वरेच्छा द्वारा उनके लिए ज़रायुज, अण्डज, उद्भिज्ज तथा स्वेदज, इन परस्पर भिन्न-भिन्न शरीरों में भी एक दूसरे से भिन्न शरीरों, तथा भोगों की सृष्टि होती है।[१]

भाट्टचिन्तामणिकार-मत-निरूपण

भाट्टचिन्तामणिकार का कहना है कि उनके मीमांसा-सम्प्रदाय में भी

---

१. 'तस्य च परमाणवः समवायिकारणं, तत्संयोगश्चासमवायिकारणं, क्षेत्रज्ञपदवाच्यो जीवात्मनो धर्माऽधर्मौ च निमित्त-कारणाम्। सर्गकाले पुनरीश्वरेच्छाम-दृष्टञ्च निमित्त-मासाद्य परमाणुषु कर्माण्युत्पद्यन्ते। ततो मिथः संयुक्तैः परमाणुभिद्वर्यणुका- दिक्रमेण पृथिव्याद्यवयविचतुष्टयमारभ्यते।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३५, पङ्क्ति १६ से २०

नैयायिक तथा वैशेषिकों को अभिमत परमाणु-संयोग से निर्मित चारों भूतों तथा शरीर-निर्माण की प्रक्रिया मान्य है, परन्तु नैयायिक तथा वैशेषिकों का ईश्वर की इच्छा को भी सृष्टि का कारण मानने का सिद्धान्त उन्हें मान्य नहीं है। कारण यह है कि ईश्वरेच्छा भी एक इच्छा है तथा इच्छा के अनुरूप कार्य की सिद्धि के लिए आत्मा में जब तक प्रयत्न उत्पन्न नहीं होता तब तक इच्छा के रहने पर भी कार्योत्पत्ति नहीं होती, अत: इच्छा से कार्य उत्पन्न होने में कोई प्रमाण नहीं है। इसके अतिरिक्त इच्छा अचेतन है तथा किसी भी अचेतन पदार्थ से कभी भी कार्योत्पत्ति का अनुभव नहीं होता। यदि इच्छा को विजातीय क्रियादि के प्रति कारण मानकर इच्छा तथा क्रियादि में कार्यकारणभाव की कल्पना करें तो इसमें अत्यधिक गौरव हो जाता है। कारण यह है कि इच्छा मात्र से कार्योत्पत्ति का अनुभव न होने के कारण प्रयत्न को भी इच्छा के साथ कारण मानना होगा तथा इस प्रकार प्रयत्न से युक्त इच्छा को कारण मानने में प्रयत्न-विशिष्ट इच्छा या इच्छा-विशिष्ट-प्रयत्न इनमें से किसी भी पक्ष में विनिगमना न होने से दो विशेषण-विशेष्यभावों की कल्पना करनी होगी, फलत: गौरवदोष हो जाएगा।[१] इसके अतिरिक्त विजातीय क्रियादि के प्रति अदृष्ट ही आवश्यक कारण है अत: ईश्वर की इच्छा के अभाव में भी अदृष्ट रूप कारणान्तर से परस्पर भिन्न विचित्र शरीरादि के निर्माण में कारणभूत क्रिया-वैचित्र्य की उत्पत्ति सिद्ध हो जाने से इन क्रियादि के प्रति ईश्वर की इच्छा अन्यथासिद्ध है अत: अन्यथासिद्धि-राहित्य रूप कारणत्व की ईश्वरेच्छा में सङ्गति न हो पाने के कारण अदृष्ट की ही जगत्निर्माण में कारणभूत परमाणुओं में होने वाली संयोग-जनक क्रिया के प्रति कारणता है।

नैयायिकों का कहना है कि ईश्वर की इच्छा तथा उसकी कार्य-जनकता में 'स ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेय[२]' (उसने बहुत होने की तथा प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा की) यह श्रुतिवाक्य प्रमाण होने से ईश्वरेच्छा में कार्यमात्र की जनकता होने में कोई प्रमाण नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

---

१. इदमेव युक्तमसमन्मतञ्च। परंत्वेतावान् विशेष:। इच्छाया: कार्यमात्रजनकत्वे न किञ्चिन्मानमस्ति। न चात्मनिष्ठप्रयत्नोत्पादनं विनेच्छाया: कार्यजनकत्वम्। अचेतननिष्ठ-क्रियादिजनकत्वञ्च नानुभूतपूर्वम्। अतस्तादृशहेतुहेतुमद्भावकल्प-नेनात्यन्तगौरवापत्ति:।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३५, पङ्क्ति २६ से २९

२. तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय। —छान्दोग्योपनिषद् ६।२।३

साऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय। —तैत्तिरीयोपनिषद् २।६

नैयायिकों के इस तर्क का खण्डन करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि उपर्युक्त श्रुतिवाक्य का तात्पर्य ईश्वरेच्छा तथा उसकी कार्य-जनकता के प्रतिपादन में नहीं है। इस श्रुति वाक्य में ईश्वरेच्छा का अस्तित्व तथा उसकी कार्यजनकता प्रमाणित नहीं होती। यदि इस श्रुतिवाक्य का तात्पर्य ईश्वरेच्छा की कारणता के प्रतिपादन में माना जाए तो **'आत्मनः आकाशः सम्भूत'**[१] इस श्रुतिवाक्य का तात्पर्य आत्मा से आकाश की उत्पत्ति में मानना होगा फलतः प्रथम श्रुतिवाक्य द्वारा इच्छा में तथा द्वितीय श्रुतिवाक्य द्वारा आत्मा में कार्यजनकत्व मानने पर दोनों वाक्यों में परस्पर विरोध होकर दोनों में तथा इनके द्वारा सम्पूर्ण वेद में ही अप्रामाण्य होने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाएगा। इस अप्रामाण्य के परिहार के लिए समस्त संसार के प्रति आवश्यक कारण अदृष्ट में ही दोनों श्रुति वाक्यों की लक्षणा की जाती है। उक्त दोनों श्रुतिवाक्य अदृष्ट में लाक्षणिक होने के कारण इनके द्वारा ईश्वरेच्छा तथा उसकी कार्यजनकता सिद्ध नहीं होती। फलतः ईश्वरेच्दा सृष्टि रूप कार्य में कारण नहीं है।

६. प्रलय-निरूपण

नैयायिकों ने प्रलय के खण्ड प्रलय तथा महाप्रलय ये दो प्रकार माने हैं। इनमें खण्ड प्रलय भाट्टचिन्तामणिकार को भी मान्य है परन्तु इनके मतानुसार सृष्टि तथा ध्वंस की परम्परा अनादिकालीन है। इन्हें महाप्रलय का सिद्धान्त अभिमत नहीं है।

खण्ड प्रलय-निरूपण

खण्ड प्रलय का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए नैयायिकों ने निम्नलिखित अनुमान उपस्थापित किया है-

१. काल तथा कपाल से जन्य पटादि में विद्यमान घट का प्रागभाव कार्य

---

१. आत्मनः आकाशः सम्भूत -'

तैत्तरीयोपनिषद् २।१।१ —योगचूडामणि उपनिषद् ७२

'आवश्यकादृष्टहतुकतयाऽन्यथासिद्धिश्च। अतो धर्माधर्मयोरेव विजातीयक्रियाजनकत्वं, नेश्वरेच्छाप्रत्यत्नादीनामिति। तेनेश्वरेच्छायान्तस्याः कार्यजनकत्वे च' स ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेये' ति श्रुतिरेव मानम्। तत्रच 'आत्मन आकाशः सम्मभूत' इत्यादाविवक्षितेऽदृष्टे लाक्षणिक इत्यलं पल्लवितेन।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३५, पङ्क्ति २९ से पृ० ३६, पङ्क्ति २

द्रव्य, जिनसे किसी अन्य कार्य का निर्माण नहीं होता ऐसे घट रूप कार्य द्रव्य का जो अधिकरण नहीं है, ऐसे घट रूप कार्य द्रव्य के अनधिकरण रूप कार्य 'पट' के अधिकरण तन्तु में रहता है। चूँकि प्रागभाव सर्वत्र विद्यमान रहता है अतः घटप्रागभाव का तन्तुओं में वृत्तित्व होने में कोई बाधा नहीं है। इसलिए काल-कपालान्य-तन्तुवृत्ति घट-प्रागभाव का कार्यद्रव्य घट के अनाधार कार्य पट के अधिकरण तन्तुओं में वृत्तित्व है- (प्रतिज्ञा)

२. क्योंकि काल-कपालान्यवृत्ति-घटप्रागभाव में अभावत्व है- (हेतु)

३. जो अभाव होते हैं, अर्थात् जिनमें अभावत्व होता है, वे कार्य द्रव्य के अनधिकरण कार्याधिकरण-वृत्ति होते हैं, आत्मा में न रहने वाले अन्योन्या-भाव के समान। आत्मा में न रहने वाले **'आत्मा न'** इस अन्योन्या-भाव में भी अभावत्व हेतु रहता है तथा यह कार्य द्रव्य घट के अनधिकरण-रूप कार्य पट के अधिकरण तन्तुओं में विद्यमान भी है, क्योंकि इस अन्योन्यभाव के तन्तुओं में रहने में कोई बाधा नहीं है-(व्याप्तिसहित उदाहरण)

४. ऐसे ही घट तथा कपाल इनसे अन्य (कहीं भी) वृत्ति घटप्रागभाव में भी अभावत्व हेतु है - (उपनय)

५. अतः वह भी कार्यद्रव्य घट के अनाधार रूपकार्य पट के अधिकरण तन्तुओं में रहने वाला है- (निगमन)

६. इस प्रकार इस अनुमान से कार्य-द्रव्यानाधारकार्याधिकरण तन्तुओं में घट-प्रागभाव की तथा घटादि के समान ही समस्त कार्यजात के प्रागभाव की सिद्धि हो जाने से उनकी भविष्यत्कालीन उत्पत्ति सिद्ध हो जाती है। इसी प्रकार निम्नलिखित अनुमान से कार्यजात के ध्वंस की भी सिद्धि होती है-

१. घट यह कार्य द्रव्य-अन्त्यावयवि पट के अनधिकरण-रूप कार्य पट के अधिकरण कपाल में वृत्ति (रहने वाले) अपने ध्वंस (नाश) का प्रतियोगी है- (प्रतिज्ञा)

२. क्योंकि वह भावकार्य होने से उसमें भावकार्यत्व है- (हेतु)

३. जो भावकार्य होता हे उसमें कार्यद्रव्य के अनधिकरणरूप कार्य के (अपने) अधिकरण में वृत्ति ध्वंस का प्रतियोगित्व होता है। जैसे शब्द यह भावकार्य होने से उसमें भावत्व हेतु है तथा वह कार्यद्रव्य घट पटादि के अनधिकरण रूप कार्य शब्द के अधिकरण (अपने ही अधिकरण) आकाश में अपने ध्वंस का प्रतियोगी है, क्योंकि आकाश में निरन्तर शब्दों की उत्पत्ति तथा

ध्वंस होते ही रहते हैं अतः शब्द में भावत्व हेतु के साथ कार्यद्रव्य के अनधिकरण रूप कार्य शब्द के अधिकरण-आकाश में वृत्ति ध्वंस का प्रतियोगित्व भी है- (व्याप्तिसहित उदाहरण)

४. घट पटादि कार्यसमूह में भी भावकार्यत्व है- (उपनय)

५. अतः वे भी कार्यद्रव्यानधिकरण कार्याधिकरणवृत्ति ध्वंस के प्रतियोगी हैं- (निगमन)

इस अनुमान से कार्यमात्र के ध्वंस की सिद्धि हो जाती है।

पूर्वोक्त अनुमान से उत्पत्ति तथा उक्त अनुमान से ध्वंस का अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर तथा ध्वंस के प्रतियोगी भावकार्य हो जाने से यह तथ्य अवगत हो जाता है कि सांसारिक कार्यों का एक तरफ जहाँ ध्वंस होता है, वहीं दूसरी तरफ उनकी उत्पत्ति भी होती रहती है। कारण यह है कि यदि कार्यजात की उत्पत्ति ही न हो तो ध्वंस किसका होगा? जिस तरह दिन के बाद रात होती है तथा फिर से दिन होता है, उसी तरह सृष्टि का भी खण्ड-प्रलय-रूप ध्वंस तथा फिर से उत्पत्ति, यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। इस प्रकार जिनकी पुनः उत्पत्ति होने वाली है, ऐसे घटपटादि-कार्यों के किञ्चित् काल-स्थायी प्रलय को खण्डप्रलय कहते है।

इस खण्डप्रलय के विषय में भाट्टचिन्तामणिकार की नैयायिकों के साथ सहमति है।

नैयायिकमत-निरूपण

नैयायिकों तथा वैशेषिकों के मतानुसार जिस काल मे जीवों के कर्मानुरूप फल-प्राप्ति के लिए होने वाली चित्र-विचित्र भोग तथा भोगसाधन-रूपा सृष्टि के कारणभूत अदृष्टों की कार्यक्षमता, परमेश्वर की सृष्टि का संहार करने की इच्छा होने पर अवरुद्ध हो जाती है, वही महाप्रलय काल है। इस महाप्रलय काल में जीवों के शरीर, इन्द्रिय तथा भोगरूप समस्त कार्यों के परमाणु अलग-अलग हो जाने से समस्त सृष्टि एक दीर्घ काल के लिए लुप्त हो जाती है। इस महाप्रलय का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए नैयायिकों ने निम्नलिखित अनुमान उपस्थापित किए हैं-

१. पट, अदृष्ट के असमान काल (महाप्रलय काल) में होने वाले अपने

ध्वंस (नाश) का प्रतियोगी है- (महाप्रलय काल में घटापटादि समस्त भाव-कार्यों का चिरस्थायी ध्वंस हो जाता है[१]- (प्रतिज्ञा)

२. इन सभी घटपटादि भाव-कार्यों में भावकार्यत्व होने से- (हेतु)

३. जिसमें भी भाव-कार्यत्व होता है, वे सभी अदृष्ट के असमानकालीन (महाप्रलयकालीन) ध्वंस के प्रतियोगी होते हैं। मुक्ति के अव्यवहित प्रावकालीन ज्ञान के समान। मुक्ति से ठीक अव्यवहित पूर्वक्षण में होने वाले आत्मज्ञान का द्वितीय (मुक्ति) क्षण में ध्वंस हो जाता है तथा आत्मज्ञान हो जाने पर जीवों के सञ्चित कर्म (अदृष्ट) भी नष्ट हो जाते हैं। मुक्ति के पूर्वक्षण में होने वाले आत्मज्ञान का मुक्ति-कालीन ध्वंस अदृष्ट का असमानकालीन है। इसलिए मुक्ति के अव्यवहित प्राककालीन ज्ञान में भावकार्यत्व हेतु तथा अदृष्ट के असमानकालीन ध्वंस का प्रतियोगित्व भी है। यदि मुक्ति-क्षण में ज्ञान के ध्वंस को अदृष्ट का असमानकालीन न मानें तो मुक्ति के बाद पुनः जीव की अदृष्टवश भोगार्थ उत्पत्ति होने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाएगा अतः मुक्ति के अव्यवहित प्राक्कालीन ज्ञान का ध्वंस अदृष्ट-असमान-कालीन है- (व्याप्ति सहित उदाहरण)

४. पटादि कार्य भी भावकार्य होने से इनमें भावकार्यत्व है (उपनय)

५. अतः ये घट पटादि भी अदृष्ट के असमानकालीन ध्वंस के प्रतियोगी हैं। अभिप्राय यह है कि ये समस्त कार्यजात भावकार्य होने से इनका अदृष्ट के असमान काल (महाप्रलयक काल) में चिरस्थायी ध्वंस (विनाश) हो जाता है। (निगमन)[२]

---

१. यहाँ पर यह ज्ञातव्य है कि अदृष्ट के समान काल में जिनका ध्वंस होता है उन कार्यों की जीवों के अदृष्टानुरूप पुनः सृष्टि हो जाती है, लेकिन जब ब्रह्मा के सौ वर्ष पूरे हो जाने पर ईश्वरेच्छा से महाप्रलय हो जाता है, तब जिस प्रकार सुशुप्ति काल में अदृष्ट की सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है वैसे ही महाप्रलय काल में भी अदृष्ट अवरुद्ध हो जाता है। इसे अदृष्ट का असमानकाल कहा गया है। यद्यपि वह अपने अनुकूल कार्योत्पत्ति नहीं कर पाता। वह नहीं के ही बराबर रहता है। इसीलिए महाप्रलयकाल को अदृष्ट का असमानकालीन काल कहकर पट में अदृष्ट के असमानकालीन ध्वंस के प्रतियोगित्व की प्रतिज्ञा की गई है।

२. 'पटः अदृष्टासमानकालीन ध्वंसप्रतियोगी, भावकार्यत्वाद्, मुक्त्यव्यवहित-प्राक्कालीन ज्ञानवद्।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३६, पङ्क्ति ८से ९

इसी प्रकार-

१. बुद्धि अदृष्ट के असमानकालीन ध्वंस की प्रतियोगिनी है- (प्रतिज्ञा)

२. उसमें भावकार्यत्व होने से (हेतु)

३. मुक्त के अव्यवहित प्राक़्कालीन अदृष्ट-ध्वंस के प्रतियोगी अदृष्ट के समान (उदाहरण)

४. बुद्धि में भी भावकार्यत्व है (उपनय)

५. अतः वह अदृष्ट के असमान काल (महाप्रलय काल) में चिर काल तक के लिए विनष्ट हो जाती है।[1]

ऐसे ही,

१. सुख गन्ध के अनाधार समय (महाप्रलय काल) में वृत्ति ध्वंस का प्रतियोगी है- (प्रतिज्ञा)

२. वह जन्यगुण होने के कारण उसमें जन्य गुणत्व होने से (हेतु)

३. संस्कार के अजनक अनुभव के समान। अनुभव ज्ञानरूप होने से उसमें जन्य गुणत्व है, तथा महाप्रलयकाल में नष्ट होने वाला अनुभव संस्कारों को उत्पन्न नहीं कर पाता। इसके अतिरिक्त इस संस्कार के अजनक अनुभव का भी महाप्रलय काल में ध्वंस हो जाता है। संस्कार के अजनक अनुभव में जन्य गुणत्व के साथ ही गन्ध के अनाधार समय (महाप्रलय काल) में होने वाले ध्वंस का प्रतियोगित्व भी है।

४. इसी प्रकार सुख भी जन्य गुण होने से उसमें जन्यगुणत्व है।

५. अतः वह भी गन्ध के अनाधार समय (महाप्रलय काल) में होने वाले अपने ध्वंस का प्रतियोगी है, अर्थात् सुख का भी महाप्रलय काल में चिरस्थायी नाश हो जाता है-[2] (निगमन)

इसी तरह -

---

१. 'बुद्धिः, प्रागभावासमानकालीनध्वंसप्रतियोगिनी, जन्यगुणत्वात्। मुक्त्यव्यवहिप्राक्कालीनादृष्टवत्'।

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३६, पङ्क्ति १० से ११

२. 'सुखं, गन्धानाधारसमयवृत्तिध्वंस-प्रतियोगी, जन्यगुणत्वात्, संस्काराजनकानुभववद्।'

–भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३६, पङ्क्ति १२ से १३

१. एक कालीन समस्त परमाणु समग्र उपादेय (कार्य समूह) के आरम्भ रूप व्यवस्था से शून्य हो जाते हैं। पृथिवी, जल आदि चारों द्रव्यों के परमाणुओं में कार्य समूह को द्व्यणुकादि क्रम से उत्पन्न करने ही व्यवस्था, महाप्रलय काल में समस्त परमाणु अलग-अलग हो जाने से नष्ट हो जाती है। फलतः समस्त सृष्टि एक चिरस्थायी महाप्रलय रूप समय तक के लिए नष्ट हो जाती है- (प्रतिज्ञा)

२. परमाणु द्व्यणुकादि से लेकर घट पटादि कार्यों के मूल द्व्यणुकादि के आरम्भक होने के कारण उनमें आरम्भकत्व होने से- (हेतु)

३. जिनमें भी आरम्भकत्व (हेतु) होता है, वे महाप्रलय काल में अपने उपादेय के प्रबन्ध से शून्य हो जाते हैं। नष्ट पवनारम्भकत्व हेतु वाले नष्ट पवनारम्भक परमाणुओं के समान। महाप्रलय काल में नष्ट पवन के आरम्भक परमाणुओं में महाप्रलय काल में नष्ट होने वाले पवन का आरम्भकत्व हेतु है, तथा महाप्रलय काल में वे भी अपने उपादेय सम्पूर्ण पवन के आरम्भरूप व्यवस्था से शून्य हो जाते हैं अतः उनमें समग्र उपादेय-प्रबन्ध-शून्यत्व रूप साध्य भी है- (व्याप्ति सहित उदाहरण)

४. इसी तरह चारों अवयवियों के परमाणु उनके आरम्भक होने से उनमें आरम्भकत्व हेतु है- (उपनय)

५. अतः वे भी अपने उपदेय चारों अवयवियों के प्रारम्भ रूप व्यवस्था से शून्य हो जाते हैं। परिणामतः महाप्रलय काल में समग्र परमाणुओं के संयोग नष्ट हो जाने से निखिल-विश्व का नाश हो जाता है- (निगमन)[१]

इन उपर्युक्त अनुमानों के अतिरिक्त उदयनाचार्य द्वारा किए गए निम्नलिखित अनुमान से भी महाप्रलय की सिद्धि हो जाती है। अनुमान का स्वरूप इस प्रकार है-

१. दुःख-सन्तति (दुःख-प्रवाह) का अत्यन्त उच्छेद हो जाता है। यद्यपि दुःख-प्रवाह-सतत् कायम रहता है, अर्थात् एक तरफ उसकी उत्पत्ति

---

१. 'एककालीनाः सर्वे परमाणवः समग्रोपादेयप्रबन्धशून्याः, आरम्भकत्वाद्, नष्टपवनारम्भकत्वाद्, नष्टपवनारम्भकपरमाणुवद्।'

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३६, पङ्क्ति १४ से १५

तथा दूसरी तरफ नाश, यह प्रवाह निरन्तर चलता रहता है, लेकिन इस उत्पत्ति शील तथा विनाशशील दु:ख-प्रवाह का भी एक न एक समय अत्यन्त विनाश हो जाता है। जिस समय दु:ख-प्रवाह का अत्यन्त विनाश होता है, वही महाप्रलय है- (प्रतिज्ञा)

२. इस दु:ख प्रवाह में सन्ततित्व (प्रवाहत्व) होने से (हेतु)

३. प्रदीप-सन्तति के समान। जिनमें सन्ततित्व (प्रवाहत्व) होता है, उनका एक न एक समय में अत्यन्त नाश हो जाता है। जैसे प्रदीप के उत्पादक परमाणु प्रत्येक क्षण अलग-अलग प्रदीपों की सृष्टि करते हैं जिनमें कुछ उत्पन्न होते रहते हैं तो कुछ नष्ट भी होते रहते हैं। इस प्रकार उत्पत्तिशील तथा विनाश-शील प्रदीपों की एक सन्तति (प्रवाह) चलता रहता है तथा एक समय यह प्रवाह भी पूर्णरूपेण नष्ट हो जाता है। इसी तरह दीपक में प्रकाश की भी सन्तति चलती रहती है, लेकिन वह भी लम्बे समय के बाद नष्ट हो जाती है। इस प्रकार प्रकाश-सन्तति, जिसमें सन्ततित्व हेतु है, उसका अत्यन्त उच्छेद हो जाता है- (उदाहरण)

४. इसी तरह दु:ख-सन्तति में भी सन्ततित्व हेतु है- (उपनय)

५. अत: उसका भी अत्यन्त उच्छेद हो जाता है- (निगमन)

यह अत्यन्त उच्छेद जिस समय होता है, वही महाप्रलय है। इस प्रकार उदयनाचार्य द्वारा प्रदर्शित अनुमान से भी महाप्रलय की सिद्धि हो जाती है।[१]

भाट्टचिन्तामणिकार कृत महाप्रलय-निराकरण

नैयायिकों द्वारा खण्ड-प्रलय तथा महाप्रलय-साधक अनुमानों का निराकरण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि नैयायिकों ने खण्ड-प्रलय तथा महाप्रलय की सिद्धि के लिए जितने भी अनुमान उपस्थापित किए हैं वे सभी उपाधिग्रस्त होने से दूषित हैं। इनसे खण्ड-प्रलय तथा महाप्रलय का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। यद्यपि नैयायिकों द्वारा प्रदर्शित अनुमान से खण्ड-प्रलय की सिद्धि नहीं होती, तथापि, '**धाता यथा-पूवर्मकल्पयत्**'[२] इस वेदवाक्य से खण्ड-प्रलय की सिद्धि हो जाती है। धाता ने वैसी ही सृष्टि की

---

१. 'दु:खसन्ततिरत्यन्तमुच्छिद्यते सन्ततित्वात् प्रदीपसन्ततिवत् इत्याचार्योपदर्शितानुमानेन च महाप्रलयस्य च सिद्धेः। -भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३६, पङ्क्ति १६ से १७

२. महानारायणेपनिषद् ३।६। तैत्तिरीय आरण्यक १०/१/१४

जैसी पहले विद्यमान थी तथा पहले की सृष्टि भी उसके पूर्व की सृष्टि के ही समान थी। इस प्रकार एक तरफ सृष्टि तथा दूसरी तरफ नाश, इस उत्पत्ति तथा विनाश के अविरत-प्रवाह के प्रतिपादक खण्ड-प्रलय का अस्तित्व इस वेदवाक्य से प्रमाणित हो जाता है। परन्तु महाप्रलय का बोधक कोई वेदवाक्य नहीं है तथा नैयायिक-कृत अनुमान भी उपाधिग्रस्त होने से दूषित हैं अत: इन अनुमानों से भी महाप्रलय की सिद्धि नहीं होती।

नैयायिकों द्वारा उपस्थापित खण्ड-प्रलय तथा महाप्रलय-साधक अनुमानों का भाट्टचिन्तामणिकार क्रमशः खण्डन करते हुए कहते हैं कि- खण्डन-प्रलय-साधक-

'कालकपालान्यवृत्तिप्रागभाव कार्यद्रव्य के अनाधाररूप कार्याधिकरण-वृत्ति हैं, उसमें अभावत्व होने से, इस प्रथम अनुमान में 'अमूर्तमात्र-वृत्ति अभावत्व' उपाधि विद्यमान है।[१]

उपाधि साध्य की व्यापक तथा साधन की अव्यापक होती है। यहाँ कार्यद्व्यानाधारकार्याधिकरणवृत्तित्व साध्य है। जहाँ कार्यद्रव्यानाधार- कार्याधि-करणवृत्तित्व साध्य है, वहाँ अमूतृमात्रवृत्ति अभावत्व भी है-जैसे कि कार्य द्रव्य है घट, उसका अनाधार कार्य हुआ पट और पट के अधिकरण जैसे तन्तु हैं, वैसे ही पट किसी न किसी काल में ही विद्यमान होने से काल भी पट का अधिकरण हो जाता है। यहाँ कार्यद्रव्य घट के अनाधार-कार्य पट का अधिकरण हुआ काल और इस काल में भी घट का प्रागभाव विद्यमान है। काल में कार्यद्रव्यानाधार- कार्याधिकरण-घट-प्रागभाव का वृत्तित्व रूप साध्य है तथा काल अमूर्त होने से काल मे जो घट का प्रागभाव है उसमें अमूर्त-मात्रवृत्ति-अभावत्व भी है अत: उपाधि अमूर्त-मात्र-वृत्ति अभावत्व की अव्यापक भी है, क्योंकि जहाँ अभावत्व है, ऐसे कपालनिष्ठ घट-प्रागभाव में, कपाल मूर्त होने से अमूर्त-मात्रवृत्ति अभावत्व नहीं है अत: उपर्युक्त अनुमान 'अमूर्तमात्रवृत्ति अभावत्वरूप उपाधि से दूषित है।

खण्ड-प्रलय की सिद्धि करने के लिए नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित 'घट,

---

१. 'अत्र जैमिनीयाः- उक्तानुमानेन' धाता यथापूर्वमकल्पयदित्यादिमन्त्रलिङ्गे-नावान्तरप्रलयसिद्धावपि महाप्रलये नास्ति प्रमाणम्। उक्तानुमानानामुपाधिग्रस्तत्वात्। तथाहि। अमूर्त्तमात्रवृत्यभावत्वस्योपाधित्वात्।'

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३६, पङ्क्ति १९ से २२

कार्यद्रव्य के अनधिकरणरूपकार्य के अधिकरणवृत्ति ध्वंस का प्रतियोगी है, उसमें भावकार्यत्व होने से, इस द्वितीय अनुमान में अमूर्तमात्र-वृत्तिभावत्व-यह उपाधि विद्यमान है।

जहाँ कार्यद्रव्यानधिकरणकार्याधिकरणवृत्ति ध्वंस का प्रतियोगित्व है, वहाँ अमूर्तमात्रवृत्ति-भावत्व भी है। जैसे द्व्यणुक कार्यद्रव्य-घट के अनधिकरण कार्य-पट के अधिकरण काल में वृत्ति अपने ध्वंस का प्रतियोगी होने से द्व्यणुक में कार्य द्रव्यानधिकरणकार्याधिकरणवृत्तिध्वंस का प्रतियोगित्व रूप साध्य विद्यमान है तथा द्व्यणुक भाव कार्य एवं अमूर्त होने से उसमें अमूर्तमात्रवृत्ति भावत्व भी है। इस प्रकार अमूर्त-मात्र-वृत्तिभावत्व, साध्य का व्यापक हो जाता है, तथा साधन-भावकार्यत्व का अव्यापक भी है, क्योंकि घट में भावकार्यत्व होने पर भी अमूर्तमात्रवृत्तिभावत्व नहीं है अतः साध्य-व्यापक तथा साधना-व्यापक अमूर्तमात्रवृत्तिभावत्व उपाधि से खण्ड प्रलय-साध्यक द्वितीय अनुमान भी दूषित है।

इसी प्रकार पट, अदृष्ट-असमानकालीन ध्वंस का प्रतियोगी है, उसमें भावकार्यत्व होने से, इस महाप्रलय-साध्यक-अनुमान में भी अमूर्त मात्र-वृत्तिभावत्व-उपाधि विद्यमान है। मुक्तिकाल में ध्वंस के प्रतियोगी ज्ञान में अदृष्ट असमानकालीन ध्वंस का प्रतियोगित्व रूप साध्य है तथा ज्ञान अमूर्त एवं भाव कार्य होने से उसमें अमूर्त्तमात्रवृत्तिभावत्व भी है तथा जहाँ भावकार्यत्व है वहाँ अमूर्त्तमात्रवृत्ति-भावत्व नहीं है, जैसे कि घट में भावकार्यत्व होने पर भी अमूर्त्तमात्रवृत्तिभावत्व नहीं है, अतः उपाधिलक्षण से समन्वित अमूर्त्तमात्रवृत्ति-भावत्व उपाधि से यह अनुमान बाधित हो जाता है।

इसी तरह बुद्धि, प्रागभाव-असमानकालीन ध्वंस की प्रतियोगिनी है, उसमें भावकार्यत्व होने से, इस अनुमान में अमूर्त्तमात्र-वृत्ति भावत्व उपाधि है। नैयायिकों के दृष्टिकोण में भी महाप्रलयकाल का द्व्यणुक-ध्वंस प्रागभाव-असमकालीन होता है अतः द्व्यणुड में प्राकभाव असमकालीन ध्वंस का प्रतियोगित्व रूप साध्य है तथा अमूर्तमात्रवृत्तिभावत्व भी है अतः अमूर्त्तमात्रवृत्तिभावत्व उपाधि, साध्य की व्यापक तथा घटादि अनेक कार्यों में भाव-कार्यत्व होने पर भी अमूर्त्तमात्रवृत्तिभावत्व नहीं है अतः अमूर्त्तमात्रवृत्तिभावत्व साधन का अव्यापक भी है। इसलिए यह अनुमान भी उपाधि दोष से ग्रस्त है।[१]

---

१. 'एवं द्वितीयतृतीययोरमूर्त्तमात्रवृत्तिभावत्वमुपाधिः।'

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३६, पङ्क्ति २३ से २४

इन अनुमानों के समान 'समस्त परमाणु, समग्र उपादेय के प्रबन्ध से शून्य हैं। इनमें आरम्भकत्व होने से। इस अनुमान से जहाँ परमाणुओं में आरम्भकत्व हेतु से समग्र उपादेय की प्रबन्ध-शून्यता सिद्ध की जा रही है, वहीं इस अनुमान के साध्य के विपरीत साध्य की भी निम्नलिखित अनुमान से सिद्धि होती है।

एककालीन समस्त परमाणु समग्र उपादेय (कार्य जात) के (आरम्भ) रूप प्रबन्ध वाले हैं, इनमें प्रागभाववत्व होने से। समग्र कार्यजात का परमाणुओं में प्रागभाव होने से परमाणु प्रागभाववाले हैं इनमें प्रागभाववत्व है और जिनमें प्रागभाववत्व होता है, वे उपादेय के प्रबन्ध वाले होते हैं। जैसे कपाल में घट-प्रागभाव रहने से कपाल प्रागभाववान् हैं। उनमें प्रागभाववत्व हैतु है तथा वे घटरूप उपादेय के आरम्भ रूप प्रबन्ध वाले होने से इनमें उपादेय की प्रबन्धवत्ता भी है अतः महाप्रलय-साधक अनुमान में जहाँ आरम्भकत्व हेतु से परमाणुओं में उपादेय की प्रबन्ध-शून्यता सिद्ध की जा रही है, वहीं उक्त अनुमान में प्रागभाववत्व हेतु से परमाणुओं में उपादेय की प्रबन्धवत्ता की सिद्धि हो जाने से इस हेतु द्वारा महाप्रलय-साधक आरम्भकत्व हेतु में सत्-प्रतिपक्षत्व दोष हो जाने से इसके द्वारा महाप्रलय की सिद्धि नहीं की जा सकती।[1]

इसी प्रकार '**दुःखन्ततिः अन्यत्मुच्छिद्यते, सन्ततित्वात् प्रदीपसन्ततिवत्**' उदयनाचार्य के इस महाप्रलय-साधक अनुमानके निराकरणार्थ भाट्टचिन्तामणिकार का कहना है कि '**धाता यथापूर्वमकल्पयत्**'[2] इस श्रुतिवाक्य से इस अनुमान का विरोध हो जाता है, क्योंकि इस श्रुतिवाक्य के अनुसार संसार के सभी पदार्थों की उत्पत्ति तथा विनाश का क्रम सतत विद्यमान रहता है। ईश्वर वैसी ही सृष्टि करता है जैसे पूर्व में थी। अत्यन्त उच्छेद (महाप्रलय) इस श्रुतिवाक्य से बाधित हो जाने के कारण तथा श्रुति-प्रमाण सर्वश्रेष्ठ प्रमाण होने से श्रुतिविरोधी होने के कारण इस अनुमान द्वारा महाप्रलय की सिद्धि नहीं हो सकती।

इसी प्रकार कदाचित् पृथिवी, चन्द्र, सूर्य तथा ग्रहों से रहित हो भी जाए तो भी पौरव से शून्य कभी नहीं होगी'[3] इस हरिवंश रूप व्यास-स्मृति से भी

---

१. 'एवं महाप्रलयानुमाने उक्ताः परमाणवः, समग्रोपादेय-प्रबन्धवन्तः, प्रागभाववत्वात्, कपालवदिति सत्प्रतिपक्षः।' -भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३६, पङ्क्ति २४ से २६

२. महानारायणोनिषद् ३।६; तैत्तरीय आरण्यक १०।१।१४

३. 'अचन्द्रार्कग्रहा भूमिः कदाचित्तु भविष्यति।
अपौरवा तु पृथिवी कदापि न भविष्यति।।'
-हरिवंश -भाट्टचिन्तामणि में उद्धृत, पृ० ३६, पङ्क्ति २८ से २९

महाप्रलय-साधक अनुमान का विरोध है। यह व्यास-स्मृति भी अत्यन्त उत्च्छेद (महाप्रलय) का खण्डन करती है अतः श्रुति-स्मृति विरोधी होने से इस उदयनाचार्य-कृत अनुमान द्वारा भी महाप्रलय की सिद्धि नहीं होती। इस प्रकार नैयायिक-सम्मत महाप्रलय का खण्डन हो जाता है।[१]

७. ईश्वर-निरूपण

नैयायिकमत-निरूपण

नैयायिकों ने ईश्वर का अस्तित्व जगत्-कर्त्ता के रूप में माना है। जगत् के कर्त्ता के रूप में ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए उन्होंने निम्नलिखित-उपस्थापित किया है-

१. जन्य कृति (कर्तृत्व) से अजन्य द्व्यणुक सकर्तृक हैं - (प्रतिज्ञा)
२. इनमें कायेत्व होने से - (हेतु)
३. जो कार्य होते हैं, (जिनमें कार्यत्व होता है) वे सकर्तृक होते हैं जैसे घट कार्य होने से उसमें कार्यत्व है तथा कुम्हार इसका कर्त्ता होने से यह सकर्तृक भी है- (उदाहरण)
४. इसी प्रकार द्व्यणुक भी कार्य हैं - (उपनय)
५. अतः द्व्यणुक सकर्तृक हैं, अर्थात् इनका भी कोई न कोई कर्त्ता अवश्य है- (निगमन)

चूँकि द्व्यणुक जन्यकर्त्ता से अजन्य (निर्मित न) होने पर भी सकर्तृक हैं अतः उसके कर्त्ता के रूप में जन्य-मानव रूप कर्त्ता की अनुमिति बाधित हो जाने से अजन्य कर्त्ता के रूप में ईश्वर की सिद्धि हो जाती है।[२]

---

१. 'आचार्यनुमानं तु' धाता यथापूर्वमकल्पयदिति श्रुति-विरोधात्, 'अचन्द्रार्कग्रहाभूमि .... भविष्यति' इति हरिवंशरूपव्यासस्मृतिविरुद्धत्वात्,

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३६, पङ्क्ति २७ से ३०

२. 'जन्यकृत्यजन्यं द्व्यणुकं पक्षीकृत्य सकर्तृकं कार्यत्वादत्यिनुमानेन तत्सिद्धिरित्याहुः।

- भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३२, पङ्क्ति ३२ से ३३

क्षित्यादिकं सकर्त्रृकं कार्यत्वात्, घटवत्'

पृथिव्यादि-पदार्थ सकर्तृक हैं, कार्य होने के कारण। सकर्तृकत्व का अर्थ है कार्य के उपादान के प्रत्यक्ष-ज्ञान, कार्य करने की इच्छा एवं तत्कार्यानुकूल प्रत्यत्न से सम्पन्न पदार्थ से जन्य होना। जीवात्मा में इस तरह का कर्तृत्व बाधित है, अतः इस कर्त्ता के रूप में ईश्वर ही सिद्ध होता है।

-न्यायकुसुमाञ्जलि, पञ्चम स्तबक, पृ० १९८

'घटादि-कार्यं कर्तृजन्यं तथा क्षित्यङ्कुरादिकमपि।'

-न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली, पृ० १६, पङ्क्ति १

नैयायिककृत अनुमान-निराकरण

भाट्टचिन्तामणिकार का कहना है कि जिस प्रकार धर्म का ज्ञान केवल वेद द्वारा ही होता है, उसी प्रकार ईश्वर का अस्तित्व भी केवल वेद द्वारा ही सिद्ध होता है। अनुमान-प्रमाण से ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि सम्भव नहीं है।

इसके अतिरिक्त नैयायिकों द्वारा उपस्थापित अनुमान सत्प्रतिपक्षत्व दोष से ग्रस्त है। कारण यह है कि जिस प्रकार कार्यत्व हेतु से द्व्यणुक मे सकर्तृकत्व की सिद्धि की गई है, उसी प्रकार शरीराजन्यत्व हेतु से द्व्यणुक में निम्नलिखित अनुमान द्वारा अकर्तृत्व की भी सिद्धि हो जाती है-

१. द्व्यणुक अकर्तृक हैं (द्व्यणुक का कोई कर्त्ता नहीं है)- (प्रतिज्ञा)

२. उसमें शरीराजन्यत्व होने से (किसी शरीरधारी से निर्मित न होने से) - (हेतु)

३. जो शरीराजन्य (शरीर धारी से निर्मित नहीं) होते, वे अकर्तृक (कर्त्ता से उत्पन्न भी नहीं) होते। जैसे आकाश यह किसी शरीर-धारी से निर्मित न होने से उसमें शरीरजन्यत्व हेतु है तथा इसका कोई कर्त्ता न होने से उसमें साध्य अकर्तृकत्व भी है। (उदाहरण)

४. द्व्यणुक भी शरीराजन्य है - (उपनय)

५. अतः द्व्यणुक भी अकर्तृक हैं - (निगमन)

इस प्रकार 'शरीराजन्यत्व' हेतु से कार्यत्व हेतु सत्प्रतिपक्षत्वदोष से दूषित हो जाता है फलतः उससे द्व्यणुकर्त्ता के रूप में होने वाली ईश्वर की अनुमिति भी प्रतिबन्धित हो जाती है।[१]

इसके अतिरिक्त कार्यत्व हेतु जिस प्रकार सकर्तृकत्व का साधक है, उसी प्रकार यह अशरीरमात्रकर्तृत्वाभाव का भी साधक होने से इसमें साधारण अनैकान्तिकत्व दोष भी विद्यमान है अतः कार्यत्व हेतु सद्हेतु न होकर साधारणैकान्तिक हेत्वाभास है।

साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास पक्ष, सपक्ष तथा विपक्ष, तीनों में विद्यमान

---

१. 'तदापातरमणीयम्-धर्मवद्वेदमात्रगम्यत्वेन तदावेदकानुमानासम्भवात्। तथाहि। उक्तानुमानस्याकर्तृकत्वसाधाकेन शरीराजन्यत्वेन सत्प्रतिपक्षितत्वात्।

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३३, पङ्क्ति १ से ३

रहता है।[1] ऐसा नैयायिकों का कहना है। प्रकृत स्थल में कार्यत्व हेतु पक्ष-जन्यकृत्यजन्यद्व्यणुक में विद्यमान होने से पक्षवृत्ति, सकर्तृकत्व के अधिकरण घटादि में रहने से सपक्ष-वृत्ति तथा सकर्तृकत्व के अभाव रूप अशरीरकर्तृकत्वाभाव में भी विद्यमान होने से विपक्षवृत्ति भी है। अशरीरमात्रकर्तृकत्वाभाव का अर्थ शरीर मात्र कर्तृकत्व होता है जो घट पटादि में विद्यमान है। इसी प्रकार कार्यत्व हेतु भी उनमें विद्यमान है अतः कार्यत्व हेतु, साध्य सकर्तृकत्व के समान अशरीरमात्र-कर्तृकत्वाभाव (शरीर-मात्र-कर्तृकत्व) का भी साधक होने से साधारण अनेकान्तिकत्व दोष से ग्रस्त होने के कारण इसके द्वारा कर्त्ता के रूप में ईश्वर की अनुमिति असम्भव है। वेद ही ईश्वर के अस्तित्व में एकमात्र प्रमाण है।[2]

यद्यपि भाट्टचिन्तामणिकार ने नैयायिककृत ईश्वर-साधक अनुमान का खण्डन किया है, तथापि वेद द्वारा ज्ञात ईश्वर का अस्तित्व उन्हें भी मान्य है अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि नैयायिकों के ईश्वर-साधक अनुमान का खण्डन उन्होंने वेद-प्रामाण्य की अक्षुण्णता कायम रखने के उद्देश्य से ही किया है।

---

१. 'साध्यसंशयहेतुरनैकान्तिकः सव्यभिचार इति वा उच्यते। स द्विविधः- साधारणैकान्तिकः, असाधारणैकान्तिश्चेति। तत्र प्रथमः पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिः।'

-तर्कभाषा, पृ० ३९०, पङ्क्ति १ से २

२. 'कार्यत्व-हेतोश्चाशरीरमात्रकर्तृकत्वाभावसाधकतया साधारणानैकान्तिकत्वं च बोध्यम्। अतो वेद एवेश्वर-सिद्धौ प्रमाणं नान्यदिति दिक्।'

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० ३३, पङ्क्ति ९ से १०

चतुर्थ खण्ड

प्रकीर्ण विषय-विचार

१. अध्ययन-विधि-विचार

विषयोपस्थापना

मीमांसा-दर्शन का प्रधान लक्ष्य धर्म है, जिसका ज्ञान कराना ही मीमांसा-शास्त्र का प्रयोजन है। धर्म का ज्ञान वेदाध्ययन के अनन्तर धर्मविषयक-जिज्ञासा (विचार) करने पर ही सम्भव है। सूत्रकार जैमिनि ने '**अथाऽतोधर्मजिज्ञासा**'[१] इस सूत्र द्वारा इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है। इस धर्मविषयक-विचार (जिज्ञासा) के लिए आवश्यक वेदाध्ययन के विषयभूत ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद, ये तीनों वेद अनेक शाखाओं तथा उपशाखाओं से अत्यधिक विस्तृत हैं, इसलिए सम्पूर्ण वेदराशि का अध्ययन किसी भी व्यक्ति' के लिए सम्भव नहीं है। वेदाध्ययन ही सम्भव न हो पाने के कारण इसके अध्ययन पर आधारित धर्म-विचार की भी अनुपपत्ति न हो जाए, इसलिए '**स्वाध्यायोऽध्येतव्यः**'[२] यह अध्ययन-विधि तीनों वेदों की अनेक शाखाओं में, अपनी कुल परम्परा से प्राप्त किसी एक वेद की किसी एक शाखा के अध्ययन का ही विधान करती है।

---

१. अथाऽतो धर्मजिज्ञासा। -जैमिनि सूत्र १।१।१

इस सूत्र में कर्त्तव्य पद का अध्याहार तथा जिज्ञासा पद की विचार रूप-अर्थ में लक्षणा करने पर वेदाध्ययन के अनन्तर वेदाध्ययन जिसमें कारण है, धर्मज्ञान की इच्छा जिसकी प्रयोजक तथा धर्म का यथार्थ ज्ञान होना जिसका फल है, ऐसा विचार (धर्म विचार) करना चाहिए, यह सूत्रार्थ निष्पन्न होता है।

–द्रष्टव्य-भाट्टचिन्तामणि, पृ० १, पङ्क्ति १४–१६

धर्मज्ञान की इच्छा प्रयोजक तथा विचार उससे प्रयोज्य है। दोनों में प्रयोज्य प्रयोजकभाव-सम्बन्ध होने के कारण जिज्ञासा-पद की विचार अर्थ में ही लक्षणाा होती है।

२. शतपथ ब्राह्मण ११।५।७२; तैत्तिरीय आरण्यक २।१५

भाट्टचिन्तामणिकारमत-निरूपण

भाट्टचिन्तामणिकार के मतानुसार इस अध्ययन-विधि-बोधित भावना में कुल-परम्परा-प्राप्त किसी एक वेद की किसी एक शाखा का अध्ययन ही 'स्वाध्याय' पद का अर्थ है।[१] इस 'स्वाध्याय'-पद में भी 'स्वत्व' का तात्पर्य अपनी कुल-परम्परा-प्राप्त शाखा का अध्ययन तथा उसी के निर्देषानुसार अग्निहोत्रादि-कर्मों का अनुष्ठान करना है।[२]

प्रत्येक भावना में साध्य (भाव्य), साधन (करण) तथा इतिकर्त्तव्यता, इन तीनों अङ्गों की अपेक्षा होती है। प्रस्तुत अध्ययनविधिबोधित भावना में इनकी अपेक्षा होने पर ग्रन्थाकार के मतानुसार साध्याकाङ्क्षा (भाव्याकाङ्क्षा) होने पर भाव्यत्वेन या साध्यत्वेन अर्थज्ञान[३] का तथा करणाकाङ्क्षा होने पर करणत्वेन अध्ययन का इसमें अन्वय होता है।

साध्यत्वेन अर्थज्ञान का तथा करणत्वेन अध्ययन का अन्वय हो जाने पर जब भावना को **'कथं भावयेत्'** इस प्रकार इतिकर्त्तव्यता[४] की आकाङ्क्षा होती है, तब विचार ही इतिकर्त्तव्यता-रूप से उपस्थित होता है। अर्थज्ञान का तात्पर्य निर्णीत अर्थज्ञान है और यह निर्णीत अर्थज्ञान मात्र अध्ययन से सम्भव नहीं है, अपितु इसके लिए अध्ययन के साथ ही साथ विचार की भी आवश्यकता है। विचार-पूर्वक अधययन करने पर ही निर्णीत अर्थज्ञान की प्राप्ति होती है। इसलिए विचार में ही अध्ययनकरणिका, अर्थज्ञान-साध्यिका भावना में इतिकर्त्तव्यता रूप से अन्वित होने की योग्यता है अतः इतिकर्त्तव्यता रूप में 'विचार' का भावना में अन्वय हो जाता है[५] परिणामतः इस भावना का 'अर्थज्ञान-साध्यिका अध्ययनकरणिका विचार-इतिकर्त्तव्यताका भावना यह अर्थ निष्पन्न होता है।

---

१ 'अत्र स्वाध्यायत्वं स्वशाखात्वम्।' -भाट्टचिन्तामणि, पृ० २, पङ्क्ति २२

२. 'स्वत्वञ्च परम्परयाऽध्ययनविषयत्वमनुष्ठानविषयत्वञ्च।'
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २, पङ्क्ति २२ से २३

३. तथाहि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (शतपथ ब्रा० ११।५।७।२। तैत्तिरीय आरण्यक २।१५।) इत्यत्राध्ययनकरणकभावनायामर्थज्ञानभाव्यम्।
-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २, पङ्क्ति ५ से ६

४. 'कर्त्तव्यस्य इति प्रकारः इतिकर्त्तव्यं, तस्य भावः इतिकर्त्तव्यता'-कार्य के सम्पादन की जो शैली है, उसे इतिकर्त्तव्यता कहते हैं।

५. 'तत्रेतिकर्त्तव्यतापेक्षायां योग्यतया विचार इतिकर्त्तव्यतात्वेन सम्बध्यत इति विचार-कर्त्तव्यतासिद्धिः।' -भाट्टचिन्तामणि,पृ० २, पङ्क्ति २५ से २६

प्रभाकरमत-निरूपण

इस अध्ययनविधिबोधित भावना के विषय में गुरु प्रभाकर का कहना है कि अध्ययन-क्रिया सकर्मक है, अतः '**स्वाध्यायोऽध्येतव्यः**'[१] इस अध्ययनकरणिका भावना में समाविष्ट '**अध्येतव्यः**' पद में विद्यमान 'तव्य' प्रत्यय से स्वाध्याय की कर्मरूपता ज्ञात होती है फलतः स्वाध्याय को ही इस अध्ययनकरणिका भावना का भाव्य (फल) मानना उपयुक्त है।[२]

स्वाध्याय पुरुषार्थ न होने से सिद्धान्ती के द्वारा उसे भाव्य न माने जाने की सम्भावना भी उचित नहीं है, क्योंकि 'स्वाध्याय' से ही स्वर्गादिफल उत्पन्न करने वाले (यागदि) कर्मों का बोध होता है अतः स्वाध्याय की पुरुषार्थता सिद्ध हो जाने के कारण उसे भाव्य (फल) मानने में कोई हानि नहीं है।[३]

प्रभाकर-मत-निराकरण

उक्त प्रभाकर-मत का निराकरण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि '**स्वाध्यायोऽध्येतव्यः**'[४] इस अध्ययनकरणिका भावना में '**अध्ययेतव्यः**' पद में विद्यमान तव्य प्रत्यय स्वाध्याय के कर्मत्व का बोधक नहीं है, अपितु इसके द्वारा भावना के साथ अध्ययन के केवल सम्बन्ध का ही लक्षणा द्वारा बोध होता है। यह तव्य प्रत्यय केवल सम्बन्ध के बोधन में लाक्षणिक है। इस तव्य प्रत्यय के आधार पर स्वाध्याय को इस भावना का भाव्य (फल) नहीं माना जा सकता।

यदि तव्य प्रत्यय को कर्मार्थक मान भी लें तो भी इसे इप्सित कर्म का बोधक न मानकर अनीप्सित कर्म का ही बोधक मानना होगा। '**विषं भुनक्ति**' इस लौकिक तथा '**सक्तूञ्जुहोति**'[५] इस वैदिक स्थल में विद्यमान द्वितीया जिस प्रकार क्रमशः विष तथा सक्तु इन अनीप्सित-कर्मों की बोधक हैं, उसी प्रकार

---

१. शतपथ ब्राह्मण ११/५/७२; तैत्तिरीय आरण्यक २/१५।

२. 'अध्येतव्य इति तव्य-प्रत्ययेन स्वाध्यायस्य कर्मत्वावगमात् तस्यैव भाव्यत्वं युक्तम्। अध्ययनक्रियायास्सकर्मकत्वात्।' —तंत्ररहस्यम्, पृ० ७५, पङ्क्ति ११ से १२

३. 'न चापुरुषार्थतया तस्य भाव्यत्वानुपपतिः, फलवत्कर्मावबोधोपयोगित्वात्। —तंत्ररहस्य, पृ० ७५, पङ्क्ति १३ से १४

४. शतपथ ब्राह्मण ११।५।७२; तैत्तिरीय आरयक २।१५

५. तैत्तिरीय संहिता ३।३।८

तव्य प्रत्यय से भी पुरुषार्थ रहित होने से अनीप्सित कर्म के रूप में ही स्वाध्याय का बोध होगा अत: इस 'तव्य' प्रत्यय के आधार पर स्वाध्याय को अध्ययनकरणिका भावना का भाव्य (फल) मानना अनुचित होने से जिसकी पुरुषार्थता दृष्टरूप से सिद्ध है, ऐसे अर्थज्ञान को ही अध्ययनकरणिका भावना का भाव्य (फल) मानना उपयुक्त है।[१]

इस अध्ययन विधि से विहित अध्ययन से जिन्हें अर्थज्ञान है वे **'वसन्ते ब्राह्मण-मुपनयीत[२]-ग्रीष्मे राजन्यं[३] शरदि वैश्यं[४], अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत'[५]** इत्यादि वेदवाक्यों द्वारा ब्राह्मण-क्षत्रिय तथा वैश्य ये तीन ही वर्ण होने से याग के अधिकारी भी ये ही तीनों हैं। इस प्रकार इस विधि से यागाधिकार का भी नियम हो जाता है।[६]

२. ख्याति-विचार

किसी भी स्थान पर वस्तु विशेष का अभाव होने पर जब उसकी प्रतीति होने लगती है तो उसे भ्रम या विपर्यय कहते हैं। शुक्ति में रजत का तादात्म्य सम्बन्ध से अभाव होने पर भी **'इदं रजतम्'** इस प्रकार के ज्ञान में शुक्ति में रजत के तादात्म्य की तथा समवाय-सम्बन्ध से अवास्तविक रजतत्व की प्रतीति होना ही भ्रम या विपर्यय है।

इस भ्रम या विपर्यय के विषय में विभिन्न दर्शनों के जो सिद्धान्त हैं, वे आत्मख्याति, असत्ख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति तथा अनिर्वचनीयख्याति के

---

१. 'कर्मार्थकतव्यप्रत्ययस्तु सम्बन्धमात्रे लाक्षणिक:। विषं भुनक्ति, सक्तूञ्जू- होतीति-वदनीप्सितकर्मत्वपरोवा।' -भाट्टचिन्तामणि,पृ० २, पङ्क्ति १८ से १९

२. तै० ब्रा० १।१।२।६

३. वही १।१।२।७

४. वही, १।१।२।७

५. मीमांसा-न्यायप्रकाश, पृ० १०४ चौखम्बा-प्रकाशन-सार, विवेचनी व्याख्यासमन्वित

६. 'तेन अर्थज्ञानपर्यन्तं गुरुकुलवासो विचारकरणञ्चाध्ययनविधे: फलम्। क्रत्वधिकार-नियमाच्च। तथाहि। वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत ग्रीष्मे राज्यन्यं शरदि वेश्यमित्या-दिवाक्ये ब्राह्मणाद्यङ्गत्वेनोपनयनं विधीयते।
-भाट्टचिन्तामणि,पृ० ३, पङ्क्ति १९ से २२

नाम से प्रसिद्ध हैं।[१] इनमें निरालम्बनवादी (योगाचार-विज्ञानवादी) बौद्ध आत्मख्याति, माध्यमिक (शून्यवादी) बौद्ध असत् ख्याति, वेदान्ती अनिर्वचनीयख्यति तथा नैयायिक एवं भाट्ट मीमांसक अन्यथाख्याति (विपरीत-ख्याति) को मानते हैं। सभी दर्शनों ने इस विषय पर अपने-अपने ढङ्ग से विशद विचार किया है।

आत्मख्याति-विचार

बौद्ध दर्शन में वैभाषिक, सौत्रान्तिक, विज्ञानवादी (निरालम्बनवादी-योगाचारी) तथा माध्यमिक (शून्यवादी) ये चार सम्प्रदाय हैं। इनमें वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक बाह्य एवं आन्तर, दोनों प्रकार के ज्ञान-विषयों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं लेकिन विज्ञानवादी (योगाचार-निरालम्बनवादी) एवं माध्यमिक (शून्यवादी) बौद्धों को बाह्य पदार्थों का अस्तित्व मान्य नहीं है।

आत्मख्याति-निरालम्बनवाद की उपस्थापना

उपर्युक्त चारों बौद्ध-सम्प्रदायों में निरालम्बनवादी (विज्ञानवादी) माध्यमिकों के ही समान बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते लेकिन माध्यमिक बाह्य वस्तुओं के साथ ही साथ विज्ञान या आत्मरूपी आन्तर विषय की भी सत्ता नहीं मानते जब कि निरालम्बनवादियों को बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व मान्य न होने पर भी विज्ञान का अस्तित्व मान्य है। यही दोनों के सिद्धान्तों में अन्तर है। ये निरालम्बनवादी एकमात्र ज्ञानरूप आत्मा का अस्तित्व मानते हुए समस्त बाह्य अर्थों को इस ज्ञानरूप आत्मा का ही आकार विशेष मानते हैं। इसीलिए इनका यह सिद्धान्त दार्शनिक जगत् में आत्मख्याति के रूप में प्रसिद्ध है।

इनके द्वारा प्रतिपादित आत्मा, मीमांसा तथा न्याय शास्त्र में प्रतिपादित स्थायी, भोक्ता, तथा विशेष गुणों का आधार नहीं है, अपितु क्षणिक विज्ञान स्वरूप है। इस क्षणिक विज्ञान रूप आत्मा का प्रवाह जाग्रत अवस्था में प्रवृत्ति-विज्ञान धारा के रूप में तथा सुषुप्ति में आलय-विज्ञानधारा के रूप में निरन्तर चलता रहता है। इनके द्वारा प्रतिपादित आत्मा (विज्ञान) गुणादि का आलम्बन न होकर मात्र ज्ञानरूप होने के कारण इन्हें निरालम्बनवादी भी कहा जाता है।

इनके मतानुसार ज्ञान बाह्य (घटादि) विषयों का आलम्बन नहीं होता,

---

१. 'आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा।
तथाऽनिर्वनख्यातिरित्येतत् ख्यातिपञ्चकम्।'

अतएव मिथ्याभूत बाह्य पदार्थों (घटादि) को अवभासित करने वाला सविकल्पक ज्ञान 'प्रमा' नहीं है। सभी सविकल्पक ज्ञान मिथ्याभूत बाह्यवस्तुओं को प्रतिभासित करने वाले ज्ञान होते हैं, अतः कोई भी सविकल्पक ज्ञान प्रमात्मक ज्ञान नहीं होता। इसी तथ्य की सिद्धि निरालम्बनवादियों ने निम्नलिखित अनुमान प्रमाण द्वारा प्रदर्शित की है।

१. घटादि बाह्य पदार्थ-विषयक सभी सविकल्पक ज्ञान मिथ्याऽर्थ-विषयक ज्ञान हैं - (प्रतिज्ञा)

२. बाह्यार्थ-विषयक ज्ञान होने से (हेतु)[१]

३. स्वप्न-ज्ञान के समान (दृष्टान्त)

स्वप्नज्ञान में बाह्यार्थविषयक ज्ञानत्व हेतु विद्यमान है तथा घटादि बाह्य विषयों का स्वप्नावस्था में अस्तित्व असम्भव होने के कारण स्वप्नावस्था में प्रतीयमान घटादि-विषयक ज्ञान के ये घटादि बाह्य पदार्थ वास्तविक रूप में विषय नहीं होते-अपितु बाह्य घटादि के आकार से परिणत ज्ञान ही उसका विषय होता है। प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के विषय वे ही पदार्थ होते हैं जिनके साथ इन्द्रिय-संयोग द्वारा मनस्संयोग सम्भव हो। यदि स्वप्नावस्था में अनुभूय-मान घटादि-ज्ञान के विषय-स्वरूप घटादि को ज्ञान से अतिरिक्त माना जाए तो इनके साथ मन का सन्निकर्ष होना आवश्यक है, जो हो ही नहीं सकता क्योंकि मन का पदार्थों के साथ स्वतंत्र रूप से सन्निकर्ष नहीं होता, अपितु परम्परया इन्द्रियों के माध्यम से ही होता है। ऐसी स्थिति में इन्द्रिय-संयोग पर आधारित मन का इनके साथ संयोग कैसे हो सकता है? अतः स्वप्नावस्था में होने वाले घटादि-विषय ज्ञान के विषय घटादि बाह्य अर्थ नहीं होते अपितु ज्ञान-रूप आत्मा ही विषय होता है।

इसके अतिरिक्त स्वप्नावस्था में अपने ही शिरच्छेदादि का भी ज्ञान होता है जिसके विषय ज्ञाता के शिरच्छेदादि कभी हो ही नहीं सकते अतः इससे भी इसी तथ्य की सिद्धि होती है कि स्वप्नावस्था में होने वाले बाह्यार्थ-विषयक ज्ञान के विषय बाह्य पदार्थ न होकर ज्ञान रूप आत्मा ही उसका विषय है।[२]

---

१. अत्र निरालम्बनवादिनः। सर्वाणि बाह्यघटादिविषयकाणि सविकल्पकज्ञानानि मिथ्यार्थ-विषयकाणि, बाह्यार्थ-विषयकज्ञानत्वात्। स्वप्नप्रत्ययवत्।

-भाट्टचिन्तामणि १९३३ चौखम्बा-प्रकाशन, पृ० १९, पङ्क्ति ५ से ७

२. 'स्वप्नज्ञानानां हि बाह्यघटाद्याकारेण परिणतं ज्ञानमेव विषयो न घटादि, तदानीमभवात्। मनः प्रत्यासत्यभावात्। स्वशिरश्छेदादीनामसम्भवाच्च। अतस्तत्र ज्ञानरूपात्मैव विषयः।'

-भाट्टचिन्तामणि, १९३३ चौखम्बा-प्रकाशन, पृ० १९, पङ्क्ति ७ से ९

इसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में होने वाले (घटादि) बाह्यार्थ-विषयक-सविकल्पक ज्ञान में भी बाह्यार्थ-विषयकज्ञानत्व-हेतु विद्यमान होने से इनमें भी मिथ्याऽर्थ-विषयकत्व रूपी साध्य की अनुमिति हो जाती है अतः निरालम्बनवादियों के मत में कोई भी सविकल्पक ज्ञान 'प्रमा' नहीं है।[१]

आत्मख्याति-निराकरण

निरालम्बनवादियों के उक्त अनुमान का खण्डन करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि बाह्यार्थविषयक ज्ञानत्व हेतु से सविकल्पक ज्ञान में मिथ्यार्थ-विषयकत्व रूपी साध्य-साधक-अनुमान में दृष्टान्त-स्वप्नज्ञान में प्रतीयमान घटादि पदार्थों का ज्ञान-स्वरूप होना असिद्ध होने से दृष्टान्त ही असिद्ध हैं। यह अनुमान दृष्टान्तासिद्ध रूप दोष से ग्रस्त होने के कारण इसके द्वारा सविकल्पक ज्ञान में मिथ्यार्थ-विषयकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

स्वप्नज्ञान में बाह्य-विषयक-ज्ञानत्व-हेतु यद्यपि विद्यमान है यथापि स्वप्नज्ञान में घटादि बाह्य विषय मिथ्या नहीं है, अपितु वास्तविक हैं अतः उन ज्ञान-विषयों को विज्ञान या आत्मा का आकार नहीं कहा जा सकता। स्वप्नावस्था में प्रतीयमान घटादि बाह्य विषयों का अपने ज्ञान से अतिरिक्त रूप में जो अस्तित्व है, उसकी अविद्यमानता नहीं की जा सकती। जागृत्-अवस्था में अनुभूयमान सविकल्पक ज्ञान के विषयों तथा स्वप्नावस्था में प्रतीयमान सविकल्पज्ञान के विषयों में अन्तर केवल इतना ही है कि जागृत् अवस्था में होने वाले सविकल्पक ज्ञान के विषय उसी देश-काल में विद्यमान रहते हैं जबकि स्वप्नावस्था में होने वाले सविकल्पक ज्ञान के विषय उसी देश-काल के ही नहीं होते अपितु दिन में देखे गए विषयों का ही स्वपन में ज्ञान होता है अतः स्वप्नावस्था में होने वाले घटादि बाह्य-विषयक सविकल्पक ज्ञान के विषय घटादि भी मिथ्या नहीं है। इसलिए बाह्य-विषयक स्वप्नज्ञान में मिथ्यार्थविषयकत्व रूपी साध्य की सङ्गति नहीं हो पाती अतः स्वप्न-ज्ञान का दृष्टान्त असिद्ध होने के कारण यह अनुमान दृष्टान्तासिद्ध दोष से ग्रस्त है। फलतः इस अनुमान के आधार पर सविकल्पक ज्ञान में मिथ्यार्थ-विषयकत्व की सिद्धि न होने के

---

१. 'एवं सर्वज्ञानानामिति दृष्टान्तेन न किञ्चिदपि ज्ञानं प्रेमत्याहुः।'
—भाट्टचिन्तामणि १९३३, चौखम्बा-प्रकाशन, पृ० १९, पङ्क्ति ९ से १०

कारण सविकल्पक ज्ञान को प्रमा न मानने का निरालम्बनवादियों का सिद्धान्त स्वतः निरस्त हो जाता है।[१]

इसके अतिरिक्त यदि सविकल्पक ज्ञान के विषयों को बाह्य पदार्थ न मानकर आत्मरूप माना जाए तो 'यह नीला है' इस प्रकार के सविकल्पक ज्ञान से 'मैं नीला हूँ' इस प्रकार की प्रतीति होने लगेगी, जो कि सर्वथा अनुभवविरुद्ध है। कारण यह है कि 'यह नीला है' इस प्रकार के सविकल्पक ज्ञान से :यह नीला है' ऐसा ही अनुभव होता है, मैं नीला हूँ, ऐसा अनुभव नहीं होता अतः अनुभव द्वारा भी घटादि बाह्य पदार्थों का अस्तित्व सिद्ध हो जाने से उन्हें गोचर कराने वाले सविकल्पक ज्ञान के प्रमा होने में कोई बाधक न होने से सविकल्पक ज्ञान भी प्रमा है।[२]

असत् ख्याति-विचार

माध्यमिक (शून्यवादी) भी विज्ञानवादियों के ही समान बाह्यविषयों की सत्ता नहीं मानते। इसके अतिरिक्त इनके मत में विज्ञान की सत्ता भी पारमार्थिक रूप में मान्य नहीं है, अपितु व्यावहारिक काल में ही उसकी सत्ता मान्य है। पारमार्थिक रूप में मान्य नहीं है, पारमार्थिक रूप में किसी भी सत् पदार्थ की सत्ता इन्हें मान्य न होने से इनके सिद्धान्त को असत् ख्याति या शून्यवाद कहते हैं।

इनके मतानुसार ज्ञान के अतिरिक्त बाह्य रूप में किसी विषय का अस्तित्व नहीं होता, अपितु सभी विषय ज्ञान के ही आकार-विशेष होते हैं। ज्ञान के विषय ज्ञान स्वरूप ही हैं। जिस प्रकार स्वप्नावस्था में प्रतीयमान घटादि-ज्ञान के विषय (घटादि) स्वविषयक ज्ञान से अतिरिक्त न होकर ज्ञान-स्वरूप ही हैं अतएव मिथ्या, बाह्य-घटादि तथा नीलादि-विषयों के प्रतिभासक सविकल्पक

---

१. 'तन्न-स्वप्नप्रत्ययानामात्मविषयकत्वासिद्ध्या दृष्टान्तासिद्धेः।

-भाट्टचिन्तामणि, १९३३ चौखम्बा-प्रकाशन, पृ० १९, पङ्क्ति ११

२. 'किञ्च नीलोयमित्यादिसविकल्पकानामात्मविषयकत्वे नीलोहमित्याकारत्वापत्तिः । अत इदं बाह्यविषयकं बाधकाभावेन प्रमैवेति।'

-भाट्टचिन्तामणि, १९३३ चौखम्बा-प्रकाशन, पृ० १९, पङ्क्ति १२ से १३

ज्ञान प्रमा नहीं हैं।[१] विषयों को ज्ञान स्वरूप सिद्ध करने के लिए शून्य-वादियों ने निम्नलिखित अनुमान प्रदर्शित किया है-

१. विषय ज्ञानात्मक हैं (प्रतिज्ञा)

२. ज्ञान के साथ ही उपलभ्यमान होने से (हेतु)

३. ज्ञानत्व के समान (दृष्टान्त)

जिस प्रकार ज्ञानत्व, ज्ञान के साथ उपलभ्यमान होने से ज्ञानात्मक है।[२] उसी प्रकार बौद्धमत में ज्ञान-स्वरूप होने से ज्ञ्ज्ञन के साथ उपलभ्यमान होने से ज्ञानात्मक है।

भाट्टचिन्तामणिकार द्वारा शून्यवादिमत (असत्ख्यातिवाद) का निराकरण

शून्यवादियों द्वारा उपस्थापित सहोपलभ्यमानत्व हेतु से ज्ञान-विषयों के ज्ञानात्मकत्वसाधक अनुमान का खण्डन करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि नीलादि ज्ञान के विषय (नीलादि) के ज्ञानात्मक होने में कोई प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान के स्वविषयाकार (ज्ञान का जो आकार है वही विषय का आकार होने से विषयों का स्वाविषयक ज्ञान से अभेद़) होने में भी कोई प्रमाण नहीं है। केवल हेतु के आधार पर अप्रमाणित साध्य-(विषयों में ज्ञानात्मकत्व)-साधक यह अनुमान अप्रयोजक है।

इसके अतिरिक्त इस अनुमान में प्रयुक्त सहोपलभ्यमानत्व हेतु का साध्य (अभेद) के साथ अव्याप्ति रूप व्यभिचार होने से भी यह अनुमान दूषित है। कारण यह हे कि 'इमौ घटपटौ' (ये दो घट तथा पट हैं।)

इस प्रकार घट तथा पट, दोनों के समूहालम्बन-ज्ञान में सहोपलभ्यमानत्व (हेतु) विद्यमान होने पर भी घट तथा पट दूसरे से भिन्न होने के कारण इनमें साध्य-(अभेद) का अभाव है। इस स्थल में सहोपलभ्यमानत्व-हेतु की साध्य

---

१. 'शून्यवादी तु न ज्ञानातिरिक्तो बाह्यो विषयोऽस्ति, ज्ञानस्यैवाकारो विषयो ज्ञानस्वरूपात्मक एव, स्वप्नज्ञानवत्, तेन सविकल्पकं न प्रमा।'

-भाट्टचिन्तामणि, १९३३ चौखम्बा-प्रकाशन, पृ० १९, पङ्क्ति १४ से १६

२. 'नापि ज्ञानजन्यज्ञातातावत्वं तत् । भूतभविष्यतोस्तदसम्भवात् । तत्र मानाभावाच्च । अतो ज्ञानत्मकमेव तत्।'

-भाट्टचिन्तामणि तर्कपाद १९३३ चौखम्बा-प्रकाशन, पृ० २०, पङ्क्ति २ से ३

के साथ अव्याप्ति होने के कारण इस दूषित हेतु से ज्ञान तथा ज्ञान-विषयों के अभेद (तादात्म्य) की सिद्धि नहीं की जा सकती।[१]

इसी प्रकार यदि ज्ञानविषयों का ज्ञान के साथ अभेद (तादात्म्य) माना जाए तो **'ज्ञानाभाववानहम्'** (मैं ज्ञान के अभाव वाला हूँ।) इस ज्ञान में ज्ञान का अभाव जिसका विषय है, ऐसे ज्ञान में ज्ञान के अभाव को भी ज्ञानात्मक (ज्ञान से अभिन्न) मानना होगा, लेकिन ज्ञान के भावात्मक होने के कारण उसका ज्ञान-विषयक ज्ञानाभाव के साथ तादात्म्य कैसे हो सकता है? अतः ज्ञानाभावरूप विषय का स्वविषयकज्ञान के साथ अभेद असम्भव होने से ज्ञान-विषयों को ज्ञानात्मक नहीं माना जा सकता।[२]

इस पर शून्यवादियों का यह आक्षेप है कि ज्ञान-विषयों को ज्ञान से भिन्न मानने पर स्वप्नावस्था में इन ज्ञान-विषयों के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष न होने से इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष पर आधारित मन का भी इनके साथ सम्बन्ध नहीं होगा। फलतः इनका भान ही नहीं हो पाएगा अतः इन्हें स्वविषयक ज्ञान से पृथक् नहीं माना जा सकता।

शून्यवादियों के इस आक्षेप का निराकरण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि स्वप्न-ज्ञान के विषयों के साथ मन की ज्ञान लक्षणा-प्रत्यासत्ति मान लेने पर इस दोष का निराकरण हो जाता है। जागृद् अवस्था में घटादि बाह्य विषयों का अनुभव होने पर इनका मानसिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। अतीत में इनका जो ज्ञान हो चुका है, वही इनके साथ मन का सन्निकर्ष बन जाता है। इनके साथ मन का ज्ञानलक्षणारूप अलौकिक सन्निकर्ष मान लेने पर या फिर जिनका अस्तित्व निलीन (तिरोहित) हो गया है ऐसे (प्रमुष्टतत्ताक) विषयों का स्मरण मान लेने पर भी शून्यवादियों द्वारा उपस्थापित उक्त दोष का निराकरण हो जाता है।

इस प्रकार अनुभवसिद्ध बाह्य घटादि-विषयों का अपलाप असम्भव होने

---

१. 'तच्चिन्त्यम् । नीलादेर्ज्ञानात्मकत्वे ज्ञानस्य स्वविषयाकारत्वे मानाभावात् उक्तानुभानस्याप्रयोजकत्वात्। समूहालम्बने सहोपलभ्यमानयोर्घटपटयोरभेदाभावेन व्यभिचाराच्च।'

-भाट्टचिन्तामणि १९३३ चौखम्बा-प्रकाशन, पृ० २० पङ्क्ति ११ से १३

२. किञ्च न ज्ञानात्मको विषयः । ज्ञानाभावषियके ज्ञाने ज्ञानाभावस्य ज्ञानात्मकत्वासम्भवात्।' —वही, पृ० २०, पङ्क्ति १३ से १४

से इनके बोधक सविकल्पक ज्ञानों को मिथ्याज्ञान नहीं कहा जा सकता है। जागृद् अवस्था में होने वाले शुक्ति रजतादि ज्ञान तथा स्वप्नज्ञान के विषय, इन्द्रियदोष एवं निद्रादोषषादि से उत्पन्न होने से बाधित हो जाते हैं। इसीलिए ये भ्रमज्ञान कहे जाते हैं अतएव ज्ञानविषयों को ज्ञानात्मक मानने का शून्यवादियों का सिद्धान्त अनेक दोषों के कारण निराकृत हो जाता हैं। फलत: सविकल्पक ज्ञानों में प्रमात्व सिद्ध है।[१]

अख्याति-विचार

इस सम्बन्ध में प्रभाकर का मत उल्लेखनीय है। इनके अनुसार कोई भी ज्ञान असत्य या अप्रमाण नहीं होता। एक पदार्थ का किसी अन्य पदार्थ के रूप में भान कभी होता ही नहीं है, शुक्ति-रजत-स्थल में नैयायिकों तथा कुमारिल भट्ट द्वारा स्वीकृत अन्यथाख्याति का सिद्धान्त इन्हें मान्य नहीं है।

इनके मतानुसार शुक्तिरजतस्थल में शुक्ति तथा रजत ये दोनों परस्पर अत्यन्त-भिन्न होने से इनके संसर्ग का ग्रह शुक्ति-रजत में होने वाली प्रवृत्ति में कारण नहीं है, अपितु ' इदम्' इत्याकारक प्रत्यक्षात्मक अनुभव के साथ पूर्वानुभूत रजत की स्मृति होने पर इस स्मरण-ज्ञान के विषयभूत रजत एवं प्रत्यक्षात्मक इदमाकारक अनुभव की विषयभूत शुक्ति, इन दोनों के असंसर्ग का अग्रह अर्थात् ये दोनों परस्पर भिन्न ज्ञान के विषय हैं, इस प्रकार इनके भेद का ज्ञान (ख्याति) दोषवशात् न हो पाने के कारण ही शुक्ति रजत में प्रवृत्ति होती है। प्रभाकर का यह सिद्धान्त दार्शनिक जगत् में अख्यातिवाद के नाम से प्रसिद्ध है।[२]

शुक्ति का शुक्ति से (विपरीत) अन्यथारूप में ग्रहण रूप अन्यथाख्याति

---

१. 'न च बाह्यविषयेषु मनसस्तदानीमसम्बन्धात्कथं भानमिति वाच्यम्। ज्ञानलक्षणाया: प्रत्यासत्तेरङ्गीकारात् । प्रमुष्टतत्ताकस्मरणाङ्गीकाराद्वा न दोष अत: स्वप्नज्ञानानां बाह्य-विषयत्वं सिद्धम्। तेनानुभूयमानानां बाह्यार्थानामपालापासम्भवात्तद्विषकज्ञाने न मिथ्यात्वं, किंतु दुष्टकारणजन्यं बाधितमिति।'

–भाट्टचिन्तामणि १९३३ चौखम्बा-प्रकाशन, पृ० २० पङ्क्ति २७ से ३२

२. गुरवस्तु शुक्तिरजतज्ञानादौ न संसर्गग्रहो मानाभावात्। किंतु स्मरणानुभवविषययो रजतत्वशुत्त्क्ययोरसंसर्गाग्रहमात्रं नान्यथाख्याति: । किन्तु असंसर्गाग्रहरूपेयमख्याति:।

–वही पृ० २०, पङ्क्ति २२ से पृ० २१, पङ्क्ति २

द्वारा शुक्ति-रजत में प्रवृत्ति मानने वाले भाट्ट मीमांसकों तथा नैयायिकों के अन्यथाख्याति के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए गुरु प्रभाकर कहते हैं कि शुक्ति-रजत-स्थल में रजत के प्रति जो प्रवृत्ति तथा व्यवहार है, उसके प्रति अन्यथा-ख्याति को हेतु (कारण) नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसा मानने पर गौरव दोष हो जाता है।

'इदं रजतम्' इस भान में शुक्ति के वास्तविक रूप में विद्यमान होने से इसका संयोग रूप लौकिक सन्निकर्ष द्वारा चक्षु-इन्द्रिय से यद्यपि भान हो जाता है, तथापि रजत यह वास्तविक नहीं है, अतः अन्यथाखाति मानने के पक्ष में **'इदं रजतम्'** इस ज्ञान के शुक्ति अंश में 'लौकिक' तथा रजत अंश में 'अलौकिक' - इन दो सन्निकर्षों की कल्पना से गौरवदोष हो जाता है।

इसके विपरीत शुक्ति एवं रजत के भेद को विदित न करने वाले (असंसर्गाविषयक-प्रकारक) ज्ञान को ही प्रवृत्ति तथा व्यवहार में हेतु (कारण) मानने में लाघव है।[१]

कहने का अभिप्राय यह है कि यदि शुक्ति तथा रजत के परस्पर भिन्न ज्ञान के विषय होने का विवेक (भेद ज्ञान) हो जाए तो शुक्ति में अवभासित रजत के प्रति प्रवृत्ति नहीं होगी। जिस ज्ञान का विषय (भेद) असंसर्ग नहीं है, ऐसे (असंसर्ग-अविषयक-प्रकारक) अविवेक ज्ञान को ही शुक्ति में प्रतीयमान रजत के प्रति होने वाली प्रवृत्ति में कारण मानने में लाघव है। अतः अन्यथाख्याति मानना उचित नहीं है।

अख्याति-निराकरण

प्रभाकर द्वारा प्रतिपादित अख्यातिवाद का खण्डन करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि शुक्ति-रजतस्थल में रजत-विषयक-प्रवृत्ति तथा व्यवहार के प्रति अन्यथाख्याति की हेतुता (कारणता) मानने की अपेक्षा असंसर्ग-(भेद) अविषयक-तत्प्रकारक ज्ञान की हेतुता (कारणता) मानने में लाघव रूप प्रभाकर का सिद्धान्त उपयुक्त नहीं है, क्योंकि शुक्ति तथा रजत के (भेद) असंसर्ग-अविषयक ज्ञान की शुक्ति-रजत में होने वाली प्रवृत्ति के प्रति कारणता रजतत्व-प्रकारक शुक्तिज्ञान होने पर ही सम्भव हो सकेगी। इसलिए **'इदं शुक्तौ**

---

१. 'एवञ्चासंसर्गाविषयकतत्प्रकारकज्ञानस्य प्रवृत्तौ व्यवहारे च हेतुत्वाददतिलाघवमित्याहुः।'
-भाट्टचिन्तामणि १९३३ चौखम्बा-प्रकाशन, पृ० २१ पङ्क्ति २ से ३

रजतम्' इस ज्ञान में असंसर्ग-अविषयकत्व तथा रजतत्व-प्रकारकत्व दोनों विशेषण होने से इनमें परस्पर विशेषण-विशेष्य-भाव में कोई विनिगमक (विशेष युक्ति) न होने के कारण दोनों को क्रमशः एक दूसरे का विशेषण (कारण) तथा विशेष्य (कार्य) मानना पड़ेगा। फलतः दो कार्यकारण-भावों की कल्पना से गौरवदोष हो जाएगा।[१]

दूसरी बात यह है कि गुरुमत में ('**इदं मम कार्यम्**' यह मुझे करना चाहिए ऐसा) कार्यताज्ञान होने पर ही प्रवृत्ति होती है, इसलिए शुक्ति-रजतस्थल में कार्यता का भ्रम होने पर उत्पन्न होने वाली प्रवृत्ति के प्रति असंसर्गा-विषयकत्व के अतिरिक्त कार्यत्व-प्रकारकत्व की भी कारणता माननी पडेगी। साथ ही इनके परस्पर विशेषण-भाव के प्रतिपादन करने में कोई विशेष युक्ति न होने से दोनों को क्रमशः एक दूसरे का विशेषण (कारण तथा विशेष्य (कार्य) मानना होगा फलतः यहाँ भी दो कार्यकारण-भावों की कल्पना से गौरवदोष हो जाएगा।[२]

इसके अतिरिक्त भ्रमस्थल '**शुक्तौ इदं रजतम्**' में इदंत्व में जो रजतत्व का ज्ञान हो रहा है, उसके प्रति अप्रामाण्य के अभाव से विशिष्ट कार्यत्व-प्रकारक ज्ञान की कारणता होने से वास्तविक-रजतस्थल में (इदं प्रातिभासिकं रजतं)' यह प्रातिभासिक रजत है; इस प्रकार का भ्रमरूप अप्रामाण्य का ज्ञान होने पर अप्रमात्व के असंसर्ग (भेद) को विषय-भूत न करने वाले कार्यत्व-प्रकारक ज्ञान के अप्रमाण्य-रूप भ्रामक ज्ञान से निवृत्ति-रूप कार्य उत्पन्न होता है और इस कार्य के प्रति 'अप्रमात्व असंसर्ग-अविषकत्व-कार्यत्वप्रकारक ज्ञान की कारणता होती है जिसमें विद्यमान अप्रमात्व-असंसर्ग-अविषयकत्व तथा कार्यत्व प्रकारकत्व, इन दोनों के परस्पर विशेषण-विशेष्य-भावों में कोई विनिगमक (विशेष युक्ति) न होने से कार्यत्वप्रकारकत्व तथा अप्रमात्व असंसर्ग-अविषकत्व, इन दोनों को परस्पर एक दूसरे का विशेषण (कारण) तथा विशेष्य (कार्य)

---

१. 'तन्न-असंसर्गाविषयकत्वरजतत्वप्रकारकत्वयोर्ज्ञानविशेषणयोर्विशेषणविशेष्य-भावे विनिगमकाभावेन कार्यकारणभावद्वयकल्यना-गौरवात्।'

–भाट्टचिन्तामणि १९३३ चौखम्बा-प्रकाशन, पृ० २१, पङ्क्ति ४ से ६

२. 'एवं सामान्यतः प्रवृत्तौ कार्यताज्ञानस्य हेतुत्त्वे यत्र कार्यताभ्रमात्प्रवृत्ति-स्तत्रा-संसर्गाविषयकत्व-कार्यत्व-प्रकारकयोर्विशेषणविशेष्यभावे विनिगमनाविरहेण हेतुहेतुमद्भावद्वयकल्पनम्।'

–भाट्टचिन्तामणि १९३३ चौखम्बा-प्रकाशन, पृ० २१, पङ्क्ति ६ से ८

मानना होगा। फलतः इस स्थल में भी दो कार्यकारण भावों की कल्पना से गौरव-दोष हो जाता है। इसलिए शुक्तिरजतादि-भ्रमस्थल में रजतादि के प्रति होने वाली प्रवृत्ति के असंसर्ग (भेद) की अग्रहरूप 'अख्याति' की कारणता मानना उपयुक्त नहीं है।[१]

अनिर्वचनीय ख्याति (विवर्त्तवाद-निरूपण)

अद्वैत वेदान्त-मत में परमार्थिक रूप मे सत् स्वरूप ब्रह्म के अतिरिक्त किसी भी वस्तु का अस्तित्व मान्य नहीं है। इनके मतानुसार जिस प्रकार स्वप्न में बाह्य पदार्थों का अस्तित्व न होने पर भी अविद्या के कारण उनकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार सत् स्वरूप ब्रह्म के अतिरिक्त (मूला) अविद्या रूप उपाधि के कारण ही उसकी प्रतीति होती है। समस्त प्रपञ्च अविद्योपाधिक होने से अविद्यारूप है। इसलिए वह पारमार्थिक रूप में सत्य न होने के कारण अपारमार्थिक है।[२] इस अविद्यारूप प्रपञ्च की व्यावहारिक काल में प्रतीति होने से इसे असद् तथा ब्रह्मज्ञान होने पर इसका बाध हो जाने से इसे सद् भी नहीं कहा जा सकता। अविद्या रूप इस समस्त प्रपञ्च को सद् तथा असद् दोनों कोटियों से विलक्षण अनिर्वचनीय माना गया है। इसी प्रकार अवास्तविक जगत् का ब्रह्म में अध्यास होने से जगत् को अद्वैत-वेदान्तियों ने ब्रह्म का विवर्त्त माना है। अतः यह सिद्धान्त विवर्त्तवाद कहा जाता है।

अद्वैत-वेदान्तियों ने प्रतिभासिक, व्यावहारिक तथा पारमार्थिक, इस भेद से तीन प्रकार की सत्ता मानी है। इनके मत में पारमार्थिक रूप में तीनों कालों में अबाधित केवल सत् स्वरूप ब्रह्म का ही वास्तविक अस्तित्व होता है। इसके अतिरिक्त व्यावहारिक रूप में तथा प्रातिभासिक रूप में प्रतीयमान दोनों ही पदार्थ अवास्तविक हैं। दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ व्यावहारिक

---

१. 'एवमप्रामाण्याज्ञानभावविशष्टिकार्यत्वप्रकारकज्ञानस्य हेतुत्वेन यत्राप्रमाण्य- ग्रहो भ्रमरूपस्तत्राप्रमात्वासंसर्गाविषयकत्व-कार्यत्व प्रकारकत्वयोविशेषण-र्विशेष्य-भावे विनिमनाविरहेण हेतुहेतुमद्‌भावद्वयकल्पनेऽति-गौरवापत्तिः। अतो ज्ञासंसर्गाग्रहस्य प्रवृत्तिव्यवहारदिहेतुत्वानुपपत्तेर्नाख्यातिसम्भवः।'

-भाट्टचिन्तामणि, पृ० २१, पङ्क्ति ८ से १३

२. 'चिदेकरसस्य च ब्रह्मणो जडरूपेण परिणामोऽनेकत्वं च न वास्तवं, कित्वविद्योपाधिकं, स्वप्नप्रपंचवत् ।'

-भाट्टचिन्तामणि १९३३ चौखम्बा-प्रकाशन, पृ० ३७, पङ्क्ति ७ से ८

रूप में प्रतीयमान समस्त-प्रपञ्च का ब्रह्मज्ञान होने पर ही बाध होता है, वहाँ शुक्ति आदि में प्रतीयमान रजतादि पदार्थों का व्यावहारिक काल में ही बाध हो जाता है। ब्रह्म से भिन्न समस्त जगत् ब्रह्म का विवर्त्त होने से अपारमार्थिक तथा अविद्योपाधिक अविद्या रूप होने से सद् तथा असद् दोनों से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है।[१]

अद्वैत वेदान्तियों द्वारा समस्त जगद्रूप प्रपञ्च को अपारमार्थिक (मिथ्या) मानने के सिद्धान्त का खण्डन करते हुऐ भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि यदि समस्त जगत् अपारमार्थिक (अवास्तविक) माना जाए तो अपारमार्थिक क्या वस्तु है? इस प्रश्न के उपस्थित होने पर यदि जगत् को मिथ्या बताकर मिथ्यात्व को ही अपारमार्थिकत्व मानें तो फिर मिथ्यात्व क्या है यह प्रश्न पुनः उपस्थित हो जाता है जिसका किसी भी प्रकार से समाधान सम्भव नहीं है।

यदि वेदान्ती 'खरगोश के सीङ्ग' के समान सर्वथा असत् होना ही मिथ्यात्व मानें तो यह भी सम्भव नहीं है। कारण यह है कि सभी जागतिक प्रपञ्च अबाधित (वास्तविक) प्रत्यक्षादि-प्रमाणों के विषय होने से इन्हें सर्वथा असद् रूप में मिथ्या नहीं माना जा सकता।[२]

इस पर अद्वैत-वेदान्ती कहते है कि ज्ञान से बाधित होना ही मिथ्यात्व है। **'नेह नानास्ति किञ्चन'**[३] यह श्रुति समस्त विश्व-प्रपञ्च को मिथ्या निरूपण करने के लिए प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त मिथ्यात्व का दूसरा लक्षण 'अज्ञानजन्यत्व अज्ञान से उत्पन्न होना है।' शुक्ति का अज्ञान होने से उसमें अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति के समान निष्प्रपञ्च ब्रह्म के अज्ञान के कारण उसमें अनिर्वचनीय अविद्या से उत्पन्न होने वाले जगद्रूप प्रपञ्च में इस लक्षण से मिथ्यात्व की सिद्धि हो जाती है।

वेदान्तियों के उक्त दोनों लक्षणों का क्रमशः खण्डन करते हुए भाट्टचिन्ता-

---

१. 'प्रपञ्चोऽविद्योपाधिकोऽपारमार्थिकः । अतएव सदसद्विलक्षण इत्याहुः ।।'
-भाट्टचिन्तामणि १९३३ चौखम्बा-प्रकाशन, पृ० ३७, पङ्क्ति १२ से १३

२. 'तत्र किमिदमपारमार्थिकत्वं मिथ्यात्वमिति चेत्, किमिदं मिथ्यात्वम् । नतावच्छशशृङ्गादिवदत्यन्तासत्वन्तत् । अबाधितप्रत्यक्षादिविषयप्रपञ्चे तदभावात्।'
-भाट्टचिन्तामणि १९३३ चौखम्बा-प्रकाशन, पृ० ३७, पङ्क्ति १४ से १७

३. कठोपनिषद् २।१।११; बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।१९

मणिकार कहते हैं कि नाना रूप में अनुभूयमान जगत् का ज्ञान से बाध होना असम्भव है अतः ज्ञान से बधित होना मिथ्यात्व का लक्षण नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार सार्वजनीन प्रत्यक्षादि अनुभव से जिसका अस्तित्व सिद्ध है, ऐसे जगत् को अज्ञान से उत्पन्न मानने में भी कोई ठोस (अबाधित) प्रमाण नहीं है। इस प्रकार मिथ्यात्व का निर्वचन ही असम्भव होने से जगद्रूप प्रपञ्च को मिथ्या नहीं माना जा सकता।[१] यदि जगद् रूप प्रपञ्च के मिथ्या होने में **'नेह नानास्ति किञ्चन[२]'** इस श्रुति को वेदान्ती प्रमाण मानें तो भी यह सम्भव नहीं हैं इसका कारण यह है कि यदि जगत् को मिथ्या माना जाए तो वेदों का भी इस जगत् में ही अन्तर्भाव होने से उन्हें भी मिथ्या मानना पड़ेगा। फलस्वरूप जब वेद ही मिथ्या हों तो फिर उनसें अनुभव-सिद्ध जगत् के मिथ्यात्व की सिद्धि कैसे हो सकेगी?

इसके अतिरिक्त **'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्'**[३] इत्यादि वाक्यों द्वारा वेद याग एवं स्वर्ग के साध्य-साधन-भाव के भी बोधक होते हैं। देवता के उद्देश्य से द्रव्य-त्याग करना ही त्याग का स्वरूप है अतः यदि उक्त श्रुति के आधार पर जगत् को मिथ्या मान लिया जाए तो व्रीहि, यव, आदि द्रव्य जागतिक पदार्थ होने से इन्हें भी मिथ्या मानना होगा फलतः इनसे निष्पन्न होने वाले याग तथा उससे प्राप्त होने वाले फल (स्वर्गादि) के श्रुति-प्रतिपादित साध्य-साधनभाव में भी मिथ्यात्व का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा।

यदि इस पर अद्वैत-वेदान्तियों को ज्ञान की ही श्रेष्ठता मान्य होने से कर्मकाण्ड के प्रतिपादक याग तथा याग-फल के साध्यसाधन-भाव में मिथ्यात्व होना इष्ट है, ऐसा वे कहें तो यह भी सम्भव नहीं है। कारण यह है कि श्रुति द्वारा प्रतिपादित याग एवं स्वर्ग के साध्य-साधन-भाव में मिथ्यात्व मानने पर उन्हें अभिमत ब्रह्मज्ञान भी श्रुति द्वारा ही प्रतिपादित होने से उसमें भी मिथ्यात्व

---

१. 'नापि ज्ञानबाध्यत्वमज्ञानजन्यत्वं वा। घटादेर्ज्ञानबाध्यत्वाभावादज्ञानस्य जनकत्वे बाधितमानाभावेनाज्ञानजन्यत्वासम्भवाच्च।'

—भाट्टचिन्तामणि १९३३ चौखम्बा-प्रकाशन, पृ० ३७, पङ्क्ति १८ से १९

२. कठोपनिषद् २/१/११; बृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/१९

३. शतपथ ब्राह्मण २/६/४/१७

का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा। अतः श्रुतिवाक्य से जगत् में मिथ्यात्व सिद्ध नहीं किया जा सकता।[१]

यदि अद्वेत-वेदान्ती अनिर्वाच्यत्व या अनिर्वचीनयत्व को ही मिथ्यात्व मानें तो यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि लोक में जितने भी पदार्थ हैं, वे सभी (अभिधेय) निर्वचनीय हैं अतः निर्वचनीय जागतिक प्रपञ्च को अनिर्वचनीय रूप में मिथ्या नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त इस जगद्रूप प्रपञ्च का श्रुति द्वारा भी निर्वचन होता है। अतएव जागतिक प्रपञ्च मे अनिर्वचनीयत्व रूप मिथ्यात्व का अभाव श्रुति सिद्ध होने पर भी यदि इसमें मिथ्यात्व माना जाए तो श्रुति विरुद्ध होने से इस मिथ्यात्व में भी मिथ्यात्व हो जाता है। इस प्रकार जागतिक प्रपञ्च के श्रुतिविरुद्ध मिथ्यात्व में मिथ्यात्व सिद्ध हो जाने से नाना रूपात्मक अनुभव-सिद्ध जगत् में अमिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है अतः जगत् स्वप्न के समान अलीक नहीं है, अपितु वास्तविक है।[२]

अन्यथा-ख्याति-निरूपण

नैयायिकों के अनुरूप भाट्टचिन्तामणिकाार को भी शुक्ति रजतादि भ्रम ज्ञानों में अन्यथा-ख्याति ही अभिमत है। किसी एक वस्तु का जिस रूप में वह वस्तु वास्तविकता में विद्यमान रहती है, उससे अन्य वस्तु के रूप में उसका ज्ञान होना अन्यथा-ख्याति है। इसे ही मीमांसकों ने विपरीत ख्याति कहा है। **'इदं रजतम्'** इस ज्ञान में रजतत्व-विशिष्ट (रजतत्व-प्रकारक) शुक्ति का ज्ञान होना विपरीत ज्ञान है। कारण यह है कि रजतत्व जाति रजत में ही रहती है। इसी प्रकार शुक्ति में भी केवल शुक्तित्व जाति ही विद्यमान रहती है। वास्तविकता में शुक्ति में रजत का विशेषण रूप में भान कदापि सम्भव नहीं है अतः शुक्ति

---

१. न त्वागमेन तद्बोधः। मिथ्याभूतप्रपञ्चान्तर्गतागमेन प्रत्यक्षदृष्टप्रपञ्चे मिथ्यात्वबोधा-सम्भवात्। अन्यथा वेदबोध्ययागस्वर्गसाध्यसाधनभावज्ञानेन ब्रह्मज्ञाने मिथ्यात्वबोधापत्तिः। आगमजन्यत्वाविशेषात्।

—भाट्टचिन्तामणि १९३३ चौखम्बा-प्रकाशन, पृ० ३८, पङ्क्ति २० से २३

२. नाप्यनिर्वाच्यत्वं तत्। अनिर्वाच्यपदार्थस्य लोकेऽसम्भवात् प्रपञ्चस्यापि निर्वचनीयत्वेनानिर्वचनीयत्वाभावाच्च। किञ्चैवं श्रुतिबोध्यप्रपञ्चमिथ्यात्वेपि मिथ्यात्वप्रङ्गः। तदङ्गीकारे सिद्धं प्रपञ्चस्यामिथ्यात्वमिति दिक्।'

—वही, पृ० ३७, पङ्क्ति २४ से २७

में रजत का विशेषण रूप में होने वाला ज्ञान अन्यथाख्यातिरूप भ्रमात्मक ज्ञान है। इसीलिए इन्द्रिय-दोष, अल्प-प्रकाश, चाकचिक्यादि सामग्री के कारण शुक्तित्व धर्म से युक्त शुक्ति का अपने वास्तविक रूप से भिन्न रजतत्व धर्म से विशिष्ट रूप में अन्यथाख्याति रूप भ्रामक ज्ञान होने से ही शुक्ति में प्रतीयमान भ्रान्त रजत के प्रति पुरुष की प्रवृत्ति तथा व्यवहार होने लगते हैं। इसी प्रकार शुक्ति रजत के समान सर्वत्र भ्रम में होने वाली प्रवृत्ति के प्रति अन्यथाख्याति को ही कारण मानना समीचीन है।[१]

शब्दनित्यता-विचार

दार्शनिक जगत् में शब्द की नित्यता तथा अनित्यता को लेकर परस्पर पर्याप्त मतभेद है। भाट्टमीमांसक तथा वैयाकरण शब्द, शब्दार्थ तथा उनका सम्बन्ध, इन तीनों को नित्य मानते हैं।[२] इसके विपरीत न्यायमत में शब्द आकाश का गुण होने से उसे अनित्य माना गया है।[३]

नैयायिकमत-निरूपण

भाट्टमीमांसकों के शब्द-नित्यतावाद का खण्डन करते हुए नैयायिक कहते हैं कि शब्द (पद) अनित्यवर्णों का संघात है। शब्द के घटक वर्ण ही जब अनित्य हैं तब उनसे घटित शब्द (पद) नित्य कैसे हो सकते है? वर्णों की अनित्यता सिद्ध करने हेतु नैयायिकों ने निम्नलिखित अनुमान उपस्थापित किया है-

१. वर्ण अनित्य हैं।
२. क्योंकि ये प्रयत्न से (अनभिव्यङ्ग्य) अभिव्यङ्य न होने के कारण प्रयत्न के पश्चात् उपलब्ध होते हैं।

---

१. तेनान्यथाख्यातिरूपरजतत्वविशिष्टज्ञानस्यैव ग्रहे प्रवृत्त्यादिहेतुता युक्तेति।'
—भाट्टचिन्तामणि १९३३ चौखम्बा-प्रकाशन, पृ० २१, पङ्क्ति १३ से १४

२. नित्या शब्दार्थसम्बन्धाः तत्राम्नाता महर्षिभिः। सूत्राणामनुतन्त्रणां भाष्याणाञ्च प्रणेत्रिभिः।।
—वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड कारिका - २३

३. 'शब्दो ध्वनिश्च वर्णश्च मृदङ्गादिभवोध्वनिः।
कण्ठसंयोगादिजन्या वर्णास्ते कादयो मतः।।
सर्वशब्दो नभोवृत्तिः श्रोत्रोत्पन्नस्तु गृह्यते।।'
—न्या०सि०मुक्तावली कारिका १६४ से १६५, पृ० ४९८

३. जो पदार्थ प्रयत्न से अनभिव्यङ्ग्य होते हैं, वे प्रयत्न के पश्चात् उपलब्ध होते हैं। जैसे घट प्रयत्न से अनभिव्यङ्ग्य है अतः वह कुम्हार द्वारा प्रयत्न करने के पश्चात् उपलब्ध होता है तथा यह अनित्य है।

४. वर्ण भी घट के ही समान प्रयत्नानभिव्यङ्ग्य होने के कारण प्रयत्न के पश्चात् उपलब्ध होते हैं।

५. अतः वर्ण भी अनित्य हैं।

इस प्रकार इस अनुमान से वर्ण अनित्य हैं, इस तथ्य की सिद्धि हो जाती है।[१] सिद्धान्त पक्ष की यह आशङ्का है कि 'यह वही गकार है (**स एवायं गकारः**) इस प्रयत्न रूप प्रत्यभिज्ञा के आधार पर वर्णों में अभिव्यङ्ग्यत्व की कल्पना होती है जो बिना वर्णों को नित्य माने सम्भव नहीं हो सकती अतः इस प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष से वर्णों की नित्यता सिद्ध हो जाती है।

पूर्वपक्षी नैयायिक सिद्धान्तपक्ष के इस कथन का खण्डन करते हैं कि '**स एवायं गकारः**' (यह वही गकार है।) इस प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष के आधार पर वर्णों को नित्य मानना सम्भव नहीं है। कारण यह है कि 'गकार उत्पन्न हुआ तथा गकार विनष्ट हुआ 'इस प्रकार की जो प्रतीति होती है उससे यह सिद्ध होता है. कि उक्त प्रत्यभिज्ञा के विषय गाकारादि वर्ण नहीं है अपितु गकारादि अनित्य वर्णों में विद्यमान गत्वादि जातिरूप धर्म ही इस प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष का विषय है। इसीलिए किसी समय' यह गकार उस पूर्वानुभूत गकार का समानधर्मी (जातिवाला) है इस प्रकार (**स एवायं गकारः**) इस प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति हो जाती है। यदि इस प्रत्यभिज्ञा को जाति-विषयक न मानकर गकारादि व्यक्ति-विषयक मानें तो यह सम्भव ही नहीं होगा। इसका कारण यह है कि वर्ण एक व्यक्ति-रूप होने से तथा एक व्यक्तिमात्र-वृत्तिधर्म जाति न होने के कारण[२] उक्त प्रत्यभिज्ञा के जाति-विषयक होने से इसके आधार पर वर्णों की नित्यता सिद्ध नहीं की जा सकती। फलतः वर्णों की अनित्यता सिद्ध हो जाने के कारण इनसे घटित शब्द (पद) की भी अनित्यता सिद्ध हो जाती है।[३]

---

१. ननु कथं पदार्थसम्बन्धस्य नित्यत्वम्, वर्णानामनित्यत्वेन पदानामप्यनित्यत्वात् तथाहि -'वर्णा अनित्याः प्रयत्नानभिव्यंग्यत्वे सति प्रयत्नोत्तरमुपलभ्यमनानत्वाद्, घटादिवदित्यमुमानेनानित्यत्वम्।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० १३३, पङ्क्ति ३ से ५

२. एकव्यक्तिमात्रवृत्तिधर्मजाति नहीं होता। —द्रष्टव्य जातिबाधक-निरूपण, पृ० २३३

३. न च स एवायं गकार इति प्रत्यक्षरूपप्रत्यभिज्ञाबलेनाभिव्यंग्यत्वकल्पनमितिवाच्यम्।

नैयायिकमत-निराकरण

उक्त नैयायिक-मत का निराकरण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि वर्णों की अनित्यता सिद्ध करने के लिए नैयायिकों ने **'अनभिव्यङ्ग्यत्वे सति प्रयत्नोत्तरमुलपलभ्यमानत्वरूप'** हेतु के द्वारा जो अनुमान उपस्थापित किया है, वह अयुक्त है। वर्ण अनभिव्यङ्ग्य नहीं हैं तथा प्रयत्न से उपलभ्यमान भी नहीं हैं, अपितु ये नित्य होने के कारण इन्हें प्रयत्न से अभिव्यङ्ग्य ही माना गया है। अभिप्राय यह है कि प्रयत्न-द्वारा इन वर्णों की उत्पत्ति नहीं होती, अपितु उच्चारण रूप प्रयत्न से इनकी अभिव्यक्ति हो जाती है। अतएव इनमें अनभिव्यंङ्ग्य हेतु न होने के कारण इस (**अनभिव्यङ्ग्यत्व हेतु**) के आधार पर इनमें अनित्यत्व सिद्ध करने के लिए नैयायिकों ने जो अनुमान उपस्थापित किया हैं, वह असिद्ध होने से निरस्त हो जाता है वर्णों की नित्यता से शब्दों की नित्यता सिद्ध हो जाती है।[१] शब्दों की नित्यता निम्नलिखित अनुमान से भी सिद्ध हो जाती है।

१. शब्द नित्य हैं।

२. क्योंकि वे ध्वनि से भिन्न होते हुए श्रावण (श्रवणेन्द्रिय-गम्य) हैं।

३. जैसे शब्दत्व ध्वनि से भिन्न होते हुए संयुक्त-समवाय (संयुक्ततादात्म्य) सन्निकर्ष से श्रावण तथा नित्य है।

इसी प्रकार शब्द भी ध्वनि से भिन्न तथा श्रावण होने से इस अनुमान प्रमाण द्वारा इनकी नित्यता भी सिद्ध हो जाती है। इस तरह पूर्व पक्ष द्वारा उपस्थापित सभी आक्षेपों का निराकरण हो जाने से उक्त प्रत्यभिज्ञा तथा इस अनुमान-प्रमाण द्वारा शब्द की नित्यता की सिद्धि हो जाती है।[२]

उत्पन्नो गकारो विनष्टो गकार इति प्रतीत्या प्रत्यभिज्ञाया एव जाति-विषयत्वस्य कल्पनात्। अत एव कदाचिज्जातीयोयमिति प्रत्यभिज्ञोपपते। अन्यथेकव्यक्तिकत्वेन तज्जातेरभावात्तादृशप्रत्यभिज्ञानुपपत्तिः।'

—भाट्टचिन्तामणि पृ० १३३, पङ्क्ति ५ से १०

१. न अनभिव्यङ्ग्यत्वस्यासिद्धतया हेतोरसिद्धेः।
प्रयत्नाभिव्यंङ्ग्यत्वस्यैवाङ्गीकारात्।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० १३४ पङ्क्ति १ से २

२. नित्य : शब्दः ध्वनिभिन्नत्वे सति श्रावणत्वात् शब्दत्ववते।

—भाट्टचिन्तामणि पृ० १३६, पङ्क्ति १३ से १९

३. वेदाऽपौरुषेयत्व-विचार

मीमांसकों के समान वेदप्रामाण्यवादी होने पर भी नैयायिक मीमांसकों के अनुरूप वेदों को अपौरुषेय नहीं मानते, अपितु वेद ईश्वर द्वारा विरचित होने के कारण ही वे इनमें प्रामाण्य मानते हैं। इसके विपरीत मीमांसकों को ईश्वर-विरचित होने से वेदों का प्रामाण्य स्वीकृत नहीं है। इनके मतानुसार वेद नित्य तथा अपौरुषेय हैं इसलिए इनमें पुरुषनिष्ठ संशय, भ्रमादि-दोषों का लेश भी सम्भव नहीं है। वेद सम्पूर्ण रूप से दोष-रहित होने के कारण मीमांसक इनमें स्वतः प्रामाण्य मानते हैं।

पूर्वपक्षी (चार्वाक)-मत-निरूपण

मीमांसकों के वेदाऽपौरुषेयत्व के सिद्धान्त पर आक्षेप करते हुए पूर्वपक्षी चार्वाक कहते हैं कि वेदों में एक अक्षर के अनन्तर दूसरा अक्षर, एक ऋचा के बाद दूसरी ऋचा का होना इनके आनुपूर्वी (क्रम) रूप होने का द्योतक है तथा आनुपूर्वी (क्रम) का नित्य होना कदापि सम्भव नहीं है अतः अनुपूर्वी रूप वेद अनित्य हैं।

इसी प्रकार काठक, पैप्पलाद आदि नामों का वेद में उल्लेख होने के कारण ये वेद के रचयिता हैं ऐसा निश्चित हो जाता है अतः वेद अपौरुषेय न होकर पौरुषेय हैं। उनमें पुरुषनिष्ठ दोष-सम्बन्ध की सम्भावना बनी रहने से इनमें प्रामाण्य भी सम्भव नहीं है।[१]

वेद पौरुषेय (पुरुष द्वारा विरचित) हैं यह तथ्य निम्नलिखित अनुमान-प्रमाण से भी सिद्ध हो जाता है-

१. वेद अपने प्रागभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदक धर्म से युक्त हैं। (प्रागभाव के प्रतियोगी हैं, अर्थात् काठकादि द्वारा इनकी रचना होने के पूर्व इनका अभाव रहता है।) अतः उत्पत्ति शील होने से अनित्य तथा पौरुषेय हैं। (प्रतिज्ञा)

२. इनमें वाक्यत्व होने से (अर्थात् वाक्यरूप होने से)- (हेतु)

---

१. 'आनुपूर्वीरूपवेदानां नित्यत्वासम्भवात्काठकादिसमाख्ययातत्कर्तृकत्वनिश्चयाच्च पौरुषेयत्वं सम्भवति। पुरुषे च दोषसम्बन्धसम्भावनया न प्रामाण्यं सम्भवति।'
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० १३९, पङ्क्ति २ से ४

३. जहाँ जहाँ वाक्यत्व होता है वहाँ वहाँ उसके प्रागभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म भी विद्यमान रहता है अर्थात् जो वाक्य होते हैं वे सभी अपने प्रागभाव के प्रतियोगी होते हैं। जैसे महाभारत यह वाक्य रूप है तथा व्यास द्वारा इसकी रचना से पूर्व इसका प्रागभाव भी था। महाभारत में वाक्यत्व के साथ ही साथ प्रागभाव-प्रतियोगित्व भी है। (व्याप्ति सहित उदाहरण)

४. इसी प्रकार वेद भी वाक्यरूप होने से इनमें वाक्यत्व हेतु विद्यमान है। (उपनय)

५. अत: वे भी अपने प्रागाभाव के प्रतियोगितावच्छेदक (वेदत्व) धर्म से युक्त हैं। (निगमन)

इस प्रकार काठक कौथुम आदि पुरुषों द्वारा इनकी रचना होने से पूर्व इनका भी प्रागभाव रहता है। पुरुषों द्वारा विरचित होने से वेद पौरुषेय हैं।[१]

चार्वाकमत-निराकरण

पूर्वपक्ष द्वारा उपस्थापित वेद के पौरुषेयत्व-साधक अनुमान का निराकरण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि कोई भी सामान्य धर्म प्रागभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं बन सकता और चूँकि वेदत्व यह सामान्य धर्म है अत: उसे भी प्रागभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म मानना सम्भव नहीं है फलत: वेद के पौरुषेयत्व की सिद्धि के लिए वेद में प्रागभाव-प्रतियोगितावच्छेदक साधक पूर्वपक्षकृत अनुमान असिद्ध हो जाता है।

'नष्टो घटः' इस घट-ध्वंसाभाव में ध्वंस के प्रतिबन्धक के रूप में घट की तथा उससे प्रतिबध्य के रूप में ध्वंसरूप अभाव की उपपत्ति हो जाने से दोनों में प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव की उपपत्ति हो जाती है। ध्वंस रूप अभावस्थल में घटादि में विद्यमान घटत्वादि सामान्य-धर्म यद्यपि प्रतियोगितावच्छेदक बन जाते हैं, तथापि घट-प्रागभाव के स्थल में इस प्रागभाव के प्रतिबन्धक के रूप में घट की उपस्थिति नहीं होती। कारण यह है कि प्रागभाव-काल में जब प्रतियोगी विद्यमान ही नहीं है तब प्रतिबन्धक के रूप में भी उसकी उपस्थिति नहीं होती अत: घटादि के प्रागभाव-स्थल में प्रागभाव तथा घटादि में

---

१. तथाहि। वेद: प्रागभावप्रतियोगितावच्छेदकधर्मवान् वाक्यत्वाद्, भारतवदित्यनुमानेन पौरुषेयत्वम्। —भाट्टचिन्तामणि, पृ० १३९, पङ्क्ति ५ से ६

प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव की सङ्गति न होने के कारण घटत्वादि सामान्यधर्म प्रतियोगितावच्छेदक धर्म नहीं बन पाते।

इसी प्रकार वेदों में भी स्वकीय प्रागभाव-प्रातियोगितावच्छेदक धर्मत्व होना सम्भव नहीं है। जिस समय वेदों का प्रागभाव लिया जा रहा है, उस समय वेद विद्यमान ही नहीं रहते अत: वे प्रागभाव के प्रतिबन्धक न हो पाने से प्रागभाव तथा वेदों में प्रतिबध्य-प्रतिबन्धक-भाव की संङ्गति नहीं होती। इसलिए वेद जिस वेदत्व रूप सामान्य धर्म से युक्त हैं, उसका प्रागभाव-प्रतियोगितावच्छेदक धर्म होना नितान्त असम्भव है। वेदों में प्रागभाव प्रतियोगितावच्छेदक अनुरो धर्मवत्व के अनुरोध से पौरुषेयत्व-साधक पूर्वपक्षकृत अनुमान असिद्ध होने के कारण इस असिद्ध अनुमान द्वारा वेदों का पौरुषेयत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता।

नैयायिकमत-निरूपण

नैयायिक वेद को पौरुषेय मानते हैं। इनके मतानुसार वेद सामान्य पुरुष या काठकादि ऋषियों द्वारा भी प्रणीत नहीं है, अपितु नित्य, सर्वज्ञ, पुरुषश्रेष्ठ ईश्वर ही उनका रचयिता है। वेद नित्य, सर्वज्ञ ईश्वर की रचना होने के कारण नैयायिकों ने इसमें परत:-प्रामाण्य माना है।

वेदों में पौरुषेयत्व की सिद्धि के लिए नैयायिकों ने निम्नलिखित अनुमान उपस्थापित किया है-

१. वेदत्व (वेदनिष्ठ सामान्य धर्म) प्रागभाव-प्रतियोगिता का अवच्छेदक है। (प्रतिज्ञा)

२. कार्य (वेद) -वृत्ति धर्म होने से (हेतु)

३. तद्-घटत्व (किसी विशेष घटनिष्ठ घटत्व धर्म) के समान (उदाहरण)

अभिप्राय यह है कि पूर्वपक्षी चार्वाकों द्वारा उपस्थित पूर्वविवेचित अनुमान में 'घटत्व' प्रागभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं बन पाया था अत: इस अनुमान में घटत्व का उदाहरण न देकर 'तद्-घटत्व' को उदाहरण के रूप में उपस्थित किया गया है।

घटवान् भूतल में जैसे **'घटो नास्ति'** यह प्रतीति नहीं हो पाती उसी प्रकार' घट-प्रागभाव ' की भी प्रतीति नहीं होती। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार भूतल में विद्यमान घट का सामान्य धर्म घटत्व है, उसी प्रकार प्रतियोगी

घट का भी वही सामान्य धर्म होने से दोनों परस्पर भिन्न नहीं है, लेकिन तद्घट को प्रतियोगी मानने पर उसका प्रागभाव उपपन्न हो जाता है, क्योंकि तद्घट का प्रागभाव मानने पर उसका प्रतियोगितावच्छेदक धर्म तद्वत्वरूप धर्म-विशेष से युक्त (अवच्छिन्न 'तद्घटत्व' है जब कि भूतल में विद्यमान घट में 'घटत्व' ही सामान्य धर्म है। दोनों में भिन्नता होने से तद् घट् का प्रागभाव-प्रतियोगी होना सिद्ध हो जाता है। तद् घट यह कार्य है तथा उसमें तद्घटत्व यह सामान्य धर्म कार्यवृत्ति धर्म है तथा इस तद्घटत्वरूप कार्यवृत्ति धर्म से अवच्छिन्न (युक्त) होने से जैसे तद्घट प्रागभाव का प्रतियोगी हैं, वैसे ही वेद भी ईश्वर रूप पुरुष-निर्मित होने से कार्य हैं अत: उनमें कार्यवृत्ति वेदत्व-धर्म होने से वेद भी प्रागभाव के प्रतियोगी हैं अत: पौरुषेय हैं।[1]

इस अनुमान द्वारा वेद् में पौरुषेयत्व की सिद्धि प्रदर्शित करने के पश्चात् नैयायिक कहते हैं कि वेद पौरुषेय होने पर भी वेद-निरूपित कर्तृत्व हम मानवों में असम्भव होने से ईश्वर ही वेदों का कर्ता (रचयिता) है। वेद, ईश्वर रूप नित्य तथा सर्वज्ञ पुरुष द्वारा निर्मित होने के कारण पौरुषेय हैं तथा पौरुषेय होने से इनमें स्वत: प्रामाण्य नहीं है, अपितु नित्य, सर्वज्ञ, दोषरहित ईश्वर की रचना होने के कारण इनमें जो प्रामाण्य है, वह ईश्वर को अभिलक्षित करके ही है। वह परत: प्रामाण्य है।[2]

नैयायिकमत-खण्डनपूर्वक वेदाऽपौरुषेयत्व-सिद्धि-प्रदर्शन

पूर्वपक्षी नैयायिकों द्वारा वेदों में पौरुषेयत्व-साधक अनुमान का खण्डन करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि इस अनुमान में कार्यवृत्ति धर्मरूप हेतु से जहाँ वेद में प्रागभाव-प्रतियोगितावच्छेदक धर्मवत्व रूप साध्य की सिद्धि की जा रही है, वहीं सामान्य-धर्मत्व रूप हेतु से वेद में प्रागभावप्रतियोगितावच्छेदक के अभाव की भी सिद्धि हो जाती है अत: नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित अनुमान इस द्वितीय अनुमान से सत्प्रतिपक्षत्व रूप दोष से ग्रस्त हो जाता है फलत: इसके द्वारा वेद में पौरुषेयत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती।[3]

---

१. 'वस्तुतो वेदत्वं प्रागभावप्रतियोगितावच्छेदकं कार्यवृत्तिधर्मत्वात्। तद्घटत्ववदित्यनुमानेन वेदत्वस्यापि तथात्वात्। अतो वेदानां पौरुषेयत्वम्।'

—भाट्टचिन्तामणि, पृ० १४०, पङ्क्ति ४ से ६

२. 'तत्र चास्मदादीनां कर्तृत्वासम्भवाद्व्यासादिवदीश्वर एव कर्ता। अतो न स्वत: प्रामाण्यभित्ति:।' —भाट्टचिन्तामणि पृ० १४०, पङ्क्ति ८ से १०

३. न उक्तानुमानस्य वेदत्वं न प्रागभावप्रतियोगितावच्छेदकं सामान्यधर्मत्वादित्यनुमानेन सत्प्रतिपक्षितत्वात्।'। —भाट्टचिन्तामणि पृ० १४०, पङ्क्ति ११ से १२

द्वितीय अनुमान का स्वरूप इस प्रकार है-

१. वेदत्व प्रागभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं है- (प्रतिज्ञा)

२. सामान्य धर्म होने से - (हेतु)

३. घटत्व के समान (उदाहरण)

जो सामान्य धर्म होता है, वह प्रागभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं होता। 'घटत्व' यह सामान्य धर्म है, अतः वह (उक्त विवेचित प्रकार से) प्रागभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म नहीं है। ऐसे ही वेदत्व भी सामान्य धर्म है अतः वह भी प्रागभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म नहीं है। इस प्रकार इस अनुमान से नैयायिकों के द्वारा प्रतिपादित अनुमान सत्-प्रतिपक्षत्व रूप दोष से ग्रस्त होन जाने के कारण निरस्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त वेद से रहित कोई काल ही नहीं है अतः वेद का प्रागभाव भी असिद्ध है। वेदशून्य (वेदरहित) काल का अभाव निम्नलिखित अनुमान द्वारा सिद्ध हो जाता है-

१. पूर्वकाल वेदशून्य (वेदरहित) नहीं है- (प्रतिज्ञा)

२. (वह भी काल होने के कारण उसमें कालत्व होने से- (हेतु)

३. वर्तमान काल के समान- (उदाहरण)

जहाँ जहाँ कालत्व होता है वहाँ वहाँ वेदशून्यत्व नहीं होता। जैसे वर्तमान काल में कालत्व विद्यमान है तथा वेद के भी वर्तमान काल में विद्यमान होने से उसमें वेदशून्यत्व का अभाव है। इसी प्रकार पूर्वकाल भी काल है। तथा उसमें कालत्व हेतु भी विद्यमान है अतः उसमें भी वेदशून्यत्व नहीं है। अर्थात् पूर्वकाल में भी वेद विद्यमान थे।[१]

इसी प्रकार निम्नलिखित अनुमान द्वारा वेद अनादिकालीन हैं। इस तथ्य की भी सिद्ध हो जाती है-

१. पूर्वकालीन वेदाध्ययन गुर्वध्ययनपूर्वक अध्ययन था- (प्रतिज्ञा)

२. उसमें वेदाध्ययनत्व होने से- (हेतु)

३. इदानीन्तन (वर्तमान कालीन) वेदाध्ययन के समान (उदाहरण)

---

१. 'वेदशून्यकालाभावेन वेदप्रागभावासिद्धेश्च। तथाहि। पूर्वकालो न वेदशून्यः कालत्वाद्, वर्तमानकालवत्।' —भाट्टचिन्तामणि पृ० १४०, पङ्क्ति २१ से २३

जो वेदाध्ययन होता है वह गुरुमुखोच्चारणानुच्चारण रूप गुर्वध्ययन-पूर्वक अध्ययन होता है। इदानीन्तन (वर्तमान कालीन) वेदाध्ययन में वेदाध्ययनत्व हेतु है तथा आज भी वेदाध्ययन गुरुमुखोच्चारणानुच्चारण-रूप होने से इसमें गुर्वध्ययनपूर्वकत्व रूप साध्य भी है। इसी प्रकार पूर्वकालीन वेदाध्ययन में भी वेदाध्ययनत्व होने के कारण गुर्वध्ययन-पूर्वकत्व रहा है।

इस अनुमान से यह सिद्ध हो जाता है कि प्राचीन कालीन वेदाध्ययन भी गुरु के उच्चारण के पश्चात् उच्चारण रूप होने से गुर्वध्ययन-पूर्वक था। गुरु का तथा उसके गुरु का भी अध्ययन ऐसा ही था। वेदाध्ययन अनादि काल से प्रचलित होने के कारण तथा वेद का कोई रचयिता न होने से वेद अनादिकालीन हैं।[1]

वेदों में अपौरुषेयत्व की सिद्धि करने के लिए भाट्टचिन्तामणिकार ने निम्नलिखित अनुमान उपस्थापित किया है-

१. वेद पौरूषेय नहीं हैं। (अपौरुषेय हैं।)- (प्रतिज्ञा)

२. इनमें अस्मर्यमाणकर्तृकत्व होने से। (इनके कर्त्ता का स्मरण न होने से) - (हेतु)

इस अस्मर्यमाणकर्तृकत्व रूप हेतु से वेद में व्यतिरेक व्याप्ति द्वारा अपौरुषेयत्व की सिद्धि हो जाती है जो पौरुषेय होते हैं अर्थात् अपौरुषेय नहीं होते, उनके कर्त्ता का स्मरण रहने से उनमें अस्मर्यमाणकर्तृकत्व नहीं होता, किन्तु वेद में कर्त्ता का स्मरण न होने से अस्मर्यमाणकर्तृकत्व है अतः वेद पौरुषेय नहीं है, अपितु अपौरुषेय हैं, यह तथ्य सिद्ध हो जाता है।[2]

इस पर पूर्वपक्षी की यह आशङ्का है कि 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्व' हेतु जङ्गल में विद्यमान किसी ऐसे रूप में भी विद्यमान है जिसके कर्त्ता का किसी को स्मरण नहीं है। ऐसे कूपादि में भी इस हेतु से अपौरुषेयत्व का व्यभिचार होने से यह अनुमान दूषित है।

पूर्वपक्ष के इस आक्षेप का निराकरण करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते

---

१. पूर्वकालीनं वेदाऽध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकं, वेदाध्ययनत्वाद्, इदानीन्तनवेदाध्ययनवत्'
—भाट्टचिन्तामणि पृ० १४०, पङ्क्ति २३ से २४

२. वेदा न पौरुषेयाः, अस्मर्यमाणकर्कृकत्वादित्यनुमानेनापौरुषेयत्वसिद्धेश्च।'
—भाट्टचिन्तामणि, पृ० १४, पङ्क्ति २४ से २५

हैं कि जङ्गल में स्थित कूपादि के किसी विशेष कर्त्ता का स्मरण न होने पर भी चूँकि यह कूप है, अतः इसका कोई कर्त्ता अवश्य होगा, 'ऐसा सामान्य रूप से कूपादि के कर्त्ता का स्मरण हो जाने के कारण अरण्यस्थित कूपादि में अस्मर्यमाणकर्तृकत्वरूपी हेतु के विद्यमान न होने से इनमें अपौरुषेयत्व का व्यभिचार नहीं होता। इस प्रकार उक्त विवेचन से वेद अपौरुषेय हैं' यह तथ्य सिद्ध हो जाता है।[१] इसके अतिरिक्त वेदों का अपौरुषेय होना '**वाचा-विरूप नित्यया**[२]' इत्यादि श्रुतियों तथा' शिवादि ऋषियों तक सभी इसके स्मर्ता हैं कर्ता नहीं,[३] इत्यादि स्मृति वाक्यों से भी प्रमाणित हो जाता है।

वेदों के अपौरुषेय होने में प्रतिबन्धक आक्षेपों का निराकरण

वेदों के अपौरुषेयत्व की सिद्धि प्रदर्शित करने के उपरान्त वेद के अपौरुषेय होने में पूर्वपक्षियों द्वारा उपस्थापित अनुपपत्तियों का भाट्टचिन्तामणिकार ने समाधान क्रमशः प्रस्तुत किया है।

१. वेदों में काठक, कालापक कौथुम आदि की जो समाख्या (नामोल्लेख) हैं, उन्हें वेदकर्त्ताओं का नाम मानने में श्रुति तथा स्मृति से विरोध हो जाता है। उन्हें वेदकर्त्ताओं का नाम न मानकर वेद-प्रवचन करने वालों के ये नाम हैं, ऐसी कल्पना कर लेने से वेदों के अपौरुषेयत्व की उपपत्ति हो जाती है।[४]

२. इसी प्रकार '**अग्नेर्ऋग्वेदः**' इत्यादि श्रुतियों का भी 'अग्नि से ऋग्वेद उत्पन्न हुआ,' ऐसा अर्थ न मानकर 'अग्नि के द्वारा ऋग्वेद प्रकट हुआ' ऐसे अर्थ द्वारा वेदाऽपौरुषेयत्व की उपपत्ति की जाती है।[५]

३. इसके अतिरिक्त '**बबरः प्रावाहणिरकामयत**'[६] इत्यादि स्थलों में

---

१. नन्वसर्म्यमाणकर्तृककूपादौ व्यभिचारः, तत्रापि सामान्यतः कर्तृस्मरणात् अतः पौरुषेयत्वासम्भवादपौरुषेयत्वम्।' —भाट्टचिन्तामणि पृ० १४१, पङ्क्ति १ से २

२. वाचा विरूप-नित्यया। —भाट्टचिन्तामणि, पृ० १४१, पङ्क्ति २

३. शिवाद्यात्रृषिपर्यन्ताः स्मर्तारोऽस्य न कारकाः।' —भाट्टचिन्तामणि, पृ० १४१, पङ्क्ति ५

४. काठकादिसमाख्या तु श्रुति-स्मृतिविरोधात्प्रवचननिमित्तत्वेनोपपादनीया।' —भाट्टचिन्तामणि पृ० १४१, पङ्क्ति ६ से ७

५. अग्नेर्ऋग्वेद इत्यादि श्रुतिरिपि अग्निना ज्ञापिता इति व्याख्येया।' —भाट्टचिन्तामणि पृ० १४१, पङ्क्ति ७ से ८

६. तैत्तिरीय-संहिता ७/१/१०/२

अनित्य बबर, प्रावाहणि आदि का वेद के साथ जो संयोग है, वह संसार अनादि होने के कारण उनमें प्रवाह-नित्यता, मानकर वेदों में अनित्य-संयोग से जो पौरुषेयत्व होने की आपत्ति की गई थी, उसका स्वतः एव निराकरण हो जाता है।

प्रवाह-नित्यता क्या है? इसे स्पष्ट करते हुए भाट्टचिन्तामणिकार कहते हैं कि प्रवाह नित्यता सजातीय (समान) वस्तु के प्रागभाव (उत्पत्ति के पूर्वकालीन समय) में व्याप्त सजातीय (समान) वस्तु की ध्वंसक रूप है।[१]

अभिप्राय यह है कि संसार में एक समय में एक समान वस्तु के उत्पत्ति के समय उसी वस्तु के समान वस्तु का ध्वंस भी होता रहता है जैसे जिस समय एक गौ उत्पन्न होती है, उसी समय कहीं अन्य स्थान पर उस गौ के समान अन्य गौ का विनाश भी सम्भव है। अनादिकाल से उत्पन्न तथा विनष्ट होते हुए भी गौ आजतक विद्यमान है।

यद्यपि गौ इत्यादि वस्तुएं नित्य नहीं हैं, तथापि उनमें प्रवाह नित्यता अवश्य है। इसी प्रकार बबर आदि अनित्य वस्तुओं की भी प्रवाह नित्यता मानकर वेदों के अपौरुषेयत्व की उपपत्ति हो जाती है।

इसी तरह जिस प्रकार '**इयं गौ बहुक्षीरा**' (यह गाय अत्यधिक दूध देती है) इत्यादि वाक्य गौ आदि के प्रशंसापरक (अर्थवाद वाक्य) माने जाते हैं, उसी प्रकार '**सर्पाः सत्रमासत**' इत्यादि विपरीतार्थ-प्रतिपादक रूप में प्रतीत होने वाले वाक्यों को भी विधेय' याग के स्तुतिपरकवाक्य (अर्थवाद वाक्य) माना जाता है। इस प्रकार वेदों में अपौरुषेयत्व सिद्ध हो जाने से उनमें स्वतः प्रामाण्य भी सिद्ध हो जाता है।[२]

---

१. अनित्यसंयोगोऽपि प्रवाहनित्यतामादायोपपादनीयः। प्रवाहनित्यत्वञ्च सजातीयप्राग-भावसमयव्याप्तसजातीयध्वंसकत्वरूपम्।'

—भाट्टचिन्तामणि पृ० १४१, पङ्क्ति ८ से १०

२. 'यद्वा बहुक्षीरादिवाव्यवदसत्यकथादिना विधेयस्तुतिपरत्वेनोपपादनीया। अतोऽपौरुषेया वेदा इति सिद्धं वेदप्रामाण्यम्।

—भाट्टचिन्तामणि पृ० १४१, पङ्क्ति १० से ११

उपसंहार

सूत्रहार जैमिनि द्वारा द्वादश अध्यायों में सङ्कलित मीमांसा की विचार-धारा को दार्शनिकता की ओर उन्मुख करने का कार्य सर्वप्रथम शबर स्वामी ने किया। इनके द्वारा आरम्भ किये हुए कार्य की इस दिशा में कुमारिल भट्ट तथा गुरु प्रभाकर ने अपने अनेक मौलिक सिद्धान्त स्थापित करते हुए मीमांसा-दर्शन की विचार-धारा को पूर्ण रूप से दार्शनिक परिवेश प्रदान किया। इन दोनों महान् विचारकों की विवेचनात्क विचार-शैली से एक स्वतंत्र दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित 'मीमांसा की विचार-धारा को मण्डन मिश्र, शालिकनाथ, वाचस्पति मिश्र, पार्थसारथि मिश्र, भवनाथ, भवदेव भट्ट, माधवाचार्य तथा आपदेव जैसे धुरन्धर मीमांसकों ने अपनी तर्क-प्रधान विचार-पद्धति से विकसित तथा परिमार्जित तो किया, परन्तु प्रमाण-शास्त्र की कठोर कसौटी पर उसी (नव्य न्याय) की भाषा-शैली में उसी के प्रमाणों द्वारा मीमांसा-दर्शन के सिद्धान्तों की स्थापना करने का श्रेय मीमांसक-शिरोमणि गागाभट्टापरनामधेय श्री विश्वेश्वर भट्ट को प्राप्त हुआ है।

मीमांसा दर्शन में भाट्टचिन्तामणि ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है जिसे सम्पूर्ण रूप से नव्यन्याय की भाषा-शैली में निबद्ध किया गया है। नव्य-न्याय की भाषा एक ऐसी प्रायोगिक भाषा है, जिसमें किसी भी विषय का स्पष्टता के साथ असन्दिग्ध रूप से संक्षेप में विवेचन किया जा सकता है। इसी उद्देश्य से भाट्टचिन्तामणिकार ने नव्य-न्याय एवं वैयाकरण-सिद्धान्तों के साथ समीक्षात्मक रूप से मीमांसा-दर्शन के प्रतिपाद्य विषयों का संक्षेप में स्पष्ट रूप से विवेचन करने के लिए इस परिमार्जित भाषाशैली का आलम्बन कर अपने प्रगाढ़ वैदुष्य का परिचय दिया है।

नव्य-न्याय की भाषा-शैली के साथ ही भाट्टचिन्तामणिकार ने अनेक दार्शनिक-सिद्धान्तों का श्रुति-प्रमाण के साथ अनुमान-प्रमाण के आधार पर निरूपण करते हुए नव्यन्याय की तर्क-पद्धति का भी अनुसरण किया है जो इस ग्रन्थ की महत्त्वपूर्ण विशिष्ठता है।

सोलहवीं शताब्दी से १७ वीं शताब्दी तक शिरोमणि, मथुरानाथ तर्कवागीश, जगदीश तथा गदाधर भट्टाचार्य प्रभृति आचार्यों ने नव्यन्याय की तार्किक पद्धति को विद्वत्-समाज में पूर्णतः प्रतिष्ठित कर दिया था। नव्यन्याय की यह तार्किक पद्धति इस समय तक विद्वानों के वैदुष्य की कसौटी बन गई थी अतः १७ वीं शताब्दी के ग्रन्थकार ने इस सामयिक चुनौती को स्वीकार करते हुए दार्शनिक तथ्यों का तार्किक कसौटी की आधार-शिला पर नव्य-न्याय की भाषाशैली में सहजता के साथ विवेचन करते हुए नव्यन्याय एवं मीमांसा दोनों दर्शनों में अपने इस ग्रन्थ के लिए एक विशिष्ट आदरणीय स्थान बना लिया है।

ग्रन्थ के समग्र आलोडन से यह तथ्य स्वयं स्पष्ट हो गया है कि ग्रन्थकार ने केवल नव्यन्याय की भाषा-शैली तथा तार्किक-पद्धति का ही अवलम्बन नहीं किया है, अपितु स्वयं भाट्टसम्प्रदाय के मीमांसक होते हुए भी किन्हीं ऐसे स्थल-विशेषों में, जिनके विषय में मीमांसा एवं न्याय, दोनों में वैमत्य है, वहाँ दोनों दर्शनों के विचारों में कुशलतापूर्वक सामञ्जस्य स्थापित कर नव्यन्याय के प्रति अपनी आस्था भी प्रदर्शित की है। उदाहरण के लिए कुमारिल भट्ट ने जिन स्थानों पर नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित समवाय-सम्बन्ध को न मानकर तादात्म्य-सम्बन्ध माना है, उनमें ग्रन्थकार ने समवाय को स्वीकार किया है, लेकिन इसके स्वरूप का निर्धारण नैयायिकों के समवाय का न कर मीमांसकों के तादात्म्य का ही किया है। इस प्रकार दोनों दर्शनों में ग्रन्थाकार ने यहाँ पर सङ्गति प्रदर्शित की है।

इसी प्रकार ज्ञान-प्रामाण्य में जहाँ नैयायिक परतः प्रमाण्य तथा मीमांसक स्वतः प्रामाण्य मानते हैं, वहाँ पर इन्होंने वेदज्ञान में स्वतः प्रामाण्य तथा तदितर ज्ञानों में परतः प्रामाण्य मानकर न्याय एवं मीमांसा, दोनों के दृष्टिकोण में एक सामञ्जस्य स्थापित किया है। नव्यन्याय के प्रभाव से प्रभावित ग्रन्थकार के इस ग्रन्थ को संक्षेप में न्यायमीमांसा-समन्वय-बोधक ग्रन्थ कहना सर्वथा उपयुक्त होगा।

परिशिष्ट

१. उद्धृत वाक्य-सूची

उद्धृत वाक्य	उपजीव्य ग्रन्थ	ग्रन्थ पृ०सं०
'अग्नये स्वाहा'	तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१।४।१	१६९
'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'	मैत्रायणि उप-निषद् ३।६।३६	१३१
'अग्निहोत्रं जुहोति'	तैत्तिरीय संहिता १।५।९।१।१८	१३१
'अत्राभिधीयते यद्यप्यस्ति-मूलान्तरं न नः'	श्लोकवार्त्तिक, पृ०८७६	१०६
'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्'	पाणिनीय सूत्र १।२।४५	१५०
'अथाऽतो धर्मजिज्ञासा'	जैमिनि सूत्र १।१।१।	१२०
'अध्रिगुप्रैषान्तर्गत-दिशः श्रोत्रम्'	तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।५।६।	२२८
'अनद्यतने लङ्'	पाणिनि सूत्र ३।२।१११।	२०६
'अनद्यतने लुट्'	,, ,, ३।३।१५।	२०५
'अभिधाभावनामाहुः'	तन्त्रवार्त्तिक २।१। पृ० ३४४	२१४
'अव्यय-सर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः'	पाणिनि सूत्र ५।३।७१।	१५१
'अविनाशी वा अरेऽय-मात्मा'	बृहदारण्यक उपनिषद् ४।५।१४।	२५०
अर्द्धं नपुंसकम्	पाणिनीयसूत्र २।२।२।	१८०
अस्त्यादावपि धर्म्यंशे०	वैयाकरणभूषणसार धात्वर्थ-निर्णय कारिका १२	२०२

२. पारिभाषिक शब्दों का संग्रह

अनुबन्ध	ग्राहक
अनवस्था	अनन्त-कल्पना
अनुषङ्ग	अध्याहार
अन्यथाख्याति	विपरीत ज्ञान
अपरोक्ष-ज्ञान	प्रत्यक्ष-ज्ञान
अयोगोलक	लोहे का गोला
आख्यात	तिङ् प्रत्यय
आसत्ति	सन्निधि
आक्षेप	लक्षणा या अर्थापत्ति
चिकीर्षा	करने की इच्छा
जन्यतावच्छेदक	उत्पन्न कार्य का व्यावर्त्तक धर्म
तिरोहित	निलीन
निरूढ़ लक्षणा	लोकसिद्ध प्रयोग
परिक्षय	नाश
पक्षतावच्छेदक	साध्य के अधिकरण का नियामक धर्म
पीनत्व	मोटापा
प्रतियोगी	जिसका अभाव कहा गया हो वह व्यक्ति-विशेष
प्रतियोगितावच्छेदक	प्रतियोगिनिष्ठ उसकी प्रतियोगिता का नियामक धर्म
प्रतियोगिव्यधिकरण	१. प्रतियोगी से रहित अधिकरण-वृत्ति अभाव २. प्रतियोगी के अधिकरण में अवृत्ति अभाव ३. प्रतियोगी के अनधिकरण में वृत्ति अभाव

प्रत्यासत्ति	सन्निकर्ष
प्रमृष्टसत्तांक	जिसकी सत्ता विलीन हो गई है
प्रवर्त्तना	प्रवृत्युत्पादक धर्म
बदर	बैर, बनबैर,
'यूप'	यज्ञ में पशुबन्ध तथा देवोपस्थिति-व्यञ्जक स्तम्भ।
लक्ष्यतावच्छेदक	लक्ष्यनिष्ठ लक्ष्यता का नियामक धर्म
वाक्यशेष	अर्थवाद
विनिगमना	एक पक्ष-निर्णायक युक्ति
विपर्यय	भ्रम
वैलक्षण्य	विभिन्नता
व्यासज्यवृत्ति	उभयवृत्तिधर्म
शक्यतावच्छेदक	शक्ततावच्छेदक
समभिव्याहार	सहोच्चारण
समूहालम्बनज्ञान	अनेक विषयों का एक साथ होने वाला ज्ञान
साध्यतावच्छेदक	साध्यनिष्ठ साध्यता का नियामक धर्म
साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध	वह सम्बन्ध, जिससे साध्य अपने अधिकरण में रहता है।
हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध	वह सम्बन्ध, जिससे हेतु अपने अधिकरण में रहता है।
क्षेत्रज्ञ	जीवात्मा

३. सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकर्त्ता का नाम	प्रकाशन
१. अनुमान-गादाधरी	श्रीगदाधर भट्टाचार्य	चौखम्बा-प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, वाराणसी, सन् १९७०।
२. अर्थसंग्रह	श्री लौगाक्षि भास्कर	चौखम्बा - संस्कृत - सीरीज आफिस, द्वितीय संस्करण, वाराणसी, वि॰ सं॰ २०२१।
३. किरणावली	श्री उदयनाचार्य	दि एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता १९५६।
४. तत्त्व-चिन्तामणि	श्री गंगेश उपाध्याय	केन्द्रीय संस्कृत-विद्यापीठ, तिरुपति, प्रकाशन, तिरुपति, १९७३।
५. तन्त्रवार्तिक	श्री कुमारिल भट्ट	बनारस-प्रिंटिंग प्रेस एवं विद्याविलास प्रेस, बनारस, १९०३।
६. तन्त्ररहस्यम्	श्री रामानुजाचार्य	बड़ौदा सैन्ट्रल लाइब्रेरी-प्रकाशन, बड़ौदा १९२३।
७. तंत्र-रत्नावली सिद्धान्त	पं॰ अ॰ चिन्नस्वामी	का॰ हि॰ वि॰ वि॰ प्रकाशन, वाराणसी, १९४४।
८. न्याय-कुसुमाञ्जली	श्री उदयनाचार्य	भारतीय विद्या-प्रकाशन, वाराणसी, १९६८।
९. न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली	श्री विश्वनाथ पंचानन	चौखम्बा संस्कृत-सीरीज-आफिस, वाराणसी, सं॰ १९६१।
१०. प्रकरण-पंचिका	श्री शालिकनाथ मिश्र	का॰ हि॰ वि॰ वि॰ प्रकाशन, वाराणसी, सं॰ १९६१।
११. पातञ्जल योग-दर्शन	महर्षि पतञ्जलि	चौखम्बा प्रकाशन-वाराणसी, सं॰ १९७०।

१२. भाट्टचिन्तामणि-तर्कपाद	श्री गागाभट्टाऽपरनाम-धेय विश्वेश्वरभट्ट	चौखम्बा संस्कृत सीरीज-आफिस, वाराणसी, सं॰ १९३३।
१३. भामती	श्री वाचस्पति मिश्र	निर्णय - सागर - प्रेस मुम्बई, सं॰ १९१७।
१४. भारतीय दर्शन	दत्ता एवं चट्टोपाध्याय	पुस्तक - भण्डार, पटना - प्रकाशन, पटना, सं॰ १९५५।
१५. मीमांसा-दर्शन	महर्षि जैमिनि	विश्वभारती प्रेस, मथुरा, सं॰ १९७१।
१६. मीमांसा न्याय-प्रकाश	श्री आपदेव	चौखम्बा संस्कृत-सीरीज-आफिस, वाराणसी, सं॰ १९५५।
१७. वाक्यपदीयम् (ब्रह्मकाण्ड)	श्री भर्तृहरि	चौखम्बा संस्कृत-संस्थान तृतीय संस्करण, वाराणसी, सं॰ १९७५।
१८. विवरण प्रमेय-संग्रह	स्वामी विद्यारण्य	अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय, वाराणसी, सं॰ १८६६।
१९. वेदान्त-परिभाषा	श्री धर्मराजाध्वरीन्द्र	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सं॰ १९७७।
२०. वैयाकरण भूषणसार	श्री कौण्डभट्ट	चौखम्बा संस्कृत-सीरीज-आफिस, द्वितीय संस्करण, वाराणसी, वि॰ सं॰ २०२५।
२१. श्लोकवार्त्तिक	श्री कुमारिल भट्ट	चौखम्बा संस्कृत, ग्रन्थमाला-काशी, सन् १८९८।
२२. शास्त्रदीपिका	श्री पार्थसारथी मिश्र	विद्याविलास-प्रेस, काशी, सं॰ १९६४।
२३. सांख्यतत्त्वकौमुदी	श्री वास्चपति मिश्र	सत्यप्रकाशन, बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद, सं॰ १९६६।
२४. सिद्धान्त-कौमुदी	श्री भट्टोजि दीक्षित	निर्णयसार - प्रेस, मुम्बई, सं॰ १९४२।
25. Pūrvamīmāṁsā in its sources		B. H. U. Press, Varanasi, 1964.

पनयनम् अनुषङ्गाद्वाजिनमिवामिक्षार्थं दध्यानयनमाचार्यकं साधयति न तु तदर्थम् । तस्मान्नाचार्यकार्थतया ऽध्यापनस्य विधायकं वचनमस्ति । किञ्च न चालौकिकमाचार्यकम् उपनीय वेदाध्यापयितुराचार्यशब्दो वाचकः पाठकादिवत् । उपनीय तु यः शिष्यमित्यपि शब्दार्थप्रतिपादनपरमेव तेनाविद्यमानत्वादध्यापनविधेर्न तत्प्रयुक्तमध्ययनम् । अथापि विद्यादानेन सुमतिर्ब्रह्मलोके महीयत इत्यादिभिर्विद्यादानात्मकत्वादध्यापनमपि फलान्तरशेषतया विहितं भवेत्तथा ऽपि तत्र सर्वत्र नियोज्याश्रवणादधिकारमात्रस्य चाध्ययने ऽपि सद्भावाद्विचारस्यावैधत्वप्रसङ्गान्नाध्यापनविधिप्रयुक्तमध्ययनम् । कश्चित् पुनराह यद्यप्यध्ययनस्य स्वाधिकारेण प्रयुक्तिः सम्भवति तथा ऽपि नासावाश्रयितुं युज्यते तथा हि ।

ज्ञानं नाध्ययनस्य स्यात् स्वमहिम्ना प्रयोजकम् ।
तत्साध्यमग्निहोत्रादि तद्द्वारेण प्रयोजकम् ॥२९॥

न ह्यर्थज्ञानं स्वयमपुरुषार्थत्वादध्ययनस्य प्रयोजकं भवितुमर्हति । ज्ञानसाध्यानि त्वग्निहोत्राद्यपूर्वाणि तद्द्वारेण प्रयोजकानि भवन्ति न तु तेषां ज्ञानमङ्गं किन्तूपकारकमात्रम्[१] । आचार्यकस्य त्वध्यापनमङ्गमेवातस्तत्स्वाङ्गद्वारेणापि प्रयोजकत्वं लभते । अग्निहोत्राद्यपूर्वाणि तूपकारकद्वारेण । न चामिक्षावदङ्गद्वारेणापि प्रयोजकत्वलाभे सत्युपकारकद्वारेण वाजिनवत्प्रयोजकत्वं युक्तमङ्गीकर्तुं तस्मादध्यापनविधिप्रयुक्तमध्ययनमिति तदयुक्तम् । यद्यपि हि ।

न ज्ञानं कर्मणामङ्गं ज्ञानस्याध्ययनं मतम् ।
अङ्गं नाध्यापनस्यैतन्न तेनातः[२] प्रयुज्यते ॥३०॥

---

(१) उपकारकमात्रत्वादिति ३ पु. पा. । (२) तेनाङ्गमिति २ । ३ पु. पा. ।

यद्यपि न कर्माङ्गं ज्ञानम् अध्ययनन्तु ज्ञानाङ्गमेव तेन प्रयुज्यमानमध्ययनं शेषिप्रयुक्तमेव भवति न त्वध्ययनमङ्गम् अतस्तेन प्रयुक्तमध्ययनमुपकार्यमात्रप्रयुक्तं स्यात् न शेषिप्रयुक्तम् । तेन शेषिप्रयुक्तत्वे सम्भवति उपकार्यमात्रप्रयुक्तत्वमयुक्तमिति सुतरां स्वाधिकारप्रयुक्तमध्ययनं नाध्यापनप्रयुक्तम् । यद्यपि ज्ञानं स्वरूपेणापुरुषार्थस्तथाऽपि कर्मानुष्ठानौपयिकत्वात्पुरुषैरर्थ्यतएवेति पुरुषार्थत्वादध्ययनस्य प्रयोजकत्वं संभवत्याचार्यकवत् । तदपि हि स्वरूपेणानभिलषितं दक्षिणालाभसिद्ध्यर्थमेव पुरुषेणार्थ्यते । अतो यथा तस्य प्रयोजकत्वम् एवं ज्ञानस्यापि । न ह्यवश्यं स्वरूपेणैवार्थितं प्रयोजकमिति नियमः समस्ति । सुखसाधनपशुपुत्रादिवत् फलान्तरसाधनतया ऽर्थितस्य प्रयोजकत्वाविरोधात् । यद्यपि चाग्निहोत्राद्यपूर्वमेव ज्ञानद्वारेण प्रयोजकं तथापि तदेव युक्तं नाध्यापनं पुरुषान्तरगामित्वादध्येतृगाम्येव तु ज्ञानं वा तत्साध्यं वा ऽग्निहोत्रादि प्रयोजकमध्ययनस्य युक्तम् । यो ऽप्यङ्गद्वारेणाध्यापनविधेः प्रयोजकत्वमुपकारकद्वारेणाग्निहोत्रादीनामिति विशेषो ऽभिहितः सो ऽपि नास्ति । द्वयोरप्यङ्गत्वमुपकारकत्वञ्च द्वारमेव । तथा हि। अग्निहोत्राद्युपकारकत्वात्तज्ज्ञानं तदङ्गत्वाच्चाध्ययनं प्रयुङ्क्ते । आचार्यकन्त्वङ्गत्वादध्यापनं तदुपकारकत्वाच्चाध्ययनं प्रयुङ्क्ते इति क्रमभेदमात्रम् । नैतावता कश्चिद्विशेषः समानपुरुषगामित्वादग्निहोत्रादीनामेव प्रयोजकत्वं नाध्यापनविधेरिति । न चाग्निहोत्रादि प्रयोजकं ज्ञानमेव तु प्रयोजकमित्युक्तं तदेतद्विस्पष्टं प्रपञ्चयिष्यते । कथं चाचार्यकविधिः पुरुषान्तरगामी पुरुषान्तरकर्तृकमध्ययनं प्रयुञ्जीत । समानपुरुषगामिनो हि दर्शपूर्णमासादिविधयः कार्यतया प्रतीयमाना युक्तं यत्तस्यैव पुरुषस्य स्वसाधनेषु प्रयाजादिषु स्वसिद्ध्यर्थमनुष्ठानं प्रयुञ्जते । अन्य-

साध्यं तु कार्यमन्यस्य कथमिवानुष्ठापकं भवेत् न हि स्वकार्यसाधनादन्यत्र चेतनः प्रवर्तते ।

यद्यध्यापयितैवास्य स्वाधिकारप्रदर्शनात् ।
अनुष्ठापयिता तत्र स्वाधिकारप्रयुक्त[1]ता ॥ ३१ ॥

यद्युच्यते आचार्य एव स्वकार्यसिद्ध्यर्थमध्ययने माणवकं स्वाधिकारप्रदर्शनेन प्रवर्तयतीति । सत्यमेवं किन्तु तथा सति स्वाधिकार एव तत्र प्रयोजकः स्यान्नाध्यापनविधिः स्थपतीष्टेरिव स्वाधिकारः । सा ह्यनभिज्ञनिषादाधिकाराऽपि द्रव्यार्जनप्रवृत्तैर्ऋत्विग्भिरधिकारप्रदर्शनेन निषादेनानुष्ठाप्यमाना स्वाधिकारप्रयुक्तैव न द्रव्यार्जनप्रयुक्ता तथा ऽध्ययनमपि ।

पूर्वपक्षे न शक्यं स्यात् स्वाधिकारप्रदर्शनम् ।
नाध्यापनप्रयुक्तत्वमतस्तत्र प्रसिद्ध्यति ॥ ३२ ॥

भवतु वा ऽध्यापयित्रा स्वाधिकारप्रदर्शनेनाऽपि माणवकस्यानुष्ठाप्यमानस्याध्यापनप्रयुक्तत्वम् । न चैतदपि पूर्वपक्षे सम्भवति । न हि तत्र माणवकस्य कश्चिदधिकारो ऽस्ति । यत्प्रदर्शनेनासावध्याप्येत आचार्यकसिद्धिमात्रप्रयोजनत्वादध्ययनस्य पूर्वपक्षे। ननु नियोगसिद्ध्या पूर्वपक्षे ऽप्यधिकारः संभवति न अकार्यत्वात् । न हि माणवकस्य नियोगः कार्यः,येन तत्सिद्ध्या ऽधिकारः स्यात् अनियोज्यत्वात् । न ह्यनियोज्यस्य नियोगः कार्यः अतस्तत्सिद्ध्या नाधिकारसम्भवः । अथासत्यपि स्वाधिकारे सामादिनोपायान्तरेण कथञ्चिदध्याप्येत तथा सति विश्वजिदादीनामपि कथञ्चिदार्त्विज्ये प्रवृत्तैरेव ऋत्विग्भिः प्रवर्त्स्यमानेन यजमानेनानुष्ठानसम्भवाद् नानुष्ठानसिद्धये अधिकारसिद्ध्यर्थं नियोज्यपरिकल्पनं शक्यते । अथानर्थक्यान्नर्त्विजो यजमानमाह्व[2]यन्ति न ह्य-

[1] प्रयुक्तित इति २ पु. पा. [2] याजयन्तीति १ पु. पाठः ।

सावनधिकारी तेभ्यो दक्षिणां ददातीति तदत्रापि समानम् । न ह्य-ध्ययने ऽधिक्रियमाणो माणवको दक्षिणादानाद्याचार्यस्याचरति तल्लिप्सया ऽऽचार्यस्याचार्यकमिष्टम् । न ह्याचार्यकं पुरुषस्य स्वरूपेणाभिलषितम् । न च पूर्वपक्षे ऽध्ययनं माणवकमधिकरोतीति नाध्यापनेन प्रयुक्तिः सम्भवति । पक्षद्वयसाधारणी तत्प्रयुक्तिर्भवद्भिरिष्यते । विद्यादानेन सुमतिरित्याद्यपि पुरुषार्थज्ञानदानाभिप्रायम् । अन्यथा लौकायतिकशास्त्रार्थज्ञानदानमपि ब्रह्मलोकाय कल्पेत । न चाध्ययनस्य पूर्वपक्षे पुरुषार्थता ऽस्तीति न ब्रह्मलोकप्राप्तिफलविद्यादानविधिवशादपि तस्य प्रयुक्तिः सम्भवति । तत्सिद्धं नाध्यापनविधिप्रयुक्तमध्ययनमिति नैवं पूर्वपक्षोत्तरपक्षावुपपन्नाविति । "या ऽपि किमध्ययनस्याचार्यकमर्थज्ञानं वा प्रयोजनमिति चिन्ता साप्ययुक्ता । किमियं विधिगम्यस्य प्रयोजनस्य चिन्ता किं वा प्रमाणान्तरगम्यस्य । न तावत्प्रमाणान्तरगम्यमात्रं शास्त्रे चिन्तनीयम् उभयोश्च प्रमाणान्तरेणावगम्यमानत्वान्न चिन्तावसरः । न च विधिगम्यचिन्ता ऽपि सम्भवति न हि विधिर्नियोगार्थः" ।

तस्माद्वार्तिककारोक्ता गम्भीरा भाष्यसम्मता ।
स्वाध्यायविधिवाक्यार्थगोचरा नीतिरुच्यते ॥ ३३ ॥

स्वाध्यायो ऽध्येतव्य इत्यध्ययनावच्छिन्नभावना विधिप्रयुक्ता तव्यप्रत्ययेनाभिहिता तस्या भाव्यापेक्षायां समानपदोपात्तमप्यध्ययनमपुरुषार्थत्वादुल्लङ्घ्य पुरुषार्थरूपं किमपि भाव्यमपेक्षमाणा ऽवतिष्ठते । तत्र संदेहः । किं विश्वजिदादिन्यायेन स्वर्गो ऽस्या भाव्यः कल्प्यतामुताक्षरग्रहणादिपरम्परया साध्यमानं वाक्यार्थज्ञानमेव भाव्यमङ्गीकर्तव्यमिति । तत्र पूर्वः पक्षः ।

" " एतच्चिन्हगतो ग्रन्थो २ पु. नास्ति ।